योग सिद्धान्त

योग योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

परम विदुषी
प्रज्ञादेवी को हार्दिक
आशीर्वाद, पढ़ो व
योगिनी बनो।
चन्द्रमोहन
23-8-84
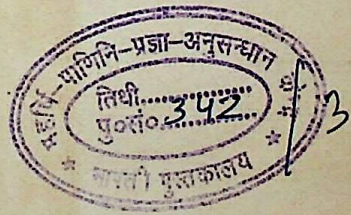
योग सिद्धान्त

(प्रथम खण्ड)

योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
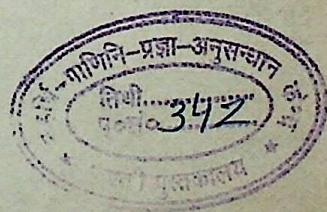
श्री सिद्धगुफ़ा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांईं – आगरा

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
ग्राम : सवांईं
आगरा, उ० प्र०

प्रथम संस्करण–१९८०

मुद्रक :
दि स्टार प्रेस
कानपुर–२०८००१

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्

तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः
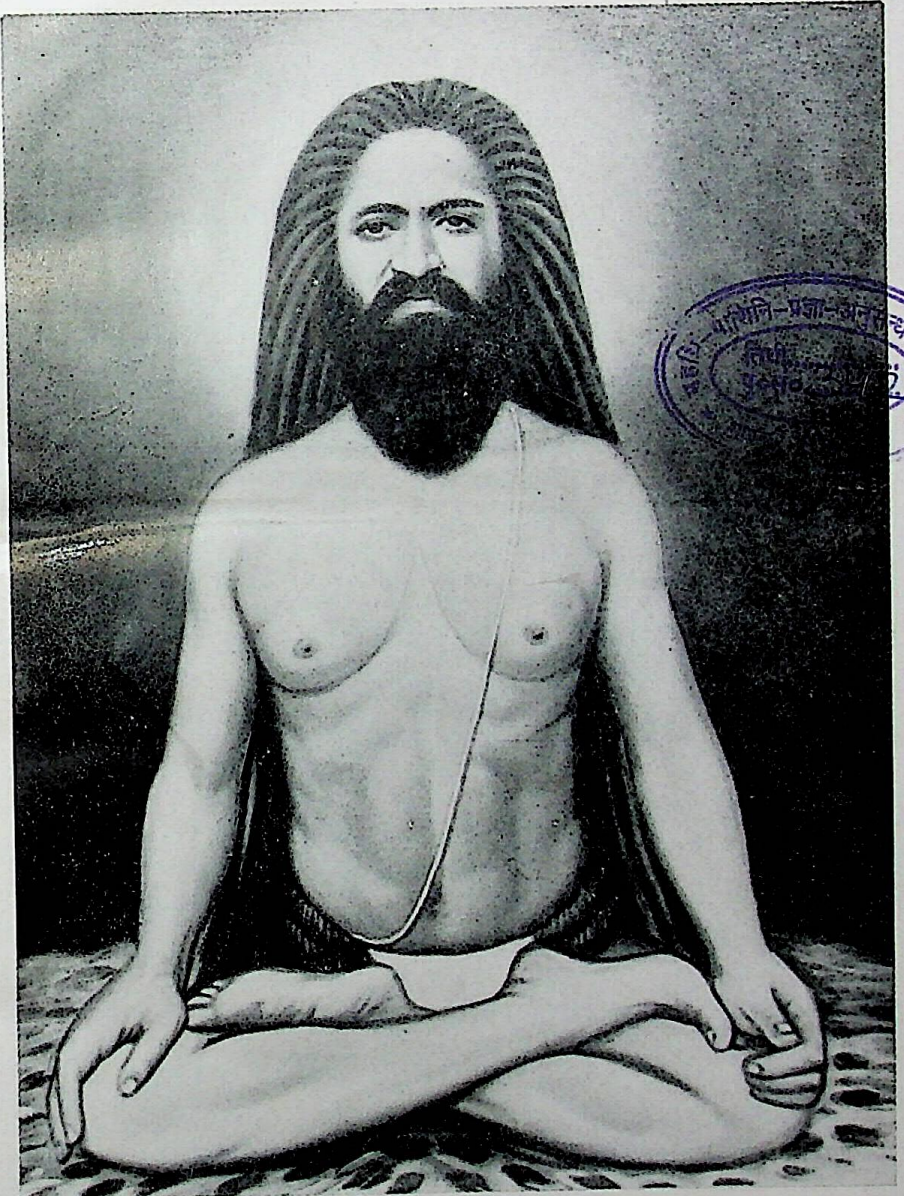
योग योगेश्वर अनन्त महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज

मेरे सद्‌गुरूदेव योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जिनकी कृपा से मैंने इस अमूल्य निधि को प्राप्त किया।

— चन्द्रमोहन

आमुख

जब से मैंने योगमार्ग में प्रवेश किया, आनन्दकन्द परम योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की शरण ग्रहण की एवं उनकी अद्भुत कृपाओं को अपने जीवन में अनुभव किया, एवं योग विद्या की महानता एवं उसके परमोत्कृष्ट सिद्धान्तों को समझा तभी से मन में निरन्तर यह भावना कायम रही कि मैं कोई ऐसी पुस्तक लिखूं जिसमें योग के परम उत्कृष्ट एवं उच्चतम सिद्धान्तों को सरलता के साथ समझाया जा सके। जिसको पढ़ करके देश-विदेश के सभी व्यक्ति इस विद्या के अमर सिद्धान्तों को समझकर अपने मनुष्य जीवन को सफल बना सकें। इसी भावना को हृदय स्थल में धारण करके मैंने इस ग्रन्थ को लिखना आरम्भ किया, जिसमें उन अन्तर्यामी की उर-प्रेरणाओं को प्राप्त करके योग विद्या के मूल सिद्धान्तों को समझ करके सरल हिन्दी भाषा में सर्वसाधारण के हितार्थ समझाने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि योग-विद्या एक ऐसी गहन विद्या है जिसका पार पा लेना एवं उसके आदि स्रोत तक पहुँच जाना, बहुत ही कठिन कार्य है फिर भी योगाचार्यों के एवं विशेषतः महर्षि श्री पतंजलि जी के सिद्धान्तों को पढ़कर, उन्हीं निर्भ्रान्ति अटल संशय रहित सिद्धान्तों को सर्वसाधारण के सामने लाने का प्रयत्न करते हुए सभी उपादेय सिद्धान्तों को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है–प्रत्येक खण्ड में सामग्री की विपुलता के आधार पर दो-दो भाग हैं।

मेरे विचार में, जो भी योग जिज्ञासु इस पुस्तक को गम्भीरता के साथ पढ़ने का प्रयत्न करेंगे, उनको अपने मनोनुकूल साधनायें अवश्य मिल ही जायेंगी। योग विद्या एक ऐसी विद्या है जिसके विषय में सभी आचार्य एक मत होकर कहते हैं कि– "यास्मिन ज्ञाते सर्वं मिदं ज्ञातं भवति" वही हमारी योग-विद्या है। इसलिए किसी सिद्धान्त के यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए योग-साधन-समाधि में प्रवेश करना ही समस्त साधकों के लिए परमावश्यक है। जब तक मनुष्य योगाभ्यास करता-करता सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा रूप अस्मितानुगते योग को प्राप्त नहीं होता और उसको स्फुट प्रज्ञालोक नहीं होता तब तक उसके सभी निर्णय अधूरे ही रहते हैं। प्रज्ञालोक हो जाने के बाद योगी को जब ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट होती है तभी वह सत्य सिद्धान्तों का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है और उसी स्थिति में पहुँच करके सर्वसाधारण

को निर्णय देने का अधिकारी बनता है। अन्यथा विना ऋतम्भरा प्रज्ञा के जो लोग सिद्धान्तों का कथन करते हैं उनके वह सिद्धान्त मनुष्यमात्र को पथ-भ्रष्ट करने वाले होते हैं और ऐसे ही व्यक्तियों के लिए—"अन्धेन नियमाना यथा अन्धा:" की उक्ति चरितार्थ होती है। इसलिए हर साधक को चाहिए हमारे पूर्वज ऋषि, मुनियों के सिद्धान्तों को पढ़े और उनका अनुगामी बने। वही सब सिद्धान्त इस पुस्तिका के अन्दर समावेशित करने का पूरा-पूरा यत्न किया गया है। विज्ञ लोग पुस्तक को पढ़ करके यथार्थ सत्यों का अनुगमन करें एवं अपनी दुर्लभ मानव देह को सफल बनावें यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

शेष शुभ।

चन्द्रमोहन

दिनांक
कार्तिक शुक्ला पंचमी
२६–१०–१९७९

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
श्री सिद्धगुफा,
सवाईं, जिला आगरा

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

योग योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित चन्द्रमोहन जी महाराज

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

भाग-१

योग के प्रकार और उपयोग

	विषय	पृष्ठ
१	मनुष्य जन्म की दुर्लभता	१
२	मनुष्य जीवन में दुःख क्या ?	५
३	दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का उपाय – योग	१३
४	योग के प्रकार और उपयोग	१७
५	दृश्य एवं उसका फल	२६
६	कर्माशय और भोग	३५
७	चित्तवृत्तियाँ एवं उनके लक्षण	३८
८	योग एवं वृत्तिसारूप्य	४६
९	योग का अधिकारी कौन ?	५०
१०	भव प्रत्यय और योग	५९
११	उपाय प्रत्यय और योग	६५
१२	अभ्यास और वैराग्य	६९
१३	मन की एकाग्रता के साधन	७५
१४	यमों की साधना	९४
१५	ब्रह्मचर्य व्रत	१०५
१६	नियमों की पवित्र साधना	१०८
१७	आहार शुद्धि	११६
१८	आसन क्या ?	१२०
१९	योगासन एवं ऊर्ध्वरेतसता	१२८
२०	शक्ति प्राप्ति का साधन – धारणा	१३२
२१	अन्तर्मुखता का साधन – मौन	१३६
२२	राजयोग	१३९
२३	शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधन	१४५
२४	वीतराग पुरुषों का ध्यान एवं उसका फल	१५४
२५	समाधि की परिभाषा	१६०
२६	चित्त के तीन परिणाम एवं समाधि	१७०

भाग-२

साधन-योग

	विषय	पृष्ठ
१	साधन-योग	१८३
२	क्रियायोग और उसकी साधना	१९३
३	पाँच क्लेश	२००
४	योगाङ्गों का अनुष्ठान एवं क्लेशनिवृत्ति	२०९
५	प्राणायाम एवं उसकी साधना विधि	२१२
६	प्राणायाम एवं त्रिवन्ध	२१८
७	अष्टविधि प्राणायाम	२२२
८	प्राणायाम का फल	२२८
९	प्राणायाम का अधिकारी एवं उसकी साधना-स्थली	२३३
१०	श्री पतञ्जलि का पुरुष विशेष	२३८
११	प्रणव महिमा	२४३
१२	प्रणव जप एवं अन्तराय निवृत्ति	२४८
१३	ईश्वर प्रणिधान	२५५
१४	इन्द्रिय जय की साधना एवं उसका फल	२५८
१५	भूतजय की साधना एवं उसका फल	२६१
१६	षट्चक्रों की साधना एवं उसका फल	२६७
१७	सहस्र दल कमल	२८५
१८	वैराग्य की साधना	२९१

[भाग - १]

।। योग के प्रकार और उपयोग ।।

पहला परिच्छेद

मनुष्य जन्म की दुर्लभता

हमारे उच्चतम विज्ञानवेत्ता सभी ऋषि-मुनियों ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता को गा-गा करके वतलाया है। सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास आदि-आदि उच्चतम सन्तों ने अपने अनुभव के आधार पर मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को समझा-समझा कर कहा, किन्तु मन्द प्रारब्धवश इस उच्चतम चेतावनी को कोई भी समझ नहीं पाता। संसार में मानव जन्मधारी प्रत्येक प्राणी मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर उन्मत्त दिखलायी दे रहा है। परम विरक्त सन्त श्री भर्तृहरि जी ने संसार की इस दशा को देखकर अपने हार्दिक उद्गार निम्नांकित श्लोक में कितने अच्छे ढंग से कहे हैं। पढ़ने से मालूम पड़ता है कि कलिकाल में मन्द प्रगति वाले मनुष्य की कैसी उन्मत्त दशा चल रही है।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं।
व्यापारैर्बहु कार्यभार गुरुभिर्कालो न विज्ञायते॥
ज्ञात्वा जन्म-जरा-विपत्ति-मरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद मदिरां उन्मत्तभूतं जगत्॥

अर्थात् रोज-रोज सूर्य के निकलने और छिप जाने से आयु का एक-एक दिन क्षीण होता जा रहा है। व्यापार और कार्यभार की अधिकता से समय का ज्ञान नहीं हो पाता। रोज-रोज मनुष्य जरा जन्म-मरण की सूचनायें पाता रहता है किन्तु फिर भी मन में कुछ भय उत्पन्न नहीं होता, वह मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर पागल सा हुआ घूम रहा है। यही कारण है अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म, मदान्धों की तरह बीतता चला जा रहा है। किन्तु इसकी दुर्लभता की चेतावनी का स्मरण किसी को नहीं हो पाता।

मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ क्यों ?

हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है––अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता के आठवें अध्याय के पाँचवें और छठे श्लोक में एक सिद्धान्त का निरूपण किया है। जो इस प्रकार है:––

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः॥

अर्थात् अन्तिम समय में मेरा स्मरण करता हुआ जो शरीर त्यागता है वह मेरे को पा जाता है। इसके अतिरिक्त यह निश्चित सिद्धान्त की वात वतला दी कि—अन्तिम समय में जिन-जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है उन-उन भावों की प्रेरणा से वह मनुष्य वैसी-वैसी गति को प्राप्त हो जाया करता है इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रख करके भगवान् कृष्ण अर्जुन को यह आदेश भी देते हैं कि:—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

अर्थात् उपरोक्त सिद्धान्त पर नजर रखते हुए हे अर्जुन ! तू हर समय मेरा स्मरण करता हुआ लड़ाई कर। ताकि प्राण विमोक्ष का कोई समय आ भी जाय तो अन्तिम मति के अनुसार तू मुझको पा जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तिम क्षणों में जिन-जिन भावों का स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है वैसी ही गति को पा जाना उसके लिए अनिवार्य है। हमारे प्राचीन इतिहास में उदाहरण रूप से इस प्रकार की वहुत सी घटनायें मिलती हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में महामुनि जड़ भरत का उपाख्यान मिलता है। वे एक महान् तपस्वी योग-ध्यान-परायण मुनि थे। उन्होंने आश्रम में एक मृग के वच्चे को पाल लिया, जिसका परिणाम यह निकला कि प्राण-प्रयाण के अन्तिम क्षणों में भी उनको उस मृग शावक की याद आती रही जिससे वे मृगी के पेट में जा गिरे, जिसका उन्हें वड़ा भारी दुःख हुआ और उसका कारण अन्तिम समय में मृग-वच्चे का चिन्तन ही समझा। इसी दृढ़ धारणा को लेकर उन्होंने शुभ गति पाने के लिए अपने मृग-शरीर का परित्याग कर दिया।

एक और सच्ची घटना

आदरणीय ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी महाराज मेरे वड़े गुरुभाई थे, वे ऊंची स्थिति के महात्मा थे। उनको अपने ध्यान योग के प्रभाव से अतीतानागत ज्ञान की योग्यता थी। एक वार उनके मन में यह विचार पैदा हुआ कि वे अपनी माता की गति को जानें उनका जन्म कहाँ हुआ है, इन्हीं भावों का चिन्तन करते हुए वे ध्यानस्थ हो गये। ध्यानलीन हो जाने पर वे अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि किसी मछियारे की एक छोटी सी लड़की हाथ में कुछ मछलियाँ उठाये आ रही है। ज्योंही उन्होंने उस वालिका को देखा त्योंही ध्यान में ही आकाशवाणी हुई कि बेटा यह तेरी माँ है, इसको देख ले। यह सव दृश्य देखकर श्री ब्रह्मचारी जी को वड़ा ही आश्चर्य हुआ कि मेरी माता की ऐसी गति क्यों हुई ? उन्होंने ध्यानाभ्यास से उठकर अपना यह सब अनुभव प्रत्यक्ष में श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों में (योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के चरणकमलों में) निवेदन किया कि मैंने अपनी माता की ऐसी गति देखी है, इसका क्या कारण है ? श्री प्रभु

जी ने कहा—हमें क्या पता, तेरी माता को अन्तिम समय में मछलियों का स्मरण हुआ होगा। इस विषय में तुम अपनी वहिन रुक्मणी देवी से पूछो कि तुम्हारी माता की मृत्यु किस रोग के कारण और कैसे हुई थी ? उससे तुम्हें पता चल जायेगा कि उसका अन्तिम चिन्तन क्या रहा था, जिसके कारण उसका जन्म मछियारे के घर में हुआ। श्री ब्रह्मचारी जी ने अपनी वहिन रुक्मणी देवी से जाकर पूछा—वहिन ! माँ की मृत्यु कैसे हुई थी ? उसने उत्तर दिया—–भाई ! मृत्युकाल में माँ के पेट में बड़ा भारी अफारा (उदराध्मान) हो गया था। हम लोगों ने वड़े-वड़े इलाज कराये, किन्तु उनसे किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ। अन्त में एक डाक्टर ने बतलाया कि यदि उनको मछली का तेल पिला दिया जाय तो उनके पेट का तनाव कम हो जायेगा और जीवन वच सकता है। डाक्टर के ऐसे आदेश को पाकर मछली का तेल लाने के लिए काफी कोशिश की गई, किन्तु सफलता नहीं मिल सकी। वह वार-वार मछली के तेल को याद करती रहीं एवं इसी चिन्तन में उसके प्राण निकल गये। श्री ब्रह्मचारी जी की समझ में आ गया कि बात ठीक ही है—

यं यं वापि स्मरन्भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय, सदा तद्भाव-भावितः ॥

हमारा यह मनुष्य लोक रजोगुण प्रधान है। मनुष्य अपना सारा जीवन इधर-उधर के कार्यकलापों में व्यतीत किया करता है। शरीर जर्जरीभूत हो जाता है, नाड़ियाँ फूल जाती हैं। प्रायः हर व्यक्ति का अन्तिम समय वहुत ही दुःखमय होता है। प्राणों के निकलते समय वह केवलमात्र दुःख का चिन्तन करते हुए ही देह त्याग करता है। अन्तिम समय कष्ट होना पापकर्म का भोग होता है। क्लिष्ट संस्कारों के भोग-भोगते हुए क्लेशात्मक चिन्तनों के कारण वह इस मनुष्य शरीर को छोड़कर दुःख देनेवाली निकृष्ट योनियों को प्राप्त हो जाता है, वे सवकी सब भोग योनियाँ होती हैं। शुभ चिन्तन का उन योनियों में मौका ही कहाँ हो सकता है ? अतः एक योनि छोड़कर दूसरी, दूसरी छोड़कर तीसरी, इसी प्रकार क्रमशः भोग योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं। वहुत ही कठिनता से पुनः जव कोई पुण्यकाल का उदय होता है तो मनुष्य-जन्म मिल पाता है। कैसा मिलेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। मनुष्य-जन्म मिल तो गया, किन्तु मिला किसी हत्यारे के यहाँ, शराबी-कवाबी के यहाँ, चोर और डाकुओं के यहाँ तो उस मनुष्य जन्म का क्या फायदा ?

अथवा मनुष्य-जन्म प्राप्त कर लेने के बाद कोई घोर रोग लग गया तो भी क्या लाभ ? उत्तम तो यही है :—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवर–गृहं, यावच्च दूरे जरा ।
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता, यावत्क्षयो नायुषः ।।
आत्मश्रेयसि तावदेव, विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् ।
प्रोदीप्ते भवने च कूपखननं, प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।

अर्थात् जव तक यह शरीर स्वस्थ है और बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं हुई है तव तक अपने भले का प्रयत्न कर लेना चाहिए। घर में आग लग जाने के वाद कुआँ खोदने का पुरुषार्थ व्यर्थ है। अतः मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह मनुष्य-जन्म की दुर्लभता को समझे और जो भी शुभ कार्य वह कर सकता है, करे, मनुष्य-जन्म कर्म-योनि है, इसमें कर्म किया जा सकता है। अन्य सव भोग योनियाँ हैं, उनमें अपने भविष्य-निर्माण के लिए कुछ भी नहीं किया जा सकता। अतः मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता को समझकर अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए।

मनुष्य-जीवन एक प्रकार की परीक्षा-भूमि है। परीक्षा-पत्र अच्छे हो गये तो परिणाम शुभ निकलेगा। अतः मनुष्य-जन्म की दुर्लभता रूप चेतावनी को स्मरण रखना चाहिए।

———

दूसरा परिच्छेद

मनुष्य जीवन में दुःख क्या ?

संसार में जन्म लेने वाला हर एक प्राणी दुःखनिवृत्ति के लिए हर समय प्रयत्नशील रहा करता है, किन्तु उसको पूर्णरूपेण यह ज्ञान नहीं होता कि दुःख किस वस्तु का नाम है। दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है यह वात हर व्यक्ति तथ्य रूप से समझ ही नहीं पाता। विवेकी पुरुष के लिए तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी क्रिया-कलाप दुःख रूप ही है। अपने से हम जिन विषयों को सुख के लिए स्वीकार करते हैं, परिणाम में उनका स्वरूप दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। महर्षि पतंजलि देव जी के शब्दों में :—

परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव विवेकिनः।

परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्ति विरोधादि के कारण विवेकी पुरुष के लिए यह सारा संसार दुःखमय ही है।

सूत्र का अर्थ अधिक स्पष्ट करते हुए व्यासदेव जी इस पर अपना भाष्य इस प्रकार लिखते हैं :—

परिणामदुःखता:—न चेन्द्रियाणाम् भोगाभ्यासेन वैतृष्णं कर्तुं शक्यम्। कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति। तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति। स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दृष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपंके निमग्न इति एषा परिणामदुःखता।

इन्द्रियों को भोगाभ्यास से वितृष्ण करना संभव नहीं हो सकता। भोगाभ्यास से इन्द्रियों के राग और चपलतायें उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। इसलिए भोगाभ्यास सुखप्राप्ति का साधन नहीं है। जिस प्रकार एक मनुष्य बिच्छू के विष से डरा हुआ सर्प विष से डसा जाय तो वह बृश्चिक विष की अपेक्षा और भी अधिक दुःखसागर में पड़ जाया करता है। क्योंकि इस प्रकार के उपायों से इन्द्रियों के राग शान्त नहीं होते। भगवान् मनु महाराज ने मनुस्मृति में स्पष्ट कहा है कि :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

अर्थ—इन्द्रियों के राग भोगाभ्यास से शान्त नहीं होते प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से वह और अधिक भड़क उठती है इसी प्रकार विषयोपभोग से इन्द्रियों के राग भी उत्तरोत्तर वढ़ते ही रहते हैं। इसलिए संसार के सभी भोग परिणाम में दुःख के ही दाता हैं। भर्तृहरि जी के शब्दों में :—

> भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं—वित्ते नृपालाद्भयं,
> मान्ये दैन्यभयं वले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
> शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं,
> सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।

भोगों में रोग का भय, ऊँचे कुल में पतन का भय, धन-दौलत होने पर राजा का भय, मान में दीनता का भय, वलवान होने पर शत्रु का भय, तथा सुन्दरता में वृद्धावस्था का भय वना रहता है। इस तरह संसार की सभी वस्तुएं मनुष्य के लिए भयपूर्ण हैं। इसी का नाम परिणामदुःखता है।

ताप दुःखता

तापदुःखता को समझाने के लिए श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं :—

सर्वस्य द्वेषानुविद्धश्चेतनाचेतनसाधनाधीनः तापानुभव इति, तत्रास्ति द्वेषजः कर्माशयः। सुख साधनानि च प्रार्थयमानः कायेन वाचा मनसा च परिस्पन्दते, ततः परमनुगृहणात्युपहन्ति चेति परानुग्रहपीडाभ्यां, धर्माधर्माबुपचिनोति। स कर्माशयो लोभान्मोहाच्च भवतीत्येषा तापदुःखतोच्यते।

अर्थ—चित्त में इन्द्रियों के राग-द्वेष पैदा होते रहा करते हैं। जब किसी मनुष्य को कामापिघात होता है तो कामना पूर्ण न होने पर उसके मन में एक गहरी जलन हो जाती है। इसी का नाम तापदुःखता है। यह दुःख भी परिणाम दुःख की तरह ही संसार के मनुष्यों को अनवरत होता रहता है। संसार में अधिकांश लोग मानस ताप से तपते रहा करते हैं।

संस्कार दुःखता

जिस समय सुख-संस्कारों का भोग-काल उपस्थित होता है उस समय सुख-संस्कार ही अधिकांशतया सन्मुख आया करते हैं। इसके अतिरिक्त क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कार सदैव परस्पर एक दूसरे से अभिभूत रहा करते हैं। प्राणी जिन संस्कारों में सुख का

अनुभव करता है उस समय उसकी वह सुखसंस्कारानुभूति है, किन्तु यह अनुभूति सदा कायम नहीं रहती। क्योंकि 'चलं हि गुणं वित्तं' इस शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार गुण वित्त चल है। तमोगुण के शान्त होने पर रजोगुण व सतोगुण उदित होते रहते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि सुखसंस्कारोपभोग वाला व्यक्ति हमेशा ही सुखसंस्कारोंका अनुभव करेगा। सुखसंस्कारों का भोगकाल समाप्त हो जाने पर उनकी स्मृति ही दुःखों का जनक वन जायेगी।

सहज दुःखता

मनुष्य जन्म लेने के वाद मृत्यु पर्यन्त तरह-तरह के दुःखों का अनुभव करता रहता है जिसमें आध्यात्मिक दुःख प्रमुख है।

'आत्मानं स्वसंघातमधिकृत्य वर्तत इत्याध्यात्मिकम्, तच्च द्विविधम् शारीरं मानसं च, शारीरं व्याध्यादि जनितं मानसं कामादिजम्।'

अर्थात् आत्मा के स्वसंघात को अधिकृत करके जो दुःख आता है वह आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। वह भी हमारे शास्त्र में दो प्रकार का माना है—शरीर से सम्वन्ध रखने वाला और मन से सम्वन्ध रखने वाला। शरीर और मन से सम्बन्ध रखने वाले दुःख संसार में हजारों प्रकार के देखने में आते हैं जिनसे ग्रस्त होकर मनुष्य अपने जीवन काल में भी मृतक के समान ही रहा करता है तथा उसी के आघात से मृत्यु को भी प्राप्त होता है।

हमने अपने योग-प्रचार के कार्यक्रमों में वहुत से इस प्रकार के दुःखी लोग देखे हैं जो हाय! हाय! करते हुए मौत को हर समय पुकारते थे। दमे के रोगी, तपेदिक के रोगी, हिस्टीरिया के रोगी, कैंसर के रोगी अपने जीवन के दिनों को अंगुलियों पर गिनते रहते हैं किन्तु गहरे दुःख को भोगते हुए भी वे लोग कठिन कर्म-विपाकवश काल पुरुष को सामने नहीं देखते, थोड़ी वहुत भी जब दुःख निवृत्ति दिखायी देती है तभी उनको सांसारिक उलझनें तत्काल घेर लेती हैं और उन उलझनों को सुलझाते-सुलझाते वे काल के ग्रास वन जाते हैं।

एक उदाहरण

जिस समय हमने सवांई ग्राम में आकर योग-प्रचार का कार्यक्रम आरम्भ किया उसी समय की एक ब्राह्मणी की घटना हमें रह-रहकर स्मरण आती है। वह रोगी श्वास रोग के घोर कष्ट से पीड़ित थी। उसका पति उसे इलाज के लिए हमारे आश्रम में लाया।

ज्योंही वह उसे घोड़ी से नीचे उतारने लगा उसी समय उसके शरीर पर श्वास रोग का घात हुआ और देखते ही देखते वह मृत्युकाल के समान लम्बे-लम्बे श्वास लेने लगी।

उसकी वह दशा वड़ी ही दयनीय थी और आँखों से देखी नहीं जाती थी। करुण-क्रन्दन हो रहा था। उसके पतिदेव के मन में यह भावना थी कि या तो इसका तत्काल ही प्राणान्त हो जाय अन्यथा किसी प्रकार इस व्याधि की निष्कृति हो जाय। अस्तु! उसे बचाने का यत्न किया गया और कई घंटों के वाद वह देवी अपनी सहज स्थिति में आ गयी। जब वह अपनी चेतना को पा गयी तो हमने उससे पूछा—यदि ईश्वरानुग्रह से तेरा यह रोग हट जाय तो क्या तू उसका स्मरण किया करेगी? उसने हौंसले के साथ उत्तर दिया—हाँ महाराज जी! यदि जिन्दगी वच गयी तो संसार में और काम ही मुझको क्या है? उसके सद्भावों को देखकर हमने यौगिक-चिकित्सा द्वारा उसका उपचार कराया और वह विल्कुल स्वस्थ हो गयी।

कुछ समय वाद उसने वड़े आग्रह के साथ मुझे अपने घर पर आमन्त्रित किया। वहाँ जाकर मैंने देखा कि वही बुढ़िया अपने घरेलू कार्यों में इतनी व्यस्त है कि उसे १० मिनट भी वात करने की फुरसत नहीं थी। उसके आँगन में एक खटिया पड़ी थी जो बीच से कटी थी। उसमें वह ६ साल तक अनवरत पड़ी रही और कटी हुई खाट का वह छिद्र ही उसके मल-मूत्र त्याग का एक साधन था। जब मैंने उससे पूछा—देवी! क्या तू ईश्वर का थोड़ा वहुत चिन्तन करती है? तो उसने कहा—महाराज जी! मेरी दो दोहती हैं, इनकी शादी कर देने के उपरान्त मैं ईश्वर का भजन ही किया करूंगी। उसके बाद मेरा कोई काम शेष नहीं रहेगा। बेचारी बुढ़िया लड़कियों की शादी का स्वप्न देखती रही और देखते-देखते ही स्वयं काल का ग्रास वन गयी।

इस प्रकार कामादि विकारों के अन्दर मनुष्य जीवन भर सुखस्वप्न देखा करता है किन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि यह एक विषैला काँटा है। काल उसे किसी भी समय खा सकता है।

आधिभौतिक दुःख

"व्याघ्रादीन् लक्ष्यीकृत्य जायत इत्याधि भौतिक दुःखम्।" व्याघ्र, शेर आदि हिंसक जानवरों तथा सर्प, विच्छू आदि विषैले जन्तुओं से पैदा होने वाला दुःख आधि-भौतिक दुःख कहलाता है। यह दुःख भी मनुष्य पर हर समय हाबी रहता है। कह नहीं सकते कि किस समय प्राणी इस दुःख से आक्रान्त होकर संसार से विदा हो जाय।

आधिदैविक दुःख

"देवानामधिकृत्य जायत इत्याधि दैविकं।" देवों के अधिकार पूर्वक मनुष्य को जो दुःख प्राप्त होते हैं वे आधिदैविक दुःख कहलाते हैं। ग्रह-नक्षत्रादि की पीड़ाओं से एवं

गर्मी-सर्दी आदि से जो दुःख होते हैं वे सभी दुःख आधिदैविक माने जाते हैं। इनसे प्रायः प्रत्येक व्यक्ति आक्रान्त रहता है किन्तु वह इन दुःखों को सहने का इतना आदी वन जाता है कि कालान्तर में वह इन दुःखों को दुःख ही नहीं समझ पाता।

गुणवृत्ति विरोध का दुःख

इससे पूर्व कुछ दुःख परिणामी वताये गये, कुछ तापज वताये गये, कुछ संस्कारोद्भूत वताये गये और कुछ का आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक रूप से वर्णन किया गया। उपरोक्त दुःख प्रायः सभी प्राणियों में व्याप्त रहते हैं, किन्तु गुणवृत्ति विरोध का दुःख इस प्रकार का है जो वड़ों और छोटों में, पिता और पुत्र में, भाई और वहिन में, गुरु और शिष्य में, पति और पत्नी में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त दिखायी देता है। गुणवृत्ति विरोध का अर्थ है—परस्पर स्वभाव का न मिलना।

पिता सात्विक वृत्ति का है किन्तु पुत्र रजोगुण प्रधान है। अतः परस्पर स्वभाव नहीं मिलता। पुत्र प्रहलाद आदि की तरह सतोगुण प्रधान है जव कि पिता हिरण्यकश्यप की तरह तमसाभिभूत है। यहाँ भी स्वभाव नहीं मिलता। यही नियम भाई-वहिन, पति-पत्नी आदि पर भी सामान्य रूप से लागू होता है। इसी गुणवृत्ति विरोध के फल-स्वरूप संसार के सभी प्राणी आज तक कभी भी एकमत नहीं हो पाये और न कभी हो ही सकते हैं।

इस प्रकार विवेकख्याति प्राप्त पुरुष के लिए सारा संसार दुःखमय ही है। मनुष्य को क्षुधा लगती है किन्तु क्षुधा निवृत्ति का साधन अन्न उसे प्रारब्धानुरूप उदरपूर्ति के लिए प्राप्त हो जाता है, जिससे उसे यह ज्ञान ही नहीं हो पाता कि भूख लगना भी एक दुःख है। उसे प्यास सताती है, किन्तु पिपासा निवृत्ति का साधन सुमधुर जल हर जगह सुलभ है। अतः मनुष्य सोच भी नहीं सकता कि पिपासा भी एक दुःख ही है, किन्तु विवेकख्याति प्रधान विशुद्ध मन वाले योगी के लिए यह सव दुःख ही दुःख है। उपर्युक्त पंक्तियों में संसार में होने वाले दुःखों का दिग्दर्शन कराकर यह समझाया गया है कि संसार का हर क्रिया-कलाप हर क्षण दुःख रूप ही है।

यहाँ अभी तक उस दुःख का वर्णन नहीं किया गया है जिसकी निवृत्ति के लिए मनुष्य दृढ़ प्रतिज्ञ होकर जन्म लिया करता है। उस दुःख का नाम जन्म और मरण है। मनुष्य अपने जीवन काल में हर प्रकार के दुःखों का अनुभव करता रहता है, कित्तु सूर्य की रोशनी उसको दीखती है, वायु का सुखद स्पर्श उसको अनवरत हुआ करता है। अतः जीवन काल के कठिन दुःखों का अनुभव करके भी वह अपने आपको दुःखी नहीं समझता। क्योंकि उसको सुख के श्वास आ रहे हैं। जिस समय मनुष्य के सिर पर

मौत मंडराती है और उसके प्राण देह को छोड़कर अलहदा हो जाते हैं तव वह महान्धकार में घूमता हुआ यह सोचा करता है—सूर्य कहाँ गया, चन्द्रमा कहाँ है, वायु का वह सुखद स्पर्श कहाँ है, मेरा वह मकान कहाँ है जिसमें मैं रहा करता था, मेरे वे भाई-वन्धु कहाँ हैं जिनके साथ मैं सुखपूर्वक समय विताया करता था। पता नहीं कि मैं किस दुःख पंक में पड़ गया हूं कि मुझे न कुछ दीखता है, न किसी का शब्द सुनायी पड़ता है, न किसी का स्पर्श होता है और न मेरी क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति होती है। अव मैं क्या करूं? किसकी शरण लूँ जिससे कि मैं दुवारा उसी प्रकार से सव दृश्यों को देख व सुन सकूँ और पूर्ववत् अन्न-जल ग्रहण कर सकूँ, किन्तु यह उसका सोचना मात्र ही रह जाता है। इसी कारण हमारे हिन्दू धर्म की रीति के अनुसार मरणासन्न व्यक्ति के मुख में मिट्टी के दिये से गंगा-जल डाला जाता है ताकि मरणासन्न व्यक्ति प्यासा न चला जाय और प्राणान्त हो जाने के वाद गत-आत्मा पिपासा के दुःख से दुःखित होकर घूमता न रहे। इसके साथ ही पीपल के वृक्ष में जल की हंडिया वाँधने का रिवाज भी हमारी हिन्दू परम्परा में है, ताकि गतात्मा उस हंडिया के छिद्रों से टपकती हुई जल बूंदों के द्वारा अपनी पिपासा रूप वासना की पूर्त्ति कर सके। देह का अग्नि संस्कार करने के वाद उसी दिन सन्ध्या के समय ब्राह्मण लोग वियुक्त आत्मा के लिए दीप दान कराया करते हैं और कहते हैं :—

गतात्मनो महान्धकार निवृत्यर्थं दीपदानं क्रियते।

अर्थात् हम उस गतात्मा के अन्धकार निवृत्यर्थ यह दीपदान कर रहे हैं। यह सव संकेत देहावसान के वाद और देहान्त के समय प्राणी की जो दशा हुआ करती है उसी से सम्वन्धित है। यही मरणदुःख है।

इसके वाद जन्म लेने का दुःख इससे भी कहीं अधिक भयंकर होता है, जिसका वर्णन गर्भोपनिषद में इस प्रकार किया गया है :—

ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते। मासत्रयेण पादप्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे गुल्फ जठर कटि प्रदेशाः भवन्ति। षष्ठे मासे मुख नासिकाक्षि श्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवेन संयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वं लक्षण सम्पन्नो भवति। पितुरेतोऽतिरेकात्पुरुषो मातुरेतोऽति-रेकात् स्त्री उभयोर्बीज तुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमनसोऽन्धाः खंजा कुब्जा वा भवन्ति॥ अन्योऽन्य वायु परिपीडित शुक्रद्वैविध्यात्तनु स्यात्ततो युग्माः प्रजायन्ते।

अर्थात् ऋतुकालानन्तर पहली रात्रि में विकृत रस सा होता है। सात रात्रि वाद बुद्बुदा वनता है। आधे मास के वाद पिण्ड वन जाता है। एक महीने वाद वह पिण्ड

कुछ सख्त सा बन जाता है। दो मास बाद सिर बनता है और तीन मास के बाद पाद-प्रदेश। चौथे मास में गुल्फ, जानु व कटि प्रदेश, पाँचवें मास में पृष्ठ वंश, छठे मास में मुख-नासिकादि बनते हैं तथा सातवें मास में वह शरीर चेतना पा जाता है। आठवें मास में वह सर्व लक्षण सम्पन्न बन जाता है। पिता के वीर्य की अधिकता से पुरुष, माता के रज की अधिकता से स्त्री, दोनों के वीर्य की समानता से नपुँसक, व्याकुल मन होने पर अंधा, गंजा, कुबड़ा या बौना होता है तथा अन्योन्य वायु के परिपीड़न से और शुक्र के दो भागों में बंट जाने से जोड़ा पैदा होता है। यह सब कुछ हो जाने के बाद—

अथ नवमे मासे सर्व लक्षण ज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति, पूर्व जातिं स्मरति शुभाशुभं च कर्म विन्दति। पूर्व योनि सहस्राणि दृष्ट्वा कथयति—

आहारा विविधाः भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः॥
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फल भोगिनः॥
अहो! दुःखोदधौ मग्नः न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम्॥
अशुभ क्षय कर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे॥
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्मसनातनम्॥

अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यन्त्रेण पीड्यमानो वैष्णव्येन वायुना संस्प्रष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति।

इसके बाद नवम मास प्राप्त होने पर सर्वलक्षणों एवं ज्ञान कर्मों से पूर्ण हो जाता है। वह अपनी पिछली जाति को याद करता है और शुभाशुभ कर्मों को प्राप्त करता है। अपनी पिछली हजारों योनियों को देखकर भयभीत होता है और कहता है—

मैंने नाना प्रकार के आहार खाये, अनेक प्रकार से स्तनों से दूध पिया, बार-बार जन्मा और मरा। अपने परिजनों के लिए मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये उनके कारण मैं अकेला जल रहा हूं। वे सब फल भोगी लोग चले गये। ओह ! मैं किस दुःखसागर में पड़ गया हूँ ? इससे निकलने का कोई उपाय नहीं दिखायी देता। यदि मैं अबकी बार

इस योनिद्वार से वाहर निकल जाऊँ तो मैं भगवान् महेश्वर की शरण लूँगा, ताकि वे मेरे पापों का नाश कर मुझे मुक्ति दे दें। यदि मैं अवकी वार इस योनि द्वार से वाहर निकल गया तो नारायण की शरण लूँगा, जिससे मेरे पापकर्मों का नाश हो और मुझे मुक्ति मिल जाय। यदि मैं अवकी वार योनि से वाहर निकल गया तो सांख्य-योग का अभ्यास करूंगा जिससे मेरे पाप कर्मों का नाश होकर मुझे मुक्ति मिल जाय। यदि मैं अवकी वार योनि-द्वार से निकल गया तो सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा जिससे मेरे पापकर्मों का नाश होकर मुझे मुक्ति मिल जाय। इस प्रकार विचार करता हुआ वह योनिद्वार को प्राप्त हुआ कोल्हू में पिसते के समान वड़े दुःख से जन्म ले पाता है और उसके वाद भगवान् विष्णु की त्रिगुणात्मिका माया की वायु से स्पर्शित हुआ सव कुछ भूल जाता है। जन्म लेना और मरना उसको याद नहीं रहता। अपने शुभाशुभ कर्मों के फल को भोगता है।

यद्यपि मनुष्य का सारा जीवन दुःखमय ही है फिर भी जन्म-मरण के दुःख को महा भयंकर वतलाया गया है। इसी से वचने के लिए सभी प्रयत्नशील रहा करते हैं किन्तु कोई विरला भाग्यवान् जीव ही इस महादुःख पंक से वच पाता है। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है कि :—

यावत्स्वस्थमिदं देहं यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तावदात्महितं कुर्यात् मरणान्ते किं करिष्यति॥

जव तक यह शरीर स्वस्थ है, मौत की घड़ी दूर है तव तक मनुष्य को अपना कल्याण कर लेना चाहिए। मृत्यु सामने आ जाने पर कुछ भी नहीं हो सकेगा।

तीसरा परिच्छेद

दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का उपाय–योग

दुःख क्या है ? इसका स्वरूप पिछले प्रकरण में समझाया जा चुका है। संसार में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति प्रतिक्षण दुःखभागी ही वना रहता है, किन्तु उसकी दशा इस प्रकार की हो जाती है कि वह दुःखों का उपभोग करते हुए भी उनको सुख ही समझने लगता है। जन्म और मरण का दुःख तो महान् है ही। जिस समय कोई प्राणी जन्म लेता है तो वह वड़ी ही कठिनता के साथ माता के उदर से वाहर आ पाता है। गर्भावस्था में उसको क्या कष्ट था ? किस प्रकार से वह मल-मूत्र, विष्ठा से परिपूरित गर्त में पड़ा हुआ घोर दुःखों का अनुभव कर रहा था किन्तु प्रतिक्रिया उसे कोई नजर नहीं आती थी। उस हालत में ईश्वर की अनुकम्पा को पाकर उसने कठिनता के साथ जन्म लिया। उसके वाद जीवनकाल में आधि-व्याधि, रोग-शोक आदि महान् दुःखों को अनुभव करते हुए जीवनकाल व्यतीत किया। अन्त में मृत्यु न चाहते हुए भी काल सामने उपस्थित हुआ और इस नश्वर देह का परित्याग करना ही पड़ा। सुख साधनों की मन में जो कल्पना थी वह छोड़ देनी पड़ी। इन्द्रियों के गोलक शरीर के साथ खत्म हो गये। न सुन सकता है, न देख सकता है, न खा सकता है और न पी सकता है। दुःख सागर में डूब जाता है। उस समय महान् अन्धकार के अतिरिक्त कोई दृश्य उसके सामने नहीं रहता। मन अनुभव करता रहता है कि मेरा घर था, जमीन थी, वड़ी भारी जायदाद थी, धन-दौलत था, भाई-वन्धु, मित्र और कुटुम्बी जन थे किन्तु पता नहीं कि वे सभी कहाँ चले गये हैं ? मैं पुनः उनके दर्शन कर पाऊंगा कि नहीं ? आदि-आदि वातें जीवात्मा के सामने आती हैं और वह इन सव के कारण महान् कष्ट अनुभव करता है। दुःख का स्थूल रूप कठिन से कठिन बीमारियाँ, क्षीणतायें, मानापमान, भूख और प्यास ये सभी दुःख प्राणी अपने जीवन में अनुभव करता रहता है एवं यथाशक्ति उनकी निवृत्ति के लिए प्रयत्नशील भी रहता है, किन्तु उनका अत्यन्त विमोक्ष हो ही नहीं पाता। यहाँ तक कि दुःख भोगते-भोगते वह अविद्या के प्रभाव से दुःखों को सुख मानने लगता है। 'कष्टात्कष्टतरी क्षुधा' के सिद्धान्तानुसार भूख एक वहुत वड़ा कष्ट है, किन्तु भूख न लगने पर मनुष्य समझता है—भूख नहीं लगी, मैं बीमार हो गया हूं। वह औषधियों का सेवन करता है और भूख लगाने का प्रयत्न करता है। वड़े प्रयत्न के वाद जव भूख लगती है तो वह उस भूख के दुःख को शान्त करने के लिए तरह-तरह के रसीले पदार्थों का सेवन करता है तथा अति भोजन से पुनः मन्दाग्नि का शिकार हो जाता है। फिर उसी प्रकार औषधियों का

सेवन करता है और समझता है कि भूख लगना सुख का एक वहुत वड़ा साधन है। इस प्रकार जीवन का कोई क्षण इस प्रकार का व्यतीत नहीं होता जिसमें यथार्थ सुख हो।

भगवान् पतंजलिदेव ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति-विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

सभी दुःखों का मूल अविद्या है। राग-द्वेष आदि सभी अविद्या के अंग हैं। हमारा कर्माशय राग और द्वेष के आधीन रहता है। अभीष्ट वस्तुओं में राग होता है और इसके विपरीत अनभीष्ट वस्तुओं में द्वेष होता है। ये राग-द्वेष ही कर्मश्रृंखला के आधारभूत हैं। किसी अभीष्ट वस्तु में मनुष्य राग करता है, प्रेम करता है, फिर उसका वियोग हो जाता है। राग के समय सुख था वही वियोग के समय दुःख हो गया। इस प्रकार से मनुष्य जीवन में भोग-ताप का अनुभव करता है। जन्म-जन्मान्तर जनित संस्कार एवं वासनाओं का चक्र भय दिखलाता रहता है। गुण-वृत्ति विरोध प्राणीमात्र में चला करता है।

योगी को ये सभी दुःख चाहे वे अत्यन्त सूक्ष्म क्यों न हों अनुभव होते रहते हैं। जैसेः—आँख में मकड़ी का सूक्ष्म जाल भी पड़ जाये तो महान् दुःख का दाता हुआ करता है। इसी प्रकार योगी सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर दुःखों को भी दुःख ही समझता है। यद्यपि सांसारिक प्राणी इन सभी छोटे-मोटे दुःखों को दुःखों की गणना में नहीं रखते, किन्तु विवेक ज्ञान युक्त सूक्ष्मदर्शी योगी इनको दुःख ही समझता है और इनकी निष्कृति के लिए प्रयत्नशील रहा करता है।

इन सभी दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति किस प्रकार से हो इसका कोई लौकिक उपाय दिखलायी नहीं देता। भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं:—

हेयं दुःखमनागतम्।

दुःख का बँटवारा तीन भागों में हो जाता है—अतीत, अनागत एवं वर्तमान। जो दुःख बीत चुका है उसकी हेयपक्ष में गणना नहीं की जा सकती। क्योंकि वह तो निकल ही चुका है और जो दुःख वर्तमान में प्राप्त है वह भी कालान्तर में व्यतीत हो ही जायेगा। इसलिए अतीत और वर्तमान ये दोनों हेयपक्ष में नहीं माने जाते। इसीलिए भगवान् पतंजलिदेव ने—"हेयं दुःखमनागतम्" कहकर अनागत दुःख की ही हेयता वतलायी है। योगी अपने ध्यानाभ्यास के वल से, संयम के वल से यह जान लेता है कि अव कौन से संस्कार का उपभोग काल आ रहा है और यह किस प्रकार से हटाया जा सकता है। क्योंकि यह दुःख अभी अनागत है भोगारूढ़ नहीं है। इसलिए ऐसे दुःखों की निवृत्ति के

लिए योगी पहले से ही यत्नशील रहता है और उन सब को सूक्ष्मत्वेन भोग करके शान्त भी कर देता है। भोग में तो वे आये ही आये उन दुःखों का अत्यन्त विक्षोभ नहीं हुआ। अत्यन्त विक्षोभ के लिए––दुःखों की जड़ कहाँ है यह जान लेने की आवश्यकता रहती है। उस जड़ का वर्णन करते हुए भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं :––

दृष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

दृष्टा-जीवात्मा, दृष्य-बुद्धि इनका अनादिकाल से चला आया जो मेल है असल में वही दुःख का मूल कारण है। जड़ और चेतन की गाँठ जब तक बनी रहेगी तब तक कर्म और वासना का चक्र बराबर चलता ही रहेगा। इस बात को यों समझ लेना चाहिए :—

आत्मा एक निर्मल ज्योति है। उसके अन्दर कभी भी कोई विकार नहीं है। वह अच्छेद्य है, अदाह्य है, अविकार्य है, नित्य-चेतन है। उस चेतन तत्व के सामने जिस समय जड़तत्व बुद्धि उपस्थित हुई चेतन की झलक पाकर वह बुद्धि भी चेतन हो उठी और उस चेतनता को पाकर उसने आत्मा का बदला दिया और अपने जड़धर्म आत्मा को दे दिये। फलस्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, अविकारी आत्मा अपने को विकारी समझने लगा। यही जड़ और चेतन की गाँठ है, जो प्राणी को जन्म और मरण के चक्र में डाले रखती है।

जब तक यह गाँठ नहीं खुल जाती तब तक दुःखोंका अत्यन्त विक्षोभ नहीं हो पाता। अत्यन्त विक्षोभ के लिए साधक को चाहिए कि वह योगाभ्यास करे। जब तक गुणों का गुणों में अवस्थान नहीं हो जाता और आत्मा केवलीभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होती ही नहीं। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन के आरम्भ में "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" कहकर योग की परिभाषा लिखी। "चित्त-वृत्तीनां नितरां रोधः योगः" चित्तवृत्तियोंका समूलोन्मूलन हो जाना, अर्थात् न रहे बाँस न बजेगी बाँसुरी, यही योग है।

चित्तवृत्तियाँ सब बुद्धि का धर्म हैं, गुणात्मिका हैं। जब बुद्धि और पुरुष का मेल खत्म हो जायेगा तो उसके साथ ही साथ वासना संस्कार-चक्र भी बिल्कुल समाप्त हो जायेगा और योगी अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जायेगा। यही वह स्थिति होती है जिसे समाधि कहते हैं। जैसे :—

समाधिः समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः।

जीवात्मा और परमात्मा की बिल्कुल अभिन्नावस्था का नाम ही समाधि है। जिस समाधि में जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है उसी के लिए भगवान् पतंजलि

देव ने "तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्", कहकर स्वरूपस्थिति का निर्देश किया है। इसी स्थिति में जाकर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति हो पाती है। तभी योगी को वरावर दर्शन होता है। फलस्वरूप योगी का दुःखों से अत्यन्त विक्षोभ हो जाया करता है।

उपनिषद का वचन है :—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

अर्थात् उस परावर शुद्ध स्थिति को पा जाने के वाद योगी की हृदयग्रन्थि स्वतः ही खुल जाती है, कर्म वन्धन क्षय हो जाया करते हैं एवं दुःखों का अत्यन्त विक्षोभ हो जाता है।

अतः योग के पवित्र मार्ग का अवलम्व लेने वाले प्रत्येक साधक को यह भली प्रकार से समझ लेना चाहिए कि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति का परम साधन योग ही है। इससे ही साधक अपने नित्य स्वरूप एवं परम कल्याण को प्राप्त हुआ करता है।

चौथा परिच्छेद

योग के प्रकार और उपयोग

'योग' शब्द इतना व्यापक और महत्वशाली है कि सभी सिद्धान्तवादियों ने इसे हृदय से अपनाया है।

भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग, शून्ययोग इत्यादि ये सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। इस संसार में जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होगा, जिसको योग की सच्ची जिज्ञासा न हो, किन्तु "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की युक्ति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने इसका अपनी मति के अनुसार अर्थ किया। जो लोग हृदय प्रधान हैं और ईश्वर की अर्चना, वन्दना आदि के रूप में लक्ष्य प्राप्ति के लिए संलग्न हैं उन्होंने इसको भक्तियोग, जो लोग ज्ञाननिष्ठा प्रधान हैं और महावाक्यों का मनन करते हुए भी वेदान्त सिद्धान्तों के अनुसार आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं उन्होंने ज्ञानयोग और जो लोग ईश्वरार्पित बुद्धि से निष्कामभाव से कर्म करते हुए कर्मबन्धन से छूटकर अपना लक्ष्य प्राप्त करना चाहते हैं उन्होंने इसे 'कर्मयोग' के नाम से अपनाया। इसके अतिरिक्त योग के व्यापक प्रभाव और महत्ता को देखकर कुछ दम्भी लोगों ने भी इस शब्द को अपनाकर यक्षिणी, पिशाचिनी आदि छोटी-छोटी तामस-राजस शक्तियों की आराधना कर तथा सिद्धियों को पाकर संसार के भोले-भाले प्राणियों को चमत्कार में डालकर अपनी पूजा करायी और अपने को योगी सिद्ध किया।

इसके अतिरिक्त जिन्होंने योग के कुछ साधनों को कहीं से सीख लिया, उन्होंने योगाश्रम स्थापित कर लिये और केवल मात्र नेति, धौति आदि षट्कर्म व आसन, बन्ध, मुद्राओं द्वारा शारीरिक साधनायें ही इन लोगों का परम लक्ष्य बन गया। इसी प्रकार बिना अष्टाँग योग की साधना के ही किन्हीं लोगों ने भूगर्भ, जलगर्भ आदि समाधियाँ लगाकर योग के व्यापक शब्द से लाभ उठाया। यह सब योग का वास्तविक अर्थ न समझने और समझकर भी उसकी उपेक्षा के कारण हुआ। ठीक प्रकार से विचार कर देखा जाय तो 'योग' शब्द का अर्थ है—मिलाने वाली क्रिया। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार 'युज्' धातु से सन्धानार्थ-भाव में धम् प्रत्यय लगकर योग शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है—जुड़ना-मिलना। युज् = समाधौ से योग का अर्थ है—समाधि।

योगाचार्य भगवान् पतंजलिदेव ने "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर योग शब्द को अभिव्यक्त किया। जिसका अर्थ है–चित्तवृत्तियों का निरुद्ध होना। "चित्तवृत्तीनाम्

नितरां रोधः निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्तियों का नितान्त रुक जाना ही निरोध शब्द का अर्थ है। हमारी शास्त्रीय परिभाषा में "निरोधः समाधिः समाधिर्वायोगः" अर्थात् समाधि का ही नाम योग है और निरोध को ही समाधि कहते हैं तथा समाधि शब्द का अर्थ 'समाधिः समतावस्था जीवात्म परमात्मनः' कहकर हमारे आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा की समस्थिति को ही समाधि वतलाया है। अर्थात् जिस क्रिया को करने पर जीवात्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये उसी क्रिया को समाधि कहा गया है।

भगवान् पतंजलिदेव ने जहाँ पर "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" कहकर योग का लक्षण किया वहाँ उसके साथ ही "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" कह करके जीवात्मा का समाधि स्थिति में स्वरूपावस्थित होना स्पष्ट वतला दिया है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी ने विल्कुल स्पष्ट किया है कि–– "स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये" अर्थात् चितिशक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का सही अर्थ है। जीवात्मा समाधि में भी कैवल्य की तरह ही स्वरूप प्रतिष्ठ होता है, किन्तु 'योगश्चित्तवृति निरोधः' इस सूत्र में केवल मात्र चित्तवृत्ति निरोध को योग कहा है न कि सर्ववृत्ति निरोध को योग कहा है, क्योंकि इस सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं है। इसलिए योग की सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है। इसी कारण "वितर्कविचारानन्दास्मितानुगत सम्प्रज्ञातः" कहकर सम्प्रज्ञात योग व "विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्व संस्कारशेषोऽन्यः" कहकर असम्प्रज्ञात योग का उल्लेख किया है।

सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात योग को दूसरे शब्दों में एकाग्रावस्था व निरुद्धावस्था कहना चाहिए। सारे संसार के प्राणियों के चित्त ५ अवस्थाओं में विभक्त रहा करते हैं। जैसे :––

(१) **मूढ़ावस्था के प्राणी** :––जिनमें तमोगुण प्रधान रहता है तथा रज और सत्व गौण हो जाया करते हैं। इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से आवृत्त रहा करती है और वे आलस्य तन्द्रा से घिरे रहते हैं। किसी भी प्रकार उनकी उदर पूर्ति होती रहे इसके अतिरिक्त किसी के हिताहित तथा लोक व परलोक से इनका कोई सम्वन्ध नहीं होता।

(२) **क्षिप्तावस्था के प्राणी** :––उनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण व सतोगुण गौण रहने के कारण इनके मन में चंचलता, दुःख, शोक, चिन्तायें बनी रहती हैं। लौकिक साधना ही इनका परम लक्ष्य रहता है। सांसारिक कार्य धन्धे तथा व्यापार

आदि के अतिरिक्त परलोक आदि में इनकी आस्था नहीं होती। इन लोगों का प्रायः सिद्धान्त रहा करता है "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।"

अर्थात् मनुष्य संसार में जव तक जीवित रहे उसे सुखपूर्वक जीना चाहिए। ऋण लेकर भी उसे ऐश-आराम करना चाहिए। मृत्यु के वाद शरीर जलकर भस्म हो जायेगा और वह भस्मीभूत शरीर फिर नहीं मिलेगा। लोक व परलोककी वातें थोथी हैं, स्वर्ग व अपवर्ग किसने देखा है। इसलिए जो भी कुछ स्वर्ग व अपवर्ग है इसी लोक में है। इस प्रकार का सिद्धान्त रजोगुण प्रधान व्यक्तियों का हुआ करता है। इसके अतिरिक्त तीसरी अवस्था के प्राणी होते हैं :—

(३) **विक्षिप्तावस्था के प्राणी** :—जिनमें सत्वगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण हो जाया करते हैं। इनमें मन में पूर्ण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार की भावना और साधनों में संलग्नता तथा धर्म, ज्ञान व वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है। इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर चलने लगता है तथा शान्त रहता है। ये लोग स्वाध्याय, संकीर्तन एवं उपासनायें आदि करते हैं किन्तु एकाग्रता के बिना इस भूमिका के प्राणी योग-श्रेणी में नहीं माने जाते हैं क्योंकि इनमें विक्षेप प्रधान रहता है। भगवान् व्यासदेव ने इस स्थिति में रहने वाले व्यक्तियों के लिए स्पष्ट लिखा है—

"तत्र विक्षिप्ते चेपुसि विक्षेपोपसर्जनीतः समाधिनं योगपक्षे वर्तते।" अर्थात् विक्षेपोपसर्जनीमूल समाधि योगपक्ष में नहीं मानी जाती। ये लोग जप, तप, स्वाध्याय आदि में संलग्न रहते हैं और ईश्वरानुग्रह की प्रतीक्षा में अपने मन को आश्वासित रखा करते हैं। जव कभी इनके मन में तरंग उठती है तो यह कह उठते हैं—

राम राम रटते रहो जव लगि घट में प्रान।
कवहुँ तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान॥

उपरोक्त तीन परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्ति योगी शब्द से अभिवाच्य नहीं कहे जाते क्योंकि योग की वर्णमाला मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है।

(४) **एकाग्रावस्था के प्राणी** :—उनमें सतोगुण प्रधान रहता है तथा रजोगुण व तमोगुण नाममात्र में शेष रहते हैं। इनका मन 'द्रष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञावैराग्यम्' हो करके अपर वैराग्य को प्राप्त होता है। मनुष्य का मन बड़ा अद्भुत व शक्तिशाली है। वस्तुतः विचार कर देखा जाय तो प्रभु की सृष्टि में बड़े-वड़े अद्भुत कार्य मन की एकाग्रता से ही सम्पन्न होते हैं। जब तक मन के अन्दर एकाग्रावस्था

का उदय नहीं होता तव तक हम किसी भी मन्त्र का उच्चारण करते रहें वह केवल वर्ण-विन्यास मात्र हैं। र म क च ट य सव शब्द हैं। शब्द की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश में ही उसका विलय हो जाया करता है। राम नाम का उच्चारण करके तव तक हम कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते जव तक श्रीराम के रूप में हमारा मन एकाग्र न हो जाय। इसीलिए भगवान् पतंजलिदेव ने ईश्वर के मुख्य नाम 'ॐ' का वर्णन करते हुए "तज्जपस्तदर्थ भावनम्" अर्थात् उसके नाम का जप करना और अर्थ का ध्यान करना ये दोनों क्रियायें साथ-साथ करने को कहा है। तभी मनुष्य नाम-जप के शुद्ध परिणाम को पा सकता है। मन क्योंकि वहुत चंचल है उसकी चंचलता को जगदात्मा अखिल लोकनायक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने स्वयं स्वीकार किया है।

असंशयं महावाहो, मनो दुर्निग्रहम् चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते॥

अर्थात्—हे अर्जुन निश्चय ही मन वहुत चंचल है फिर भी वह अभ्यास और वैराग्य द्वारा नियन्त्रण में लाया जा सकता है।

मन की शक्ति को हम तव तक नहीं जान सकते जव तक वह एकाग्र नहीं हो जाता। हमारे आचार्यों ने मन को ज्योतियों की भी परम ज्योति माना है किन्तु उसकी शक्ति को एकाग्र होने के वाद ही हम जान सकते हैं। जिस प्रकार तीव्र गति से चलने वाले विजली के पंखे को हम केवल एक गोल चक्र ही देखते हैं और जव वह रुक जाता है तो उसकी तीनों पंखुड़ियाँ अलग-अलग दिखलायी देने लग जाती हैं। इसी प्रकार मन को एकाग्र करके ही उसके अन्दर छिपे हुए रहस्यों को हम जान सकते हैं। अतः मन की एकाग्रावस्था को हमारे योगाचार्यों ने समाधि पक्ष में माना है और इसी को सम्प्रज्ञात योग कहा गया है। सम्प्रज्ञात योग के विषय में भगवान् व्यासदेव ने अपने भाष्य में ये शब्द लिखे हैं :—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्म वन्धनानि स्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।

अर्थात् जो एकाग्र चित्त में सद्भूत अर्थ को प्रकट करता है, क्लेशों को क्षीण करता है, कर्मवन्धनों को ढीला करता है और चित्त को निरोधाभिमुख करता है उसको सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। चूंकि सम्प्रज्ञात योग में मन की एकाग्रता होती है विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ हुआ करती हैं और मन की शक्तियाँ प्रकट होती रहती हैं, इसीलिए इसको सम्प्रज्ञात योग कहा है। इससे आगे पाँचवीं स्थिति के प्राणी निरोधावस्था के प्राणी कहलाते हैं।

(५) निरोधावस्था के प्राणी—जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र में शेष रह जाता है वे अपने द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाते हैं। ऊपर वर्णन की गयी पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में केवल मात्र एकाग्रावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया गया है। संसार का कोई प्राणी किसी प्रकार की साधनायें करता रहे किन्तु जब तक मन में एकाग्रता का उदय न हो तब तक उसका योग में प्रवेश नहीं माना जा सकता। भगवान् पतंजलिदेव ने :—

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि।

कह करके अष्टांग योग का वर्णन किया। अंग अंगी से अलग नहीं होते इस विचार से अष्टांग योग के किसी एक अंग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी तो है ही। इनमें से यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच अंग धारणा, ध्यान, समाधि की अपेक्षा बहिरंग हैं। भगवान् पतंजलिदेव जी के शब्दों में किसी एक में चित्त को बाँधना धारणा कहलाती है। 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' से ही सम्प्रज्ञात योग का श्रीगणेश होता है। धारणा सिद्ध हो जाने पर मन के अन्दर योग में प्रवेश की योग्यता हो जाती है। धारणा की सिद्धि से प्राप्त हुई योग्यता वाले मन की वृत्ति अन्तर्मुख होती है। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी अपने प्रथम अभ्यास में वितर्कानुगत योग का अभ्यास करता है। उसमें वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँच महाभूतों का तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इनके गुणों का प्रत्यक्ष करता है। इस वितर्कानुगत योग में पंच-भूत व पंच-भूतों से होने वाले सब विस्तार को और इनके सब विषयों को पूर्ण प्रत्यक्ष करता है। साधक अपने अभ्यास में पृथ्वी तत्व में पहाड़, सुरम्य वन उपवन तथा नाना प्रकार की दिव्य सुगन्धों का अनुभव करता है और जल तत्व में नाना प्रकार के समुद्र व रसों का अनुभव करता है। अग्नि तत्व में अनेक प्रकार की ज्वालाओं और महान् दिव्य रूपों का अनुभव करता है। वायु तत्व में दिव्य स्पर्शों का अनुभव करता है व आकाश तत्व में शून्य आकाश एवं आकाश में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के शब्दों को सुनता है। इस वितर्कानुगत योग के सवितर्क और निर्वितर्क ये दो भेद हैं। उसमें सविकल्प समाधि—'तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सविकल्पा समापत्तिः' अर्थात् वितर्कानुगत में जिस समाधि में शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान मिला हुआ सा होने पर बराबर भाषित होता रहे वह सवितर्क समाधि कहलाती है एवं इसका अभ्यास करते-करते चित्त ध्येयाकार हो जाये व शब्द, अर्थ, ज्ञान न रहे तब वह निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इस विषय को इस प्रकार से समझ लेना चाहिए, जैसे—साधक के ध्यान में एक गाय है। गाय एक शब्द है और लम्बे गले वाली, दो सींगों वाली, सफेद रंग की, चार पैरों वाली गाय एक पशु है। यह ज्ञान होना कि वह एक गाय है, यही ज्ञान है। ये तीनों शब्द, अर्थ व ज्ञान एक विषयक होते हुए भी अलग-अलग समझ में आते हैं। ऐसी स्थिति का नाम सवितर्क समाधि है। जिसमें साधक का मन

ध्येयाकार बन जाय व शब्द, अर्थ, ज्ञान अलग-अलग अनुभव में न आकर अर्थ मात्र भासित होता रहे वह निर्वितर्क समाधि है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।

विचारानुगत योग—निर्वितर्क समाधि की पराकाष्ठा में पहुंच जाने के बाद मनुष्य का मन सूक्ष्म विषयों में प्रवेश करता है। अभी तक वितर्कानुगत योग में उसने स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का प्रत्यक्ष किया था। किन्तु अब विचारानुगत योग में महाभूतों की अपेक्षा उनके सूक्ष्म तन्मात्र का प्रत्यक्ष करता है। जैसे वितर्कानुगत योग में स्थूल महाभूत आकाश व उसके गुण शब्द का अनुभव किया था अब विचारानुगत में सूक्ष्म आकाश या शब्द तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसी प्रकार वायु में सूक्ष्म वायु तत्व या स्पर्श तन्मात्र, जल में सूक्ष्म जल तत्व या रस तन्मात्र, पृथ्वी में सूक्ष्म पृथ्वी या गन्ध तन्मात्र का अनुभव करेगा। इसके साथ-साथ दश इन्द्रियों का एवं मन, बुद्धि, अहंकार का प्रत्यक्ष करेगा। इस प्रकार इन सूक्ष्म विषयों में होने वाली समाधि का नाम सविचार समाधि है और वितर्कानुगत समाधि के सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं।

इसी प्रकार विचारानुगत समाधि में सविचार और निर्विचार दो भेद हैं। सूक्ष्म विषयों की सीमा प्रधान अलिंग तक है। 'सूक्ष्म विषयत्वं चालिंग पर्यवसानम्।' जैसे हमने किसी भी तन्मात्र का सूक्ष्म ध्यान आरम्भ किया उसका अनुभव देश, काल व निमित्त से सीमित अनुभव होता रहे व ध्याता, ध्यान, ध्येय तीनों अलग-अलग भासित होते रहें, इसका नाम सविचार समाधि है एवं किस समाधि में ध्येय विषय, देश, काल व निमित्त से सीमित न दिखलायी दे तो वह निर्विचार समाधि कहलायेगी। इस विचारानुगत योग में मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है और सूक्ष्मता की परिधि को पहुंच जाता है, क्योंकि योगी इसमें सूक्ष्म मन का, सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म बुद्धि व अहंकार का पूर्ण प्रत्यक्ष कर लेता है। इसलिए उसमें दैवी शक्तियों का विकास हो जाता है। इस स्थिति के योगी को दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूर स्पर्श आदि ज्ञात होने लगता है। इसके साथ-साथ सूक्ष्म देव लोकादि भी अनुभव में आने लगते हैं। उन सब मायिक स्थानीय देवताओं को देखकर भी योगी अपने आपको इन सबसे उत्कृष्ट देखता है व बुद्धि के आमोद-प्रमोद, आह्लादादि सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करता है और अपने आपको पूर्ण आनन्दमय देखता है। ऐसी स्थिति में देवता लोग उसे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते हैं। उस समय योगी को बहुत ही सचेत रहने की आवश्यकता है। भगवान् पतंजलिदेव जी की आज्ञा है कि—स्थान्युपनिमन्त्रेण संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात्॥

ये चारों प्रकार की समाधियाँ सबीज कहलाती हैं, यहाँ तक संसार का बीज वना रहता है। मनुष्य संसार से परे नहीं हो पाता। इसलिए स्थूलार्थ में सवितर्क और निर्वितर्क तथा सूक्ष्मार्थ में सविचार और निर्विचार समाधियाँ सबीज हैं। किन्तु निर्विचार समाधि ज्यों-ज्यों वढ़ती हैं त्यों-त्यों उसकी स्थिति निर्मल वनती जाती है। पुरुष को प्रकृति पर्यन्त सव सूक्ष्म-सूक्ष्म पदार्थ शीशे की तरह चमकते हुए दिखायी देने लगते हैं। तव निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः निर्विचार समाधि की निर्मलता में योगी को स्फुट प्रज्ञालोक होता है।

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

ऐसी स्थिति में योगी सव चिन्ताओं से रहित होकर सांसारिक प्रवाह में वहते हुए प्राणियों को इस प्रकार देखता है जिस प्रकार पहाड़ पर खड़ा होकर मनुष्य जमीन वालों को देखता है। इस स्थिति में समाधिस्थ योगी को ऋतुम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती हैं। उस समय योगी जो कुछ भी देखता है, सत्य देखता है। इस बुद्धि का विषय श्रुत और अनुमान से वहुत आगे का होता है। इसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि के आमोद-प्रमोद रूप विषयों में ज्योंही योगी संयम करता है त्योंही अपने आपको आनन्दमय देखने लगता है। यही सम्प्रज्ञात योग की तीसरी स्थिति आनन्दानुगत है। इसी प्रकार पुरुष की दृक शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति जव एक रूप में भासित होती है और उसमें योगी संयम करता है तव वह अस्मितानुगत योग को प्राप्त होता है। इस अस्मितानुगत योग में पुरुष की दृक शक्ति और बुद्धि की दर्शन-शक्ति क्योंकि एकाकार भाषित होती है, इसलिए उसे जड़ चेतन की गाँठ कहा गया है।

विवेक ख्याति के द्वारा स्फुट प्रज्ञालोक हो जाने के वाद जड़-चेतन की गाँठ खुल जाती है अजर ऋतुम्भरा प्रज्ञा के द्वारा अन्य संस्कारों का प्रतिरोध हो जाने के वाद योगी निर्बीज समाधि को प्राप्त करता है। यही परम पुरुषार्थ है। निर्बीज समाधि को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को किन-किन उपायों का अवलम्व लेना पड़ता है इसके विषय में शास्त्रों के वहुत से मत हैं जिनका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे। किन्तु भगवान् पतंजलिदेव ने इस विषय में दो सूत्रों की रचना की है। यथा :—

(१) भव प्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।
(२) श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्।

इन सूत्रों के अनुसार संसार में जन्म लेने वाले प्राणियों को इस योग की प्रतीति दो ही प्रकार से होती है।

(१) पहले प्राणी वे हैं जो अपने जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से सम्प्रज्ञात योग की वितर्क और विचार समाधि में पूर्णतः प्रविष्ठ हो चुके हैं और वाद में अभी निर्बीज समाधि तक नहीं पहुंच पाये थे, अभी उनकी विवेक ख्याति नहीं हो पायी थी कि उनका देहपात हो गया, ऐसे योगी दो प्रकार के होते हैं—१. विदेह और २. प्रकृतिलीन।

१. विदेह वे कहलाते हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल महाभूतों का और उनके विषयों का पूर्ण साक्षात्कार कर चुके हैं इसलिए वे शरीर की यथार्थता को समझकर देहाभिमान से शून्य हो चुके हैं और इतनी साधना के वाद उनका शरीर छूट गया, वे सम्प्रज्ञात योग की आगे की सीढ़ियों तक नहीं पहुंच सके। अतः ये लोग विदेह कहलाते हैं और देवकोटि में माने जाते हैं।

२. प्रकृतिलीन–वे योगी हैं जो स्थूल महाभूत और उनके गुणों का पूर्ण साक्षात्कार करते हुए निर्विचार समापत्ति से पंच तन्मात्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति का साक्षात्कार कर चुके हैं किन्तु अभी तक प्रकृति के इन सूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार करते हुए इन्हीं में लीन रहे हैं, आगे की भूमिकाओं को तय नहीं कर पाये, अचानक देहपात हो गया। इसलिए ये लोग प्रकृतिलीन कहलाते हैं। ये प्राणी भी देवकोटि में माने जाते हैं।

इसलिए भगवान् व्यासदेव जी ने इन लोगों के लिए कहा है :—

विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः ते हि स्वसंस्कार मात्रोपयोगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानु भवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयमति वाहयन्ति यथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकारवशाच्चित्तमिति।

यहाँ कैवल्यपदमिवानुभवन्ति कहकर के भगवान् व्यासदेव जी ने इनको मुक्तिपद में तो नहीं माना किन्तु मोक्ष जैसी स्थिति का ये लोग प्रकृतिलीन होते हुए भी अनुभव करते हैं क्योंकि अभी तक इनका ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ अर्थात् विवेकख्याति को नहीं प्राप्त हुए। इसलिए इनका चित्त साधिकार है और साधिकारवश इन लोगों का संसार में जन्म होता है। क्योंकि पिछले जन्म-जन्मान्तरों में इनकी योग में ऊँची प्रगति रही थी इसलिए वहुत लम्बे समय तक ये विदेह प्रकृतिलीन रहते हुए भी अपने आपको मुक्त महात्माओं की तरह अनुभव करते रहे थे। बुद्धि का आह्लाद-आमोद-प्रमोद आदि विशेष भावों में लीन हुए अपने आपको आनन्द मग्न मोक्ष रूप देखते रहे थे किन्तु विवेक ज्ञान के हुए विना इनका चित्त साधिकार है, इसलिए इन्हें संसार में दुवारा जन्म लेना पड़ता है। तव इन्हें जन्म से ही पूर्व जन्म-जन्मान्तरों में जो अभ्यास किया था उसकी प्रतीति होने लगती है और फिर उस स्थिति को पाकरके जल्दी ही अपने पूर्ण लक्ष्य को पा जाते

हैं। इन लोगों की कुछ हानि नहीं हुई क्योंकि ये लोग विदेहावस्था में व प्रकृतिलीनावस्था में परमानन्द में रहे तथा जन्म लेने पर अनेक जन्मों में किया अभ्यास सामने आया और पुनः उसी योग समाधि में प्रवृत्त हो गये।

गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण से अर्जुन ने यह प्रश्न किया था।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ॥

अर्थात्—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण जी से प्रश्न करता है कि—हे कृष्ण! जो व्यक्ति श्रद्धा से युक्त है किन्तु अपने आपको वश में नहीं रख सका और योगाभ्यास करते-करते जिसका मन विचलित हो गया है वह योगसिद्धि को न पा करके किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित् उभय भ्रष्ट हो करके फटे हुए वादलों की तरह नष्ट-भ्रष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि अभी उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पायी और ब्रह्मज्ञान को नहीं पा सका। मेरे इस संशय का नाश करने वाले हे कृष्ण! तुम्हारे अलावा दूसरा कोई नहीं है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा :—

पार्थ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते ॥
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण जी उत्तर देते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे पुण्यात्माओं का इस लोक व परलोक में कहीं भी पतन नहीं होता। कोई भी शुभ कर्म करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त हो सकता। ऐसे लोग लोकपाल पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर और वहुत समय तक वहाँ रहकर पुनः पवित्र श्रीमानों के घरों में जन्म ग्रहण करते हैं या बुद्धिमान योगियों के घरों में ही जन्म लेते हैं। इस प्रकार का जन्म ग्रहण करना भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा जन्म हो जाने के वाद उन योगियों को अपना पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग प्राप्त होता है और उस बुद्धिसंयोग को पा करके वे लोग पुनः सिद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं। क्योंकि पूर्वजन्मों में उन्होंने इस प्रकार का योगाभ्यास किया था। इसी कारण विवश होकर उनको इस मार्ग में लगना पड़ता है। योग मार्ग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के विषय से ऊँचा उठ जाता है और प्रयत्नपूर्वक अपने सव पापों को धो करके अनेक जन्मों के प्रयत्न से परमगति को पा लेता है। इसीलिए भगवान् पतंजलि जी की आज्ञानुसार जो लोग सम्प्रज्ञात समाधि में ही किसी प्रकार से विफल हो जाते हैं और निर्बीज समाधि को प्राप्त नहीं हो पाते हैं, उनको जन्म से ही इस योग की प्रतीति होती है और वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसके वाद, दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जिन्होंने नया-नया योगाभ्यास करना है, पिछले जन्म का कोई संस्कार है ही नहीं। ऐसे साधकों के लिए—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

कहकर भगवान् व्यासदेव जी ने योगारम्भ करने वालों को उपाय प्रत्यय का निर्देश किया है और उसमें—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्।

संसार में जन्म लेने वाला प्रत्येक प्राणी योग की महिमा को सुनता है व योग के अनेक विध ऐश्वर्य को, अनेक प्रकार चमत्कारिक व्याख्यान को सुनता है तो उसके मन में योग के प्रति श्रद्धा पैदा होती है। श्रद्धा के विषय में भगवान् व्यासदेव जी लिखते हैं :—

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

मनुष्य को जिस विषय में श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह माता की तरह उसकी रक्षा करती है, किन्तु सारे संसार के प्राणी श्रद्धावान् वन जायें यह असम्भव है। सत्वानुरूप प्राणी मात्र के अन्दर श्रद्धा वास करती है। भगवान् श्रीकृष्ण जी ने गीता के सत्रहवें अध्याय के तीसरे श्लोक में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

सत्वानुरूप प्राणीमात्र की श्रद्धा होती है। उस परम पुरुष परमात्मा का रूप श्रद्धा-मय है। अतः जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही उस परमात्मा का स्वरूप है। अविचल श्रद्धा प्राप्त हो जाने पर योगी के मन में वल प्राप्त होता है अर्थात् उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मन में उत्साह वढ़ता है और उत्साह वढ़ जाने के वाद जव वह अपने स्वरूप प्रतिष्ठा रूप परम योग को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है तो उसकी स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति से जिन-जिन विषयों में वह ध्यान लगाता है वे स्थिर हो जाते हैं, चित्त एकाग्रता की ओर वढ़ने लगता है। ज्यों-ज्यों उसका ध्यान स्थिर होता है त्यों-त्यों समाधि का प्रकाश होता रहता है और समाधि प्राप्त होने पर समाधि के निर्मल प्रवाह की विशुद्धता वढ़ जाने पर प्रज्ञा-विवेक उत्पन्न होता है––

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' बुद्धि अन्वर्था है सदा सर्वथा सत्व को धारण करती है। इसकी प्राप्ति हो जाने पर योगी हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान करके पर वैराग्य को प्राप्त होता है, क्योंकि वह हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उन सव में उसका अनुभव करता है। इसलिए दृष्टानुश्रविक विषयों में वितृष्ण हो करके विवेक ख्याति को प्राप्त होता है। वह व्यक्ताव्यक्त धर्मों के गुणों में विरक्त होकर कृतार्थ हो जाता है और प्रत्युदित ख्याति योगी जिसने पर वैराग्य को प्राप्त कर लिया है अनुभव करता है––

प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणा, क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्ट पर्वो भव संक्रमः, यस्या-विच्छेदांजनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति।

मैंने, जो कुछ पाना था, पा लिया है, क्षीण होने लायक क्लेशों को क्षय कर दिया पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ भव संक्रम काट दिया जिसके न काटने से जन्म लेकर मरना पड़ता था और मरकर जन्म लेना पड़ता था। ज्ञान की पराकाष्ठा का नाम ही पर-वैराग्य है और वही मोक्ष का स्वरूप है। इसके उदय हो जाने पर योगी स्वरूप प्रतिष्ठा रूप निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेता है और कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले योगियों में भी तारतम्य देखने में आता है। उनमें से––(१) मृदु उपाय (२) मध्योपाय और अधिमात्रोपाय भेद से ये योगी तीन प्रकार के होते हैं और उनमें भी मृदु उपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं। (१) मृदु संवेग (२) मध्य संवेग (३) तीव्र संवेग।

इसी प्रकार से अधिमात्रोपाय वाले योगी तीन प्रकार के होते हैं––(१) मृदु संवेग (२) मध्य संवेग (३) तीव्र संवेग। यह सब मिलाकर ९ प्रकार के हो गये। इनमें से भी जो योगी अधिमात्रोपाय वाले और तीव्र संवेग वाले हैं उनको शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ होता है व समाधि का फल प्राप्त होता है।

जैसे :—तीव्र संवेगानामासन्नः।

अर्थात्—जिस योगी का उपाय तीव्र होता है तथा प्रयत्न भी तीव्र होता है उसको शीघ्रातिशीघ्र समाधि लाभ हो सकता है और जिसको पिछले कर्म-संस्कारवश समाधि प्राप्ति के लिए मृदु उपाय मिला तथा प्रयत्न भी हल्का है उस हालत में उतना ही विलम्व समाधि में होगा। इसी प्रकार मध्योपाय वाले को व मृदु संवेग वाले को उतनी ही देर लगेगी। जैसे जिसका तीव्र संवेग या तीव्र उपाय है वह उतनी ही जल्दी समाधि को व उसके फल को प्राप्त कर सकता है।

निर्बीज समाधि की प्राप्ति के लिए दो प्रकार के मुख्य उपाय हैं जो भगवान् पतंजलि जी ने लिखे हैं उनका वर्णन पहले भी कर दिया गया है। भव प्रत्यय वाला योगी कोई विरला ही होता है, और उसको अपने पूर्व संस्कारवश उसी प्रकार के उपाय, उसी प्रकार का सहवास, सत्संग, उसी प्रकार का तीव्र बुद्धियोग प्राप्त हो जाना आवश्यक होता हैं। किन्तु जो लोग उपाय आरम्भ करते हैं उनके अन्दर श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि का होना परमावश्यक है।

इसी का नाम योग है न कि अनेक प्रकार की छोटी-छोटी राजस, तामस उपासनाओं से कोई योगी कहला सकता है। इसी स्थिति में जाकर जीव परम कल्याण को प्राप्त होता है। मनुष्य को जव तक निर्बीज समाधि प्राप्त नहीं होती तव तक उसको परम पुरुषार्थ सीमा तक प्रयत्नशील वना रहना चाहिए। जो धैर्यपूर्वक अपने साधन में लगे रहते हैं वे अवश्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के निम्नलिखित वाक्यों को याद रखते हुए मनुष्य को प्रयत्नशील वना रहना चाहिए।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

अर्थात्—जिस व्यक्ति का अधिमात्रोपाय व तीव्र संवेग नहीं है वह अपने मंद प्रयत्न के द्वारा भी निर्बीज समाधि रूप परम गति को पा लेता है फिर जिनके संस्कार उत्तम हैं उनका तो कहना ही क्या। सवसे मुख्य वात तो यह है कि मनुष्य योग सिद्धान्तों को समझ ले और दृढ़ता से उसमें संलग्न हो जाय, भगवान् की आज्ञा है :—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।

केवलमात्र योग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के विषय से आगे निकल जाता है और जो लोग योग सिद्धान्तों को समझ करके गुरू के वतलाये मार्ग के अनुसार शास्त्र विधि से योगाभ्यास करते हैं उनके परम कल्याण में तो शंका ही क्या हो सकती है।

पांचवां परिच्छेद

दृश्य एवं उसका फल

योगदर्शन के साधनपाद के १८वें सूत्र में भगवान् पतंजलिदेव जी ने दृश्य का लक्षण बताते हुए लिखा है :—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

अर्थात्—प्रकाश क्रिया स्थितिशील, पंच महाभूतात्मक और इन्द्रियात्मक दृश्य जितना भी है वह प्रकृति के दो परिणामों को दिखलाया करता है :—

१. भोगपरिणाम
२. अपवर्ग परिणाम

इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी अपने भाष्य में निम्नलिखित पंक्तियों का उल्लेख करते हैं :—

प्रकाशशीलं सतवम्। क्रियाशींलं रजः। स्थितिशीलं तमः इति। एते गुणाः परस्परोपरक्त प्रविभागाः परिणामिनः संयोगवियोग धर्माणि इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जित मूर्तयः परस्परागांगित्वेऽप्यसम्भिन्नशक्ति प्रविभागास्तुल्य जातीयास्तुल्यजातीयशक्ति भेदानुपातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शित सन्निधाना गुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानात्तर्णीतानुमितास्तिताः पुरुषार्थकर्त्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्यास्सन्निधिमात्रोपकारिणो अयस्कान्तमणिकल्पाः प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधान शब्द वाच्याः भवन्ति। एतद् दृश्यमित्युच्यते। तदेतद् दृश्य भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन-पृथिव्यादिना सूक्ष्म स्थूलेन परिणमते, तथेन्द्रिय भावेनश्रोत्रादिना सूक्ष्म स्थूलेन परिणमत इति तत्तुनाप्रयोजनम्, अपि च प्रयोजनमुररीकृत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद् दृश्यं पुरुषस्येति। तत्रेष्टानिष्ट गुणस्वरूपावधारणामविभागापन्नं भोगः भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्गम्इति।

द्वयोरतिरिक्तमन्यद् दर्शनं नास्ति। तथा चोक्तम्—'अयन्तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्त्तषु अकर्त्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्याजातीयेचतुर्थे तत्क्रिया साक्षिण्युपनीयमानान् सर्व भावानुपपन्नाननुपश्यन्दर्शनमन्यत् शंकत इति। तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव प्रवर्त्तमानौ कथं पुरुषेव्यपदिश्येते इति? यथा विजयः पराजयो वा योधेषु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्येते, स हि तस्य फलस्य भोक्तेति। एवं वन्ध मोक्षौ बुद्धावेव वर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते स हि तत्फलस्य भोक्तेति, बुद्धेरेव पुरुषार्थपरिसमाप्तिर्बन्धः, तदर्थाव-

सायो मोक्ष इति। एतेन ग्रहणधारणोहापोह तत्वज्ञानाभिनिवेशाः बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषे अध्यारोपितसद्भावाः स हि तत्फलस्य भोक्तेति।

अर्थात्–प्रकाशशील सत्व सतोगुण का धर्म प्रकाश है। वह मन और बुद्धि के अन्दर निवास किया करता है एवं मनुष्य को उत्कृष्टता की ओर खींचता है। रजोगुण क्रियाशील है। उससे हर पदार्थ में क्रिया होती रहती है। रजोगुण मनुष्य की प्रवृत्ति संसार की ओर करता रहता है जहाँ सतोगुण अपवर्ग की ओर वढ़ाता है। तमोगुण स्थितिशील है अर्थात् जड़त्व का दाता है। जिन लोगों के अन्दर तमोगुण की प्रधानता हो जाती है वे लोग जड़धर्मा वन जाते हैं। वे लोग न तो संसार में प्रवृत्त हो सकते हैं और न ही मुक्ति की ओर जा सकते हैं। वे अजगर सर्प के समान जीवन धारण करते हैं, आ गया तो खा लिया अन्यथा पड़े हैं। इस प्रकार इन तीनों गुणों के विपाक अलहदा-अलहदा होते हैं किन्तु ये अन्योन्याश्रित रहते हैं। वैसे संसार में ऐसा कोई जड़-चेतन नहीं है जहाँ सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण का समावेश न हो। यह प्रकृति की विकृति ब्रह्माण्ड भर के नाना नजारे इन तीनों गुणों का ही एक विभाग है। सामान्य रूप से तीनों गुण प्रकृति की हर उत्तेजना में हर वक्त एवं हर स्थिति में मौजूद रहते हैं किन्तु फिर भी जहाँ एक गुण की प्रधानता रहती है वहाँ पर दूसरे गुण गौण हो जाया करते हैं। प्रधान गुण आगे रहता है दूसरे अन्य दोनों उसके सहचारी रहते हैं। जहाँ पर सतोगुण की प्रधानता है वहाँ पर रज और तम गौण हैं, जहाँ पर रजोगुण की प्रधानता है वहाँ पर सतोगुण और तमोगुण उसके सहचारी हैं। इसी का नाम अन्योन्याश्रित सम्वन्ध है। एक गुण दूसरे के विना नहीं रह सकता। प्रधानता चाहे जिस गुण की भी हो जाय किन्तु फिर भी दूसरों को उसके सहचारी वन करके रहना पड़ता है। इस प्रकार इस चल गुण वृत्ति से यह सारा संसार दिखायी दे रहा है। इन तीनों के अतिरिक्त परमात्मा की इस सृष्टि के अन्दर अन्य कोई वस्तु देखने लायक नहीं है। गुण ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश के रूप में वदले हुए दिखलायी दे रहे हैं। धन्य हो उस सर्वशक्तिमान् की सर्वशक्तिमत्ता को जिसने इन तीनों गुणों के बंटवारे से ही करोड़ों अण्ड-ब्रह्माण्डों की रचना कर डाली। यही गुण कहीं पर दिव्य रस के रूप में वदले हुए दिखायी दे रहे हैं। कहीं पर दिव्य गन्धों के रूप में, कहीं पर महान् दिव्य रूप के स्वरूप में, कहीं पर शब्द के रूप में और कहीं पर आकाश के रूप में व्यवहृत होते हुए दिखायी देते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूप अन्तःकरण के अन्दर काम करने वाले यही गुण हैं जो पुरुष को अपना रूप दिखाकर पुरुषत्व से भुलाये रहते हैं। जीवात्मा हर समय अपने आपको सुखी, दुःखी, लड़का-लड़की, पशु-पक्षी समझता रहता है। यदि वास्तविकता का विचार किया जाय तो जीवात्मा इन गुण धर्मों से विल्कुल परे है। श्रीमद्भगवद्गीता में अखिलात्मा श्रीकृष्ण ने आत्मा का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है :—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

अर्थात्–यह आत्मा अच्छेद्य है, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। स्थिर रहने वाला है, अव्यक्त है, अचिन्त्य और अविकारी है। यहाँ अर्जुन को जगदात्मा उपदेश करते हैं कि––आत्मा को अचिन्त्य एवं अविकारी जानकर मरने-जीने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात्–जो लोग इस आत्मा को मरा हुआ और मारने वाला जानते हैं वे यथार्थता को नहीं जानते, क्योंकि यह न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। यह तो अज, नित्य एवं शाश्वत है, शरीर के मारे जाने पर कभी नहीं मरता। जो लोग इस आत्मा को नित्य, अविनाशी, अज एवं शाश्वत जानते हैं वे ही ज्ञानी हैं। हे अर्जुन! कौन किसको मारता है? क्योंकि मरने जीने वाली तो कोई वात ही नहीं है। केवलमात्र जिस प्रकार से मनुष्य पुराने फटे वस्त्रों को उतारकर नये धारण करता है उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराना शरीर छोड़कर नया धारण कर लेता है। इसको न कोई काटता है न ही आग इसको जलाती है न पानी गीला करता है और न हवा सुखाती है। यह नित्य अज, अव्यय है तथा विनाश से रहित है।

आत्मा के स्वरूप को अखिलात्मा अखण्ड-ब्रह्माण्ड नायक, कालचक्र-युगचक्र को एक ही इशारे पर घुमाने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने उपरोक्त भाष्य में बतलाया है। इसलिए आत्मा पर गुणात्मक प्रभाव कुछ भी नहीं है। मरना-जीना, खाना-पीना, सोना-बैठना, बुढ़ापा-जवानी, लड़का-लड़की, स्त्री-पुरुष, सर्प, विच्छू आदि-आदि सव बंटवारा गुणात्मक है। वस्तुतः आत्मा न लड़का है, न लड़की है, न बुड्ढा है न जवान है, वह तो एक अचिन्त्य शक्ति है एवं इन तीनों गुणों के विकास से बिल्कुल अलग है।

पाठकों के मन में एक शंका पैदा हो रही होगी और वह यह कि यह तो ठीक है कि आत्मा नित्य, अजेय और शाश्वत है एवं गुणों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर यह

सुखी-दुःखी क्यों दिखायी देता है, बुड्ढा-जवान क्यों लगता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—वड़ा दीखना, जवान दीखना, लड़का-लड़की दीखना, सुखी-दुःखी दीखना ये सब गुण धर्म हैं एवं गुणात्मक सम्बन्ध हैं। यद्यपि आत्मा विल्कुल निर्लेप है एवं अपरिणामी है इसको सभी शास्त्र कहते हैं। योग-दर्शन के व्यास-भाष्य में भगवान् व्यासदेव जी महाराज लिखते हैं:—

चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रम दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च।

अर्थात् चेतन शक्ति परिणाम रहित शुद्ध और अनन्त है किन्तु दर्शितविषया है। अर्थात् जीवात्मा अविकारी होने पर भी बुद्धि के धर्मों को देखता है इसलिए उसको बुद्धि-बोधात्मा कहा गया है।

इस वात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि आत्मा एक निर्मल ज्योति है और बुद्धि गुणात्मक होने के कारण जड़ है। जिस समय बुद्धि आत्मा के सामने हुई और आत्मा का प्रकाश इस पर पड़ा तो यह चेतन हो उठी। इसको सुख-दुःखादि के अनुभव होने लगे। आत्मा ने बुद्धि को चेतना प्रदान की। यह जड़ बुद्धि पर वहुत वड़ा उपकार करती है। जिस पर कोई किसी प्रकार का उपकार करता है तो दूसरा व्यक्ति उसका प्रत्युपकार करने की चेष्टा अवश्य करता है। आत्मा ने बुद्धि को चेतनता प्रदान की और बुद्धि ने भी अपना नग्न नृत्य आत्मा को दिखलाया, जो कुछ उसके पास था सौंप दिया। बुद्धि के पास केवलमात्र गुण-धर्म थे, सुख था, दुःख था, चेतना थी, जड़ता थी—नाना प्रकार के जातीय और विजातीय वटवारे थे, वही आत्मा को सौंप दिये। उसी के फलस्वरूप आत्मा भी अपने आपको सुखी व दुःखी अनुभव करने लगा। इसी का नाम भोग था जो बौद्धेय, द्रष्टेय आत्मा को दे दिया। प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील, पंच महाभूतात्मक और ऐन्द्रियात्मक जितने नजारे हैं वे सभी गुणात्मक हैं और भोग व अपवर्ग के दाता हैं। जिस समय जीवात्मा बौद्धेय धर्मों को देखने लगता है तो वह इच्छा-द्वेष, प्रयत्न एवं सुख-दुःखादि के भोगों में पड़ जाता है। उपरोक्त सूत्र में भगवान् पतंजलिदेव ने दृश्य अस्तित्व को भोग एवं अपवर्ग के लिए वतलाया है। भोग दृश्य की अनुभूति जीव मात्र के लिए स्वाभाविक है। अव रहा प्रश्न अपवर्ग का।

जिसके लिए साधु-सन्त, महात्मा, सन्यासी एवं तपस्वी जंगलों की खाक छानते हैं, पहाड़ों की गहन गुफाओं में घूमते हैं, शेर और चीते के भय को त्यागकर वर्फ के टुकड़े खा-खाकर अपना निर्वाह करते हैं। वही एक साधना इस प्रकार की है जिसको महान् दुःखों के साथ प्राप्त किया जाता है किन्तु यह भी सत्य है कि उस अपने स्वरूप की स्थिति प्राप्त करने के लिए अवलम्ब दृश्य का ही लेना पड़ता है। दृश्य के अवलम्ब को पाकर

ही मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार लोहा लोहे को काट देता है उसी प्रकार ये गुण ही गुणों का भेदन कर डालते हैं और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में जाकर स्थित हो जाया करती है। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने दृश्य को आत्मा के भोग और अपवर्ग का साधन वतलाया है। आत्मा का सानिध्य प्राप्त करके बुद्धि को चेतनता लाभ हुई और बौद्धेय बोध को प्राप्त करके आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करने वाला अपने आपको समझने लगा। अव अपवर्ग की प्राप्ति के लिए महती आवश्यकता इस वात की है कि सुख-दुःख दिखाने वाली बुद्धि वृत्ति को ही हम आत्माकार बना लें। यदि बुद्धि वृत्ति अपने आपको आत्मा समझने लग गयी तो वही आत्माकार वृत्ति वन जायेगी। इसी का नाम अस्मि प्रत्यय है। इसी बुद्धि वृत्ति को प्राप्त करके योगी अस्मितानुगत योग में प्रवेश करता है। अस्मितानुगत योग में योगी अस्मि प्रत्यय का अभ्यास करता है एवं अध्यात्म प्रसाद को प्राप्त करता है। निर्विचार समाधि का वैशारद्य अध्यात्म प्रसाद का दाता होता है। योग-दर्शन समाधिपाद के ४७वें सूत्र में भगवान् पतंजलिदेव स्पष्ट लिखते हैं :—

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः।

अर्थात्—ज्यों-ज्यों योगी निर्विचार समाधि का अभ्यास करता है और समाधि तत्व निर्मल होता चला जाता है त्यों-त्यों योगी पवित्रतम आत्मप्रसाद को प्राप्त करता है। इस सूत्र पर व्यास-भाष्य की निम्नांकित पंक्तियाँ पढ़िये :—

अशुद्धयावरणमलोपेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छ स्थिति प्रवाहो वैशारद्यम् यदा निर्विचारस्य समावैंधेशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः भूतार्थ विषयः क्रमाननुरोधी स्फुट प्रज्ञालोकः। तथा चोक्तम्।

अर्थात् अशुद्धि का वातावरण खत्म हो गया है जिसका रज-तम से अनभिभूत बुद्धि सत्व का स्वच्छ स्थिति प्रवाह जव वहने लगता है तब योगी को निर्विचार समाधि प्राप्त होती है। उसी का नाम स्फुट प्रज्ञालोक है। ऐसी स्थिति में योगी को स्फुट प्रज्ञालोक हो जाने के वाद पवित्र आत्माकार वृत्ति प्राप्त होती है। यही आत्माकार वृत्ति ऋतम्भरा प्रज्ञा का रूप धारण कर लेती है, इसी वृत्ति को प्राप्त करके योगी निर्वाण पद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार अग्नि रुई के ढ़ेर को जला करके स्वयं भी समय आने पर शान्त हो जाया करती है इसी प्रकार आत्मा की निर्वाणोन्मुखी वृत्ति अन्य सभी बुद्धि वृत्तियों को खत्म करके स्वयं भी शान्त हो जाया करती है। निर्विचार वैशारद्य को प्राप्त हुआ बुद्धि सत्व, विशुद्ध आत्माकार बुद्धि को बना देता है और यही आत्माकार वृत्ति अपवर्ग की जनक होकर स्वयं शान्त हो जाया करती है। यही है प्रकाश-क्रिया-स्थिति शीलात्मक,

पंच महाभूतात्मक भोगापवर्गर्थ होना। दृश्य ही मनुष्य को भोग प्रदान करता है एवं दृश्य ही अपवर्ग प्रदान करता है।

अतः साधकों को चाहिए कि दृश्य स्वरूप को समझकर अपने भोगात्मक जीवन को वदलकर अपवर्ग की ओर वढ़ें ताकि मनुष्य-जीवन धारण करने का समुचित लाभ उठा सकें।

छठवां परिच्छेद

कर्माशय और भोग

इससे पूर्व मैं त्रिगुणात्मक दृश्य एवं उनसे होने वाले परिणामों का वर्णन कर चुका हूं। जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर रहता है वह दृश्य की त्रिगुण सत्ता से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल सकता। क्योंकि उस पर गुणात्मक प्रभाव वना ही रहता है और मन में जिस प्रकार का गुण प्रभाव होता है मनुष्य उस-उस प्रकार की हरकतें किया करता है वही हरकतें कर्म का रूप धारण कर लेती हैं। कर्म हर हरकत को ही कहा जा सकता है। क्योंकि मनुष्य की हर चेष्टा में क्रिया होती रहती है और कर्म के साधारण लक्षणों में क्रियात्मक कर्म ही कर्म की परिभाषा है। किन्तु यथार्थ में ऐसी कोई भी हरकत कर्म नहीं कहला सकती। कर्म की मीमांसा में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं— "कुशलाकुशलानि कर्माणि" अर्थात् मनुष्य की हर चेष्टा जिसमें अच्छे-बुरे का सम्बन्ध जुड़ा रहता है वही ठीक प्रकार से कर्म की परिभाषा है और जिसमें कुशलाकुशल कर्म जमा होते रहें उसी को कर्माशय कहा जाता है।

"आशेरते फल पर्यन्त इति कर्माशयः"

अर्थात् मनुष्य द्वारा की गयी कुशलाकुशल हरकतें फलभोग पर्यन्त जिसमें पड़ी रहें उस स्थान का नाम कर्माशय कहलाता है। वह कर्माशय दो प्रकार का माना गया है।

१. दृष्ट जन्म वेदनीय।
२. अदृष्ट जन्म वेदनीय।

क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म वेदनीयः

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ निम्नांकित हैं, पढ़िये :—

तत्र पुण्यापुण्य कर्माशयः काम लोभ मोह प्रभवः क्रोध प्रसवः, सः दृष्ट जन्म वेद-नीयश्चादृष्टजन्म वेदनीयश्च, तत्र तीव्र संवेगेन मन्त्र तपः समाधिभिर्विनिर्वातित ईश्वर देवता महर्षिमहानुभावानामाराधनाद्वा यः परिनिष्पन्नः सः सद्यः परिपरिपच्यते पुण्य कर्माशय इति, तथा तीव्र क्लेशेन विश्वासोपगतेषु महानुभावेषु तपस्विषु वा कृतः पुनः पुनरपकारः स चापि पापकर्माशय सद्य एव परिपच्यते। यथा नन्दीश्वरकुमारो मनुष्य परिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः तथा नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा

तिर्यक्त्वेन परिणत इति। तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्म वेदनीयः कर्माशयः, क्षीण-क्लेशानामपि नास्त्यदृष्टजन्म वेदनीयः कर्माशय इति।

अर्थात्–साधक का यह कर्माशिय क्लेशमूलक है। क्लेशों के आधार पर ही कर्माशिय का आरम्भ होता है। भगवान् पतंजलिदेव ने—"अविद्यास्मिता रागद्वेषोऽभिनिवेशः क्लेशो" यह सूत्र कहकर इन पाँच प्रकार के क्लेशों का वर्णन किया है। इन क्लेशों से ही काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि की प्रवृत्ति वनती है और क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का जन्म होता है। क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियाँ ही पुण्यापुण्यात्मक कर्माशिय की आधारभूता हैं। यह हमारा क्लेशमूल कर्माशिय दो भागों में विभक्त है। दृष्टजन्मवेदनीय एवं अदृष्ट जन्म वेदनीय। कर्म मीमांसा पर विश्वास न करने वाले व्यक्तियों के लिए हमारा दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशिय एक सच्चे गवाह के रूप में सामने आ जाता है। इस पुण्यात्मक कर्माशिय के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए जो व्यक्ति मंत्रों का जाप करते हैं अर्थात् स्वाध्यायशील हैं और जो लोग तप करते हैं अथवा समाधि आदि का अभ्यास करते हैं वे लोग ईश्वर, देवता, महर्षि महानुभावों का मान करते हैं। उसके फलस्वरूप उनके पुण्य-कर्माशिय का परिपाक् वहुत जल्दी हो जाया करता है और उसका फल सामने आ जाया करता है। आवश्यकता इस वात की है कि साधक ये सव कर्म तीव्र संवेग से करे। तभी वे तत्काल फलदायी हो सकते हैं।

इसी प्रकार जो प्राणी काम क्रोधादि से परिपूर्ण हैं उनकी वृत्तियाँ क्लिष्टा हैं तथा उन क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में पड़ करके पापकर्मों में लगे रहते हैं वे लोग भयभीत, दुःखी एवं कृपण स्वभाव वाले और विश्वास में आये हुए महानुभावों एवं तपस्वियों का वार-वार अपकार करते रहते हैं। उनका भी पाप कर्म युक्त कर्माशिय इसी जन्म में फल का दाता हो जाया करता है। इस विषय में भगवान् व्यासदेव ने दो उदाहरण वतलाये हैं। जैसे—नन्दीश्वर कुमार मनुष्य परिणाम को छोड़कर देवत्व में वदल गया और इसी प्रकार के क्लिष्ट कर्माशिय वाला नहुष राजा देवेन्द्र से गिरकर तिर्यक योनि को प्राप्त हुआ किन्तु ये वात नारकीय प्राणियों पर लागू नहीं होती। "तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्माशयः"। क्योंकि नर्क के लोग अपने कर्मभोग को ही भोगते हैं। अन्य कर्म वे कर ही नहीं सकते। इसलिए उनका दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशिय नहीं होता और जो लोग क्षीण क्लेश वाले हैं पाप-पुण्य के झमेले से परे हो चुके हैं उनको अदृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशिय नहीं हुआ करता इस वात की पुष्टि करते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने कहा है :—

कर्माशुक्ला कृष्णं योगिनास्त्रिविधमितरेषाम्॥

इस सूत्र पर व्यासभाष्य पढ़िये :—

चतुष्पदी खल्वियं कर्मजातिः—कृष्णाशुक्ल अकृष्णाशुक्ला, अशुक्ला कृष्णा चेति, तत्र कृष्णा दुरात्मनां, शुक्लकृष्णा वहिः साधन साध्या तत्र परपीडाऽनुग्रहद्वारेण कर्माशिय प्रचयः। शुक्ला तपः स्वाध्यायवतां सा हि केवलं मनुष्याणां यत्तत्वाद् वहिः साधनाधीना न परान् पीडयित्वा भवति. अशुक्लाकृष्णा सन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरम देहिनामिति, तत्राकृष्णं योगिन एव फलसन्यासाद् अकृष्णं चानुपादीनाद् इलरेषाम् तु भूतानां पूर्वमेव त्रिविधमिति ।।

अर्थात्–कर्मजाति चार प्रकार की मानी गयी है जिसमें प्रथम पापकर्म, दूसरे पाप-पुण्य मिले जुले, तीसरे पुण्य के और चौथे न पुण्य के न पाप के। यहाँ पर पापकर्म दुरात्माओं के होते हैं, पाप और पुण्य के मिले-जुले एवं केवल पुण्य-पुण्य के ये कर्म सांसारिक लोगों के हुआ करते हैं।

जिनके अन्दर पाप और पुण्य का मिश्रण नहीं होता ऐसे कर्म क्षीण-क्लेश योगियों के हुआ करते हैं। इसलिए क्षीण क्लेश योगियों का पाप-पुण्य के फल का प्रदाता कर्माशिय नहीं हुआ करता। जो साधक दृढ़तर अभ्यास में संलग्न रहते हैं वे अपने पाप-पुण्य के देने वाले कर्माशिय को खत्म करके निष्काम-कर्मयोगी वन जाया करते हैं और वे लोग किसी प्रकार किसी के भी वन्धन में नहीं रहा करते। इसलिए कर्मफलासक्त प्राणी संसार में पाप-पुण्य रूपी फल के देने वाले कर्माशिय के उपभोक्ता वने रहते हैं। जो प्राणी पाप-पुण्य के झमेले से निकलकर लोक-संग्रह के लिए कर्म करते हैं वे निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को समझकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनें मुखारविन्द से स्पष्ट कहा है :—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो, यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः, चिकीर्षुः लोक संग्रहम् ।।

अर्थात्–पाप-पुण्य के फल के उपभोक्ता जिस प्रकार से कर्मफल में आसक्ति रखकर कर्म करते हैं इसी प्रकार विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह कर्मफल की इच्छा को त्यागकर कर्म करता रहे। ऐसा करने से निश्चय ही साधक वर्ग कर्मवन्धन से छूट जायेगा।

———

सातवां परिच्छेद

चित्तवृत्तियाँ एवं उनके लक्षण

भगवान् पतंजलिदेव ने "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:" कह करके योग की परिभाषा बतलाई तथा इसी सूत्र में निरोध की परिभाषा लिखी। इस सूत्र में 'सर्व चित्त वृत्ति निरोधः' ऐसा नहीं कहा गया। इसलिए श्री पतंजलिदेव के मन्तव्य में सम्प्रज्ञात समाधि भी योग की परिभाषा के अन्तर्गत है। यदि श्री पतंजलिदेव 'योगस्सर्व चित्तवृत्ति निरोधः' ऐसा कहते तो वह लक्षण केवलमात्र असम्प्रज्ञात समाधि पर ही लागू होता था। क्योंकि चित्तवृत्ति प्रवाह असम्प्रज्ञात तक थोड़ा बहुत चलता ही है। जहाँ पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है वहाँ पर चित्तवृत्तियों का गुणाधिकार भी खत्म होने लगता है। वहीं से असम्प्रज्ञात योग का प्रारम्भ होता है। क्योंकि इस सूत्र के अन्दर श्री पतंजलिदेव महाराज ने 'सर्व' शब्द को ग्रहण नहीं किया। इसलिए यह लक्षण सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग की दोनों समाधियों पर लागू होता है। प्रख्या-प्रवृत्ति एवं स्थितिशील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है। जिस समय हमारा यह चित्त प्रख्यारूप होकर रज और तम द्वारा आक्रमित होता है उस समय वैभव विविध ऐश्वर्यों को अपना लक्ष्य वनाता है एवं जिस समय प्रख्यारूप चित्त सत्व-तम से दवाया जाता है उस समय वही चित्त तमोगुण से घिरा हुआ होने के कारण अधर्म, अज्ञान एवं अनैश्वर्यता अर्थात् दारिद्र्य को प्राप्त होता है और जिस समय यह चित्त रजोमात्रयान्विद्ध होता है तव मोहावरण के नष्ट हो जाने पर सर्वथा प्रकाशमान-धर्म-ज्ञान-वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। इसके वाद रजोगुण की जो अंश-मात्रा शेष थी वह भी योगी के अभ्यासवल से समाप्त हो जाती है और चित्त स्वरूप-प्रतिष्ठ हो जाता है एवं प्रकृति-पुरुष का विवेचनात्मक ज्ञान परिपक्व हो जाने पर धर्म विवेक समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। वही योगियों का परं प्रख्यान है। वैसे चित्त-शक्ति अपरिणामिनी, अप्रतिशंक्रमा, दर्शित विषया एवं अनन्त सत्वगुणात्मिका शास्त्रों में कही गयी है और प्रकृति-पुरुष का भिन्न-भिन्न ज्ञान विवेक-ख्याति कहलाता है। अतः उसमें भी विरक्त हुआ चित्त उस ख्याति को भी रोक देता है। वहाँ पर चित्त की स्थिति संस्कार-मात्र से ही है। इस स्थिति को प्राप्त होने वाला योगी जीवन-मुक्त हो जाता है। इसी का नाम निर्बीज समाधि है। यहाँ पर यह प्रश्न किया गया है :—

तदवस्थे चेतसि विषयाभावाद् बुद्धि बोधात्मा पुरुषः किं स्वभाव इति।

अर्थात्—इस अवस्था में विषय का अभाव हो जाने पर बुद्धि-बोधात्मा पुरुष कैसे स्वभाव वाला होता है ? इसके उत्तर में भगवान पतंजलिदेव ने कहा है—

तदा दृष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ।

तव जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है । योगी जिस समय निर्बीज समाधि में समाधिस्थ होता है उस समय वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है, किन्तु ज्योंही समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृत्ति सारूप्य को प्राप्त हो जाता है । भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं :—

वृत्ति सारूप्यमितरत्र ।

व्युत्थाने या चित्तवृत्तयस्तद् विशिष्ट वृत्तिः पुरुषः तथा च सूत्रम् एकमेव दर्शन ख्यातिरेव दर्शनमिति ।

अर्थात्—व्युत्थान के समय जैसी चित्त वृत्ति होती हैं, पुरुष उनमें मिला हुआ सा ही रहता है । क्योंकि :—

चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं संनिधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः तस्माच्चित्तवृत्ति बोधे पुरुषस्यानादि सम्वन्धो हेतुः ॥

क्योंकि अयस्कान्त मणि के समान चित्त पुरुष के लिए सन्निधि मात्रोपकारि है और पुरुष का अपना स्वत्व है । जिस प्रकार दर्पण में ज्वाला कुसुम सामने करने से पुष्पाकृति भाषित रहती है जब कि उसमें कोई फूल होता नहीं है इसी प्रकार चित्त भी संनिधि मात्रोपकारि है । अतः चित्त में पुरुष भाषित होता रहता है वस्तुतः होता नहीं है । इसलिए चित्तवृत्ति बोध में वस्तु का अनादि सम्वन्ध ही कारण है । क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है इसलिए उनकी वृत्तियाँ भी गुणतारतम्य से अनेक रूप में प्रकट होती रहती हैं ।

योगदर्शनकार भगवान् पतंजलिदेव ने चित्तवृत्तियों को पाँच प्रकार से माना है । उन पाँचों प्रकारों में भी क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप से दो विशेष भेद हैं ।

क्लेशहेतुकाः कर्माशय प्रचय क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः, ख्यातिविषया गुणाधिकार विरोधिन्योऽक्लिष्टाः क्लिष्ट प्रवाह पतिता अप्याक्लिष्टाः, क्लिष्टछिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टछिद्रेषु क्लिष्टा इति । तथा जातीयकाः संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं वृत्तिसंस्कार चक्रमनिशमावर्तते । तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति, ताः क्लिष्टाश्चाक्लिष्टाश्च पंचधा वृत्तयः ॥

जो वृत्तियाँ कर्माशय प्रचय में क्षेत्रीभूता हैं—अर्थात् जिनके कारण कर्माशय बनता रहता है ऐसी वृत्तियाँ क्लेशों की कारणभूता क्लिष्टा कहलाती हैं । जो वृत्तियाँ गुणाधि-

कार विरोधिनी हैं और विवेक ख्याति की ओर वढ़ाती हैं वे वृत्तियाँ अक्लिष्टा कहलाती हैं, किन्तु प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है कि क्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में अक्लिष्टा और अक्लिष्ट वृत्तियों के प्रवाह में क्लिष्टा वृत्तियों का उदय देखने में आता है। इस प्रकार से वृत्ति संसार-चक्र रात-दिन चलता रहता है। इस प्रकार से साधक ज्यों-ज्यों विवेक-ख्याति की ओर वढ़ता है त्यों-त्यों चित्त के अधिकार समाप्त होते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में चित्त आत्मरूप में ठहरता है या प्रकृति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार क्लिष्टाक्लिष्ट भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। वही पाँच प्रकार की वृत्तियाँ क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूपों में वदलती रहती हैं। वृत्तियों के पाँच प्रकारः ––

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृतयः ।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति यह पाँच प्रकार की वृत्ति अपने विभिन्न रूपों में जाकर क्लिष्टा और अक्लिष्टा रूप धारण करती रहती हैं। जैसे प्रमाण वृत्ति :––

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

व्यासभाष्य :––इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।

फलमवशिष्ट पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः अनुमेयस्य तुल्य जातीयेष्वनुवृत्तो भिन्न जातीयेभ्यो व्यावृत्तः संवन्धो यः तद्विषया सामान्यावधारण प्रधाना वृत्तिरनुमानम् ।

यथा देशान्तरप्राप्ते गतिम् चन्द्रतारकं। चैत्रवद् विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः, आप्तेन दृष्टोऽनुमितोवाऽर्थ परत्र स्ववोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते शब्दात्तदर्थ विषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणः––अक्ष्णोर्विषयं प्रत्यक्षम् ।

अर्थात् जो वस्तु आँखों का विषय हो वह प्रत्यक्ष है। अर्थात् आँखों देखी वात को ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में माना जाता है। हर वस्तु के दो रूप होते हैं––एक सामान्य दूसरा विशेष। जैसे कहीं जंगल में कोई गौ चर रही है कोई मनुष्य दूर से देखकर अनुमान पूर्वक कहता है कि––यह गौ मालूम पड़ती है किन्तु कह नहीं सकते कि––गौ ही है या कोई और पशु ? इस प्रकार विचारते-विचारते जव मनुष्य उस पशु के पास पहुंचता है तो देखता है कि वह और कोई पशु नहीं है प्रत्युत गौ ही है। इसलिए इन्द्रिय प्रणालिका

के द्वारा सामान्य विशेषात्मक अर्थ का विशेष रूप धारण करने वाली वृति को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा गया है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण का फल ही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है। क्योंकि पुरुष जो है वह बुद्धि बोधात्मा है। साधक ज्योंही पुरुष साक्षात्कार के लिए ध्यान का अभ्यास करता है प्रभु की कृपा से उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि हो जाती है। जिसका फल यह निकलता है कि ध्याता सत्वाविष्ट पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध को प्राप्त होता है। जव तक गुण वृत्ति बोध सम्वन्ध रहता है तव तक यही पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध है। गुण सम्वन्ध टूट जाने के वाद गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है और आत्मा केवलीभाव को प्राप्त हो जाता है।

दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है, जो वृत्ति अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु में लगी होती है और उसके विपरीत विजातीय वस्तु से हटी हुई होती है सामान्य विशेषात्मक अर्थों में सामान्य को धारण करने वाली वृत्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति यह कहता है कि गतिमान ही एक देश से दूसरे देश जा सकता है। जिसमें गति नहीं वह एक ही जगह कायम रहा करता है। जैसे तारे और चन्द्रमा गतिवाले हैं क्योंकि उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना मालूम होता है और विन्ध्याचल पर्वत अगति है क्योंकि वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता नहीं दिखायी देता प्रत्युत एक ही जगह कायम रहता है। एक जगह उसका कायम रहना ही अगति का द्योतक है। इसी का नाम अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण में यद्यपि साधक की दृष्टि सामान्य विशेषात्मक अर्थ के सामान्य रूप को ही धारण करती है किन्तु वह सामान्य अर्थ भी विशेषार्थ का निश्चय कराता है जैसे—कोई व्यक्ति कहे कि पर्वत से धुआँ निकल रहा है। इसलिए जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग का होना भी जरूरी है। क्योंकि "यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्रैवाग्निः"। इसलिए अनुमान प्रमाण भी विशेषार्थ को प्रकट करता हैं। साधक जिस समय ध्यानाभ्यास करना प्रारम्भ करता है उस समय आत्म-साक्षात्कार के लक्षण—प्रातिभ, श्रावण, वेदना, दर्शनादि ज्योंही प्रकट होने लगते हैं त्योंही साधक अनुमान वृत्ति से भली प्रकार जान लेता है कि जहाँ पर प्रातिभ श्रावणादि लक्षण प्रकट हो जाते हैं वहाँ ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। यही अनुमान प्रमाण के द्वारा पौरुषेय चित्त वृत्ति बोध का रूपक है।

आगम प्रमाण—आप्त पुरुष के द्वारा देखा हुआ या सुना हुआ अर्थ दूसरों को अपना ज्ञान पहुंचाने के लिए वाणी के द्वारा कहा जाता है। इसी को श्रोताओं के हितार्थ आगम प्रमाण कहते हैं।

जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ होता है वही आगम पतन से रहित होता है और जिसका वक्ता दृष्टानुमितार्थ नहीं होता उसका वचन भी कदापि सत्य नहीं होता। इसलिए

दृष्टानुमितार्थ वक्ता ही पौरुषेय वृत्ति-बोध में कारण हो सकता है अन्यथा नहीं। यही कारण है कि हमारे ऋषि-मुनियों की वाणियाँ आज भी सफल मालूम होती हैं और आजकल के अदृष्टानुमितार्थक अश्रद्धेय वक्ताओं की वाणी कभी भी यथार्थ देखने में नहीं आती। यही कारण है कि आज के युग में भविष्य वक्ताओं की वाणियाँ अयथार्थ होती हैं।

इस विषय में मुझे एक वात याद आ रही है :—मैं एक वार एक स्थान पर योग प्रचारार्थ गया था। वहाँ पर एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि तीन महीने के अन्दर अन्दर अवश्य प्रलय आ जायेगी। मैंने तीन महीने उसी प्रान्त में वास किया किन्तु उसकी वाणी लेशमात्र भी सत्य नहीं हुई क्योंकि वक्ता अयथार्थ था और दृष्टानुमितार्थ नहीं था।

अव तक प्रमाण वृत्ति का परिणाम रूप यहाँ समझाया गया। अव इससे आगे विपर्यय वृत्ति को वतलाते हैं, जिसको अविद्या रूप से कहा गया है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्।

यथार्थ रूप में स्थित न होने वाले ज्ञान को विपर्यय (मिथ्या) ज्ञान कहा गया है। यह ज्ञान एक प्रकार का भ्रान्तिदर्शन एवं अविद्या कहा जाता है। कोई-कोई लोग इस विपर्यय ज्ञान को भी प्रमाण-वृत्ति के अन्दर समावेशित करने की चेष्टा करते हैं किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। प्रमाण-वृत्ति का विषय पहले सूत्र में खोलकर वतला दिया गया है। उसमें प्रमाण के द्वारा अप्रमाण का वाद हो जाता है। जैसे आँख की विकृति से या आँख को दवाने से एक-एक वस्तु की दो-दो वस्तु दीखने लगती है यथार्थ में वस्तु एक ही होती है दो नहीं। यदि आँख को दवाने से दो चन्द्रमा दिखायी देने लग जायं तो इसका यह अर्थ नहीं कि एक चन्द्रमा के दो चन्द्रमा हो गये। चन्द्रमा एक ही है दूसरे चन्द्रमा का दीखना भ्रान्ति दर्शन है। इसलिए वह प्रामाणिक वात नहीं मानी जाती प्रत्युत अविद्या है क्योंकि वह अतद् रूप प्रतिष्ठित है। अव इससे आगे विकल्प वृत्ति का वर्णन करते हैं :—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।

स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च। वस्तु शून्यत्वेऽपि शव्दज्ञान माहात्म्य-निवन्धनो व्यवहारो दृश्यते तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चितिरेव पुरुषः तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशे वृत्तिर्यथा चैत्रस्य गौरिति।

सूत्र में वहुत ही सरल और सीधे शव्दों में भगवान् पतंजलिदेव ने वतला दिया कि— शव्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति विकल्प-वृत्ति है। शव्द-ज्ञान से दो वस्तु भासित

तो होती हैं वस्तुतः होती नहीं। यह विकल्प वृत्ति न प्रमाण में लगायी जा सकती है और न मिथ्या ज्ञान में क्योंकि वह वस्तु-सत्ता कुछ भी नहीं है। किन्तु शब्द ज्ञान से भाषित होती है। जैसे कोई कहे कि चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है वस्तुतः चेतनता पुरुष का रूप नहीं है प्रत्युत चितिरेव पुरुषः चेतनता ही पुरुष का स्वरूप है ये शब्द चेतनता को पुरुष का धर्म वतला रहे हैं किन्तु चेतनता पुरुष का धर्म नहीं प्रत्युत चेतनता ही पुरुष है इसलिए वस्तुशून्य शब्द ज्ञान का अनुपतन करने वाली वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं।

इसके वाद निद्रावृत्ति का वर्णन करते हैं। अभाव प्रत्ययावलम्वना वृत्तिर्निद्रा।

अर्थात् बोध के अभाव का आश्रय लेने वाली वृत्ति को निद्रावृत्ति कहते हैं। जिस समय मनुष्य सुषुप्ति में पहुंच जाता है उस समय सभी प्रकार के ज्ञान का अभाव हो जाता है। अर्थात् ज्ञान भाषित नहीं होता। इसलिए निद्रावृत्ति अभाव के कारण का ही आश्रय लेती है। सभी प्रकार के ज्ञान की शून्यता रहती है इसलिए इस वृत्ति को अभावाश्रित माना गया है किन्तु है वृत्ति ही। क्योंकि सोने के वाद में जव मनुष्य उठता है तव उसको अपनी निद्रावृत्ति का ज्ञान अवश्य होता है कि आज तो मैं वहुत सुख पूर्वक सोया या दुःखपूर्वक सोया। चित्तवृत्ति को दुःख और सुख के साथ सोने का आभास वना रहता है। देखिये इस सूत्र पर व्यास जी का भाष्य :—

सा च संप्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्यय विशेषः। कथं सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञा मे विशारदी करोति। दुखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनोभ्रमत्वनवस्थितम्। गाढ़ं-मूढ़ोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे, तदाश्रिता स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर प्रत्ययवन्निरोद्धव्येति।

अभाव प्रत्यय का अवलम्व लेने वाली वृत्ति प्रबोधकाल में एक विशेष ज्ञान को पैदा करती है। इसलिए वह प्रत्यय विशेष है। जैसे—आज मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, बुद्धि प्रकाश कर रही है, मेरी बुद्धि विक्षिप्त है। मैं आज बिल्कुल नहीं सोया, मेरा मन अकर्मण्य सा हो रहा है। आज मैं अत्यन्त गाढ़ निद्रा में सोया। मेरे शरीर के अंग भारी हो रहे हैं, चित्त अत्यन्त व्याकुल है, आलस्य युक्त मन चुराया सा हो रहा है।

यदि निद्रा को वृत्ति न माना जाय तो जागने पर इस प्रकार के विचार मन में न आयें, क्योंकि वृत्तियों के अनुभव के विना वृत्तियों का आश्रय लेने वाली स्मृतियाँ उस विषय की नहीं होनी चाहिए।

इसलिए निद्रा भी अन्य वृत्तियों की तरह एक वृत्ति है। समाधिबल से इसका

भी निरोध होना चाहिए। पाँचवीं वृत्ति स्मृति है। स्मृति का लक्षण भगवान् पतंजलि-देव इस प्रकार करते हैं :—

अनुभूतविषया संप्रमोषः स्मृतिः ।

अनुभव किये विषय का न चुराया जाना स्मृति कहलाती है। इस सूत्र पर प्रश्नोत्तर लिये हुए व्यास भाष्य की पंक्तियाँ पढ़िये :—

किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति ? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्य ग्रहणो भवाकार निर्भासस्तथा जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जन-स्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकं स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकार पूर्वा स्मृतिः, सा च द्वयी-भावितस्मर्त्तव्या चाभावितस्मर्त्तव्या च स्वप्ने भावित स्मर्त्तव्या जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्त्तव्येति सर्वाः स्मृतयः प्रमाण विपर्य्यय विकल्प निद्रा स्मृतीनामभावाद् भवन्ति सर्वाश्चैताः वृत्तयः सुख दुःख मोहात्मिकाः। सुख दुःख मोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः सुखानुशयी रागः, दुःखानुशयी द्वेषः मोहः पुनरविद्येति एता सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः। आसां निरोधे संप्रज्ञातो वा समाधिर्भवत्यसंप्रज्ञातो वेति।

ऊपर के सूत्र में यह वतलाया गया है कि अनुभूत विषय का न चुराया जाना ही स्मृति है। यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि पूर्वकाल में अनुभव की वृत्तियों को भी चित्त स्मरण करता है या विषय को ? ग्राह्य विषय के अन्दर लगा हुआ बुद्धि का ज्ञान ग्राह्य ग्रहण उभयाकार में भाषित होने वाला उसी प्रकार के संस्कार उत्पन्न करता है और वह संस्कार अपने कारण के आकार से बोधक होता हुआ ग्राह्य ग्रहणाकार स्मृति को जन्म देता है, उनमें से ग्रहण स्वरूप वाली बुद्धि और विषय के स्वरूप वाली स्मृति दो प्रकार की मानी गयी हैं। एक का नाम भावित स्मृति तथा दूसरे का नाम अभावित स्मृति हैं। अर्थात् एक स्मृति वह जो इस समय विद्यमान से वनती है और दूसरी वह जो अविद्यमान पदार्थों के स्मरण से बनती है। स्वप्नावस्था में जिन पदार्थों का स्मरण होता है वे जाग्रता-वस्था में देखे हुए होते हैं। इसीलिए इसको भावितव्यास्मृति कहते है और जो जाग्रत अवस्था में स्वप्नावस्था के पदार्थों की स्मृति होती है वह अभावितव्यास्मृति कहलाती है। ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति इन पाँचों के अनुभव से पैदा होती हैं। ये सव स्मृतियाँ सुख दुःख एवं मोह रूप हैं। सुख दुःख मोह आदि क्लेशों के अन्तर्गत वतलाये गये हैं। जैसेः—सुखानुशयी रागः।

सुख भोग के वाद जो सुख की वासनायें मन में रह जाती हैं वही राग कहलाता है। "दुःखानुशयी द्वेषः" दुःख भोगने के वाद दुःख भोग के कारण भूत साधनों पर जो क्रोध पैदा होता है उसी को द्वेष कहते हैं। मोह नाम अविद्या का है। ये सभी वृत्तियाँ निरोद्धव्या

हैं। इनके निरोध करने के लिए संप्रज्ञात योग ही प्रधान उपाय है, जिसके लिए भगवान् पतंजलिदेव ने—

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-स्मृति आदि लक्षण वतलाये उनके आरम्भ में ही "चित्त-वृत्तिनिरोधः योगः" कह करके चित्तवृत्तियों के निरोध का आशीर्वाद दिया। ग्राह्य-ग्रहण उभयात्मक ज्ञान चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा ही हटाया जा सकता है। अन्य और कोई उपाय नहीं है। इसी कारण भगवान् पतंजलिदेव ने चित्तवृत्ति निरोधः कह करके निरोध को ही योग वतलाया और निरोध के उपायों का भी वर्णन किया।

चित्त की वृत्तियाँ शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण कर लें किन्तु वे सव के सव प्रमाण-विपर्य्यय-विकल्प-निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती हैं। इन वृत्तियों के निरोध हो जाने पर छोटी-मोटी सभी वृत्तियाँ स्वतः ही निरुद्ध हो जायेंगी।

हमारे सव प्रकार से परिपूर्ण अनुभव वाले आचार्यों ने इन सभी सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियों को भली प्रकार समझकर प्रमाण-विपर्यय आदि के अन्दर समावेशित करके दिखला दिया। इनके निरोध के लिए क्या करना चाहिए। यह अगले प्रकरण में पढ़िये।

आठवां परिच्छेद

योग एवं वृत्तिसारूप्य

योगदर्शन के प्रणेता भगवान् पतंजलिदेव ने 'योगदर्शन' के प्रारम्भ में ही 'अथ योगानुशासनम्' इस सूत्र के वाद दूसरा सूत्र 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कहकर योग की सही परिभाषा की है। योगाभ्यास करने वाला साधक क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़ एवं एकाग्र रूप चित्त भूमिकाओं से निकलकर निरोधावस्था को प्राप्त होता है। यही जीवात्मा की कैवल्य स्थिति है। दूसरे शब्दों में इसी का नाम निर्बीज-समाधि एवं स्वरूपस्थिति है। निरोध समाधि में जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है, इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' अर्थात् समाधि स्थिति में जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित रहा करता है।

स्वरूप स्थिति क्या है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् व्यासदेव ने इस सूत्र के भाष्य में प्रश्नोत्तर रूप से लिख दिया है—

स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीम् चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये। अर्थात् तदानीं स्थितौस्वरूप प्रतिष्ठा तावत् कीदृशी यथा कैवल्ये चित्शक्तिर्भवति।

अर्थात् निरोध समाधि—जिसका नाम निर्बीज समाधि व स्वस्वरूपावस्थान भी वताया गया है उसमें चित् शक्ति अर्थात् जीवात्मा किस स्थिति में रहा करता है। इसका उत्तर भी केवल दो शब्दों में दे दिया है—'यथा कैवल्ये' यानी मोक्ष में जीवात्मा जैसा हुआ करता है। इसी का नाम 'स्वरूपस्थिति' कहा गया है।

इस स्थिति में पहुंचने पर जीवात्मा के सव दुःख-द्वन्द छूट जाते हैं और उसका स्वरूपावस्थान हो जाता है। यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है कि हमारे शास्त्रों में विशेष रूप से श्रीमद्भगवद्गीता में अखिल लोकपावन जगदात्मा श्रीकृष्ण ने आत्मा को अछेद्य, अदाह्य कहकर उसे विकाररहित वतलाया है। यथा—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥
अछेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

यानी इस आत्मा को शस्त्र काटते नहीं हैं, अग्नि जलाती नहीं है, पानी इसको गीला नहीं करता, वायु इसको सुखा नहीं सकती। यह अछेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है एवं यह सर्वत्र ओत-प्रोत रहने वाला निश्चल और सनातन है।

किन्तु योगदर्शन के "तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" पर भाष्य लिखते हुए समाधि में आत्मा की स्वरूपस्थिति वतला करके 'व्युत्थान चित्ते तु सति तथापि भवन्ति न तथा' अर्थात् व्युत्थान चित्त में चित् शक्ति अछेद्य, अभेद्य रहते हुए भी वैसी नहीं होती क्योंकि वह दर्शित विषया वन जाती है।

इस स्थिति को भगवान् पतंजलिदेव ने 'वृत्ति सारूप्य' कहा है। यथा—वृत्ति-सारूप्यमितरत्र। अर्थात् इतरत्र व्युत्थानावस्था में चैतन्य आत्मा वृत्तिसारूप्य हो जाता है, निरोध जैसी स्थिति नहीं रहती। ऐसी स्थिति में विकार रहित शुद्ध चेतन आत्मा विकारी सा दीखने लगता है और वह अपने सव कार्य बुद्धि बोध के अनुसार किया करता है। स्वस्वरूपोपलब्धि के वहुत से उपायों का वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है किन्तु ऊंची-ऊंची ज्ञान भूमिकायें एवं निर्बीज समाधि में भी पहुंच जाने के वाद भी ज्यों ही चेतन शक्ति बुद्धि वोध को प्राप्त होती है त्योंही वह वृत्तिसारूप्य होने से, जैसी जिसकी अन्तःकरण की वृत्ति होती है वैसी ही वह प्राणी चेष्टा करने लगता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसका संकेत "सदृशं चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि" कहकर दिया है। "प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।" अर्थात् ज्ञानी भी अपने आपको नित्य शुद्ध बुद्ध मनन करते हुए भी जैसा उसका बुद्धिबोध है वैसी हरकतें किया करता है।

यही कारण है कि वड़ी ऊंची स्थिति को प्राप्त हुए महात्माओं के चरित्र उनकी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार दिखलायी देते हैं। भगवान् श्रीराम की मर्यादा पुरुषोत्तमता श्रीकृष्ण की लीला-पुरुषोत्तमता उनकी अपनी-अपनी स्वीकार की गयी प्रकृति की परिचायक है। मेरे गुरुदेव योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज वृत्ति-सारूप्य का पूरा-पूरा स्वरूप समझा देने वाला एक उदाहरण अपने मुखारविन्द से वतलाया करते थे। वृत्ति सारूप्य के स्वरूप को समझाने के लिए मैं उसको यहाँ लिख देना उचित समझता हूं।

सुन्दरसिंह डाकू का उदाहरण

ऋषीकेश से लगभग ७ या ८ मील ऊपर भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर ब्रह्मपुरी नाम का एक जंगल है। हिमालय की यात्रा करते हुए सबसे प्रथम ऋषीकेश से चलने के वाद मेरे गुरुदेव योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने कुछ समय इस जंगल में निवास किया था। जिन दिनों श्री प्रभु जी इस वन में निवास किया करते थे उन्हीं दिनों महात्मा कृपालानन्द नाम के एक सिद्ध योगिराज भी वहाँ निवास करते

थे। उन्होंने अपने आपको शिवमय बना लिया था। भगवान् शिव की शक्तियों पर उनका पूर्ण अधिकार था। वे महात्मा अणिमादिक ऐश्वर्यों से सब प्रकार से परिपूर्ण एवं कर्त्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की ताकत वाले सर्वसमर्थ महात्मा थे। उन्हीं दिनों सुन्दरसिंह नाम का एक डाकू कहीं से डाका डालकर कई हजार का सुनहरी जेवरात लूटकर ले आया था। वह चाहता था कि उस कीमती जेवर को कहीं जंगल में छुपा दे और समय आने पर पुनः वहाँ से निकाल ले जाय। उस डाकू का कोई पूर्व पुण्य उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कहीं से घूमते हुए योगिराज श्री कृपालानन्द जी भी अकस्मात् उधर से आ निकले। उन्होंने उस डाकू की उस क्रिया को देख लिया और उससे कहा कि तू क्या कर रहा है?

डाकू ने उत्तर दिया—महाराज! मैं डाकू हूँ। डाका डालकर कुछ धन यहाँ ले आया हूं और उसको यहाँ दबा रहा हूं, ताकि कालान्तर में आवश्यकता पड़ने पर मैं यहाँ से निकाल ले जाऊं। महाराज! मैं डाकू हूँ और यही मेरी वृत्ति है। योगिराज श्री कृपालानन्द जी उसकी स्पष्टवादिता एवं विनय पर प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा कि क्या तू हमारी आज्ञा पर इस कुकर्म को छोड़ देगा और जो कुछ हम कहें वह काम करेगा ?

डाकू ने योगिराज की इस बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और निस्संकोच कहा—प्रभो! आप जो कुछ भी कहेंगे, मैं उसका सर्वथा पालन करने को तैयार हूं। आज्ञा कीजिये कि मैं क्या करूं? योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने किसी पूर्वपुण्यवश उस डाकू के विनयपूर्ण वचनों को सुनकर आज्ञा दी कि अच्छा यह जितना जेवर तुम यहाँ छिपाने के लिए लाये हो इसको उठा लाओ और हमारे साथ चलो। उस डाकू ने अपना सौभाग्य समझ कर तत्काल योगिराज की आज्ञा को मान लिया और जेवरों की गठरी उठाकर उनके साथ चल दिया। महात्मा जी उसको गंगा किनारे ले गये और वहाँ ले जाकर आज्ञा दी कि अच्छा अब इन सब जेवरों को यहाँ गंगा जी में फेंक दो। डाकू ने योगिराज की आज्ञा मानकर सब जेवर गंगा जी में फेंक दिये और स्वयं निर्द्वन्द हो गया। योगिराज श्री कृपालानन्द जी की अहैतुकी कृपा से वह उसी समय से सम्प्रज्ञात योग का विद्यार्थी बन गया और उत्तरोत्तर उसका आत्मोत्थान होने लगा। योगिराज श्री कृपालानन्द जी ने उस सुन्दरसिंह नामक डाकू को योगिराज सुन्दरगिरि नाम में परिवर्तित कर दिया। शनैः-शनैः अपने तीव्रतम योगाभ्यास एवं शुभाचरण के फल-स्वरूप वह अणिमादिक सकल ऐश्वर्यों को पा गया, किन्तु योगिराज सुन्दरगिरि के सर्वसमर्थ हो जाने के बाद ही वृत्तिसारूप्य के फलस्वरूप जिस समय वे अपनी निर्बीज समाधि से उठकर वृत्ति सारूप्य को प्राप्त होते, त्योंही अपने डाकू स्वभाव के अनुसार चेष्टायें किया करते थे, क्योंकि ,स्वभावो हि दुस्त्यजः पुंसाम्' यह स्वभाव एक प्रकार से

वृत्तिसारूप्य ही है। इसी बात का संकेत करते हुए जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में कह दिया :—

स्वभावजेन कौन्तेय, निवद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

अर्थात्–हे अर्जुन ! मनुष्य अपने स्वभाव से निवद्ध है। जिन कर्मों को तू मोहवश नहीं करना चाहता, वे सब कर्म विवश होकर तुम्हें करने ही पड़ेंगे। यह नियम साधु, महात्मा, सन्यासी एवं साधारण जीव सभी पर सामान्य रूप से लागू है।

योगी सुन्दरगिरि एक बार हरिद्वार कुम्भ पर आये। कई सौ की तादाद में उनकी शिष्य मण्डली उनके साथ थी। इतने वड़े समुदाय के लिए अन्न-क्षेत्र की वड़ी भारी आवश्यकता थी। योगी सुन्दरगिरि ने देखा कि इस कुम्भ के मेले में एक वहुत वड़े सेठ आये हुए हैं जिनसे इस अभाव की पूर्त्ति करानी चाहिए। योगी सुन्दरगिरि सर्वसमर्थ थे, चाहते तो उस सेठ जी के मन में प्रेरणा करके भी उस काम को करा सकते थे, किन्तु उन्होंने वैसा न करके अपने एक शिष्य के द्वारा एक आज्ञापत्र लिखकर भेज दिया कि इतनी बोरी खांड, इतनी बोरी आटा, इतने कनस्तर घी के, इतनी-इतनी साग-सब्जी व अन्यान्य सामान तत्काल भेज दो। सेठ जी ने जव इतने अधिक सामान को भेजने में आनाकानी की तो योगी सुन्दरगिरि ने प्राणाकर्षिणी विद्या से उनके प्राणों को खींचना आरम्भ कर दिया और जो काम साधारण प्रेरणामात्र से कराया जा सकता था उसे कठिन आकर्षण से जवरदस्ती कराया। इसी का नाम वृत्तिसारूप्य है। सर्वसाधारण प्राणी सदा वृत्तिसारूप्य में रहा करते हैं। केवल मात्र युक्त योगी, जिसने अपने कठिन प्रयास से निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लिया है, वे ही देह धारण करते हुए भी निर्बीज समाधि में स्वरूपावस्थित होते हैं। जो लोग विना परिश्रम के एवं बिना तपश्चर्या के सिद्धानुग्रह को पाकर उच्चतम स्थितियों को पा जाया करते हैं वे वृत्तिसारूप्य को प्राप्त होकर अपने स्वभाववश पाप-पुण्य के झमेले खरीद लिया करते हैं। इसलिए जहाँ योगी अपने समाधिरूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है वहाँ अपने क्लिष्ट वृत्तियों के नाश करने के लिए तीव्रतम तपश्चर्या अथवा योगांगों के अनुष्ठान की उसे भारी आवश्यकता रहती है, जिससे इसी शरीर के अन्दर रज और तम के क्षय हो जाने के बाद सतोमयी शुभ वृत्तियों का उदय हो जाय तथा वृत्तिसारूप्यकाल में उससे शुभ कार्य ही हो सकें।

नवां परिच्छेद

योग का अधिकारी कौन ?

योग विद्या की तो इतनी महत्ता है कि उसमें मंद से भी मंद साधक अपने अधिकारानुसार साधन करने से अपने चरम लक्ष्य को पा ही जाता है। उन्नति से रुक जाने का कारण केवल अनधिकार चेष्टा है। इसीलिए हमारे शास्त्रों में स्थान-स्थान पर यह आदेश दिये गये हैं कि––

गोपनीयं गोपनीयं,
गोपनीयं च प्रयत्नतः।
दत्ते च सिद्धि हानि-,
स्यात्तस्माद्यत्नेन गोपयेत् ॥

अर्थात्–विद्या को छिपाकर रखना चाहिए। यदि विद्या किसी अनधिकारी को प्राप्त हो जाती है तो वह इस प्रकार नष्ट हो जाया करती है जैसे ऊसर भूमि में बोया बीज नष्ट हो जाया करता है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि हम उत्तम शास्त्रीय उपदेश को किसी से कहें ही नहीं। अपने ही अन्दर उसे छिपाये हुए ले जायें। ऐसा करने से तो संसार की वहुत हानि होगी। प्रत्युत् जो उस विद्या के अधिकारी हैं वे उसको पाकर अपने को कृतार्थ कर सकते हैं। उनको वे रहस्य अवश्य वतलाने चाहिए।

जगदात्मा अखिललोक-पावन श्री कृष्णचन्द्र ने अर्जुन को गीता के ज्ञान का परमोपदेश देकर उसको सर्व प्रकार से कृतार्थ कर दिया और पूर्ण विश्वास दिलाते हुए यह स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि––

सर्व धर्मान्परित्यज्य,
मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो,
मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

अर्थात्–हे अर्जुन तुम सव धर्म और पुण्यों के झमेलों को छोड़कर मेरी एक की शरण हो जा, मैं तुझे सब प्रकार के पापों से छुड़ा दूंगा। इस प्रकार सारी गीता सुना देने एवं पाप-मोचन के लिए अपना पूरा-पूरा उत्तरदायित्व ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी अधिकार एवं अनधिकार की मीमांसा को समझाने के लिए ये शब्द तो कह ही दिये––

इदं ते नातपस्काय
नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं
न च मां योऽभ्यसूयति ॥
य इमं परमं गुह्यं
मद्भक्तेष्वभिधारयति।
भक्ति मयि परां कृत्वा
मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

अर्थात्–हे अर्जुन ! मेरा वतलाया हुआ यह गीताज्ञान जो तपस्वी और सेवक नहीं हैं, अभक्त है और मुझसे द्वेष करते हैं उनको कभी नहीं वतलाना चाहिए। किन्तु कहाँ वतलाना उचित है, यह भी जगदात्मा अपने श्रीमुख से वतला रहे हैं कि जो मेरे कहे हुए इस ज्ञान एवं गुह्य विद्या को मेरे भक्तों में वतलायेगा वह व्यक्ति मेरी पराभक्ति को पाकर मुझको प्राप्त हो जायेगा इसमें कोई भी शंका की वात नहीं है।

यह सव कह देने के पश्चात् और भी वल के साथ पुनः कह दिया कि—

न च तस्मान्मनुष्येषु
कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे
तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

अर्थात्–जो मेरे इस संदेश को मेरे भक्तों में वतलायेगा, वह व्यक्ति मुझे अत्यन्त प्रिय है। उससे बढ़कर प्रिय मुझे और कोई नहीं हो सकता। इन शब्दों को पढ़कर हर व्यक्ति अनुमान लगा सकता है कि जगदात्मा श्रीकृष्ण के हृदय में गीता-ज्ञान-प्रचार के के लिए कितने ऊंचे और उत्कृष्ट भाव हैं। किन्तु अभक्त, निन्दक, द्वेष करने वाले एवं तपश्चर्या-रहित व्यक्तियों के लिए नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अधिकारी ही विद्या को प्राप्त कर सकता है। अधिकार शब्द का अर्थ है—कार्यारम्भया-सामर्थ्य। जिस व्यक्ति के अन्दर कार्य करने की सामर्थ्य है, वह उस विद्या का अधिकारी है। जिस प्रकार प्रथम कक्षा में पढ़ने वाला विद्यार्थी एम० ए० और आचार्य के कोर्स का अधिकारी नहीं होता। प्रत्युत वह प्रथम कक्षा उत्तीर्ण होने के अनन्तर द्वितीय कक्षा के ही कोर्स को पढ़ने का अधिकारी हुआ करता है, न कि एम० ए० तथा आचार्य के कोर्स का। यदि उस छात्र के सामने कोई व्यक्ति विना सोचे समझे एम० ए० और आचार्य की पुस्तकें लाकर रख देता है, तो वह उसकी महान् मूर्खता है। उन पुस्तकों से उस विद्यार्थी का किसी भी प्रकार का हित नहीं हो सकता। प्रत्युत अपनी योग्यतानुसार पाठ्य पुस्तकों

के पढ़ने से ही भला होगा। इसी प्रकार विद्या में भी अधिकारी-उत्तमाधिकारी-मन्दाधिकारी आदि-आदि अधिकारियों के भेद हैं। अपने अधिकारानुसार ही मनुष्य श्री गुरुदेव का आदेश प्राप्त करके अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त कर सकता है।

भगवान् आदिनाथ श्री महादेव जी ने 'शिव संहिता' में मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम कह करके चार प्रकार के योगसाधकों का वर्णन किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

चतुर्धा साधको ज्ञेयो
मृदुमध्याधिमात्रकः।
अधिमात्र तमः श्रेष्ठो
भवाब्धौल्लघनः क्षमः ॥

अर्थात्—योगसाधन के अभ्यासी साधकों में मृदु, मध्य, अधिमात्र एवं अधिमात्रतम चार प्रकार के साधक हैं। उनमें से संसार सागर से पार करने के लिए सामर्थ्यवान अधिमात्रतम साधक उच्च श्रेणी का है। अधिमात्रतम साधक के लक्षण भगवान् सदाशिव ने 'शिव संहिता' में इस प्रकार कहे हैं :—

महा वीर्यान्वितोत्साही
मनोज्ञः शौर्यवानपि।
शास्त्रज्ञोऽभ्यास शीलश्च
निर्मोहश्च निराकुलः ॥
नवयौवन सम्पन्नो
मिताहारी जितेन्द्रियः।
निर्भयश्च शुचिर्दाक्षो
दाता सर्व जनाश्रयः ॥
अधिकारी स्थिरो धीमान्
यथेच्छावस्थितः क्षमी।
सुशीलो धर्मचारी च
गुप्तचेष्टः प्रियंवदः ॥
शास्त्र विश्वास सम्पन्नो
देवता गुरु पूजकः।
जनसंग विरक्तश्च
महाव्याधि विवर्जित ॥

अधिमात्र तरो; ज्ञेयः
सर्वं योगस्य साधकः ।
त्रिभिस्संवत्सरैः
सिद्धिरेतस्य नात्र संशयः ।
सर्वं योगाधिकारी स
नात्र कार्याविचारणा ।।

अर्थात्–जो साधक महावीर्यवान्, परमोत्साही, शूरता-सम्पन्न, भावनामात्र से मन की बात को समझने वाला, शास्त्र का ज्ञाता, अभ्यासशील, धैर्यवान, मोह ममता रहित, नवयुवक, अल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय, सब प्रकार से निर्भय, परमशुद्ध, चतुर, प्राणिमात्र के श्रेय के लिए सभी का अवलम्बन-भूत, दान, शील, स्थिर बुद्धि वाला, बुद्धिमान, यथेच्छावस्थित, सर्वाधिकारी एवं क्षमा, शील, सुशील स्वभाव का, धर्माचरण करने वाला, अपनी चेष्टाओं को गुप्त रखने वाला, मृदुभाषी, शास्त्र पर विश्वास रखने वाला, गुरु और देवता की पूजा करने वाला, महाव्याधिरहित एवं जन संसर्ग से विरक्त इस प्रकार का साधक अधिमात्रतम कहा गया है। यह साधक सब प्रकार की योग-साधना का अधिकारी है। इस प्रकार के उत्साही साधक को तीन वर्ष के अभ्यास से ही सकल सिद्धियाँ उपलब्ध हो जाया करती हैं।

दूसरे प्रकार के साधक को भगवान् शिव ने अधिमात्र साधक के नाम से कहा है। उसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः
स्वाधीनो वीर्यवानपि ।
महाशयो दयायुक्तः
क्षमावान् सत्यवानपि ।।
शुरो वयस्थः श्रद्धावान्
गुरुपादाब्ज पूजकः ।
योगाभ्यासरत श्चैव
ज्ञातव्यश्चाधिमात्रकः ।।
एतस्य सिद्धिः षड् वर्षे
भवेदभ्यास योगतः ।
एतस्मै दीयते धीरो
हठयोगश्च सांगतः ।।

अर्थात्–स्थितप्रज्ञ, लययोग के अभ्यास की इच्छा वाला स्वाधीन एवं वीर्यवान, उत्तम विचारों वाला, दयायुक्त, क्षमाशील एवं सत्यवादी, नवयुवक, शूरवीर, श्रद्धावान,

श्री गुरुदेव के चरण कमलों की पूजा करने वाला और योगाभ्यास में रत रहने वाला, इस प्रकार के साधक को अधिमात्र साधक जानना चाहिए। यह साधक हठयोग का अधिकारी है और छः वर्ष के अभ्यास से उसको अवश्य ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

तीसरे प्रकार का साधक मध्य साधक कहा गया है और उसके लक्षण भगवान् शिव ने इस प्रकार निर्देश किये हैं :—

समबुद्धि क्षमायुक्तः
पुण्याकांक्षी प्रियंवदः।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु,
सामान्यः स्यादसंशयः।
एतज्ज्ञात्वैव गुरु,
भिर्दीयते मुक्तितो लयः॥

अर्थात् समबुद्धि, क्षमायुक्त, पुण्याकांक्षी, प्रिय बोलने वाला, सब कार्यों में मध्यस्थ रहने वाला, मध्यस्थ शब्द का अर्थ है—जो प्रसन्नता में अधिक हर्ष को प्राप्त नहीं और किसी शोकप्रद समाचार से एकाएक शोक निमग्न न हो जाये। सब प्रकार से सामान्य भाव से रहने वाला स्थिरबुद्धि युक्त साधक मध्य साधक कहा जाता है। यह साधक लय-योग का अधिकारी है। योग के ये तीन प्रकार के साधक एक प्रकार से उत्कृष्ट ही हैं। सब प्रकार से सिद्धि-भाजन एवं अधिकारी है। इन तीनों के अतिरिक्त भगवान् शिव ने एक मृदु नाम के साधक का और वर्णन किया है। उसके लक्षण इस प्रकार लिखे हैं :—

मन्दोत्साही सुसंमूढो
व्याधिस्थो गुरुदूषकः।
लोभी पापमतिश्चैव
बह्वाशी वनिताश्रयः॥
चपलः कातरो रोगी
पराधीनोऽति निष्ठुरः।
मंदाचारो मन्दवीर्यो
ज्ञातव्यो मृदुमानवः॥
द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धि
रेतस्य यत्नतः परम्।
मन्त्र योगाधिकारी स
ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्॥

अर्थात्–जो मन्दोत्साही हो, मूढ़चित्त, भ्रमित बुद्धि वाला, रोगी, गुरुनिन्दक पापमति, लोभी, स्त्रियों का संगी और अधिक खाने वाला, चपल एवं कातर, अत्यन्त कठोर स्वभाव का, पराधीन एवं रोगी, हीन, वीर्य और मन्दाचारी इस प्रकार का मनुष्य मृदु साधक है अर्थात् सबसे निकृष्ट है। यह साधक केवलमात्र मन्त्र-योग का अधिकारी है। इसको तीव्रतम अभ्यास से १२ वर्ष में सिद्धि प्राप्त होती है।

भगवान् शिव ने यह चार प्रकार के अधिकारी साधकों का वर्णन अपनी 'शिव संहिता' में किया, और इनके साथ ही साथ यह भी वतला दिया कि ये सभी साधक किस-किस योग के अधिकारी हैं। अधिमात्रतम साधक सब योगाधिकारी, अधिमात्र साधक हठयोगाधिकारी, मध्य साधक लययोगाधिकारी एवं मृदु साधक को मन्त्रयोग का अधिकारी वतलाया। इसी का नाम अधिकारी-भेद है । यदि हम मृदु साधक को सर्व योगाधिकारी वना दें या उसको हठयोग की शिक्षा देना आरम्भ कर दें तो वह कभी भी सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह्वाशी, वनिताश्रयी गुरु-दूषकः आदि अवगुण उसके अन्दर पूर्णरूपेण परिपूरित हैं और वह हीन वीर्य एवं मन्दोत्साही है । अतएव किसी भी प्रयत्न को चरम सीमा तक पहुंचा ही नहीं सकता।

इसी प्रकार का निर्देश योगदर्शन के उपदेष्टा भगवान् पतंजलिदेव ने भी अपने योग-दर्शन में स्पष्ट रूप से कर दिया है। जहाँ पर उन्होंने उपाय प्रत्यय एवं भव प्रत्यय के योगियों का वर्णन किया है, वहाँ पर 'श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्' यह सूत्र कहकर उपाय प्रत्यय वाले योगियों का अधिकार वतलाया और वहाँ पर यह भी स्पष्ट रूपेण कह दिया कि––

तत्राधि मात्रो पायानाम् एवं
तीव्र संवेगानामासन्नः समाधि
लाभः समाधि फल च भवतीति।

अर्थात्–जो साधक उत्तमाधिकारी हो, अधिमात्रतम हो उसको अति शीघ्र ही समाधि सिद्धि की प्राप्ति होती है और समाधि सिद्धि को प्राप्त हो जाया करता है।

भगवान् पतंजलिदेव स्पष्ट निर्देश करते हैं :—

मृदु माध्याधि मात्रत्वा
ततोऽपि विशेषः ॥

इस सूत्र पर भगवान् व्यास का भाष्य इस प्रकार है :—

मृदु तीव्रो मध्य तीव्रोऽधि मात्र तीव्र इति ततोऽपि विशेषः तद्विशेषान्मृदु तीव्र संवेगस्या सन्न ततोः, मध्य तीव्र संवेगस्या सन्नतरः, तस्मादधि मात्र तीव्र संवेग स्याधिमात्रो पापस्याप्या सन्नतमः समाधिलाभः समाधि फलञ्चेति ।।

अर्थात्–मृदु साधक और तीव्र संवेग, मध्य साधक तीव्र संवेग इस प्रकार से तीन भेद हो गये। इसी प्रकार से मध्य साधक और तीव्र संवेग, अधिमात्र साधक और तीव्र संवेग, अधिमात्रतम साधक और तीव्र संवेग, इस प्रकार से साधकों के यह तीन-तीन प्रकार के भेद होते चले गये जो साधक जिस संवेग का है उसी प्रकार का उपाय उसको मिलना चाहिए तव वह अपने विषय में शीघ्र सिद्धि को प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार उक्त प्रकरण में भगवान् शिव ने अधिमात्रतम साधक को सर्व योगाधिकारी, अधिमात्र साधक को हठयोगाधिकारी, मध्य साधक को लयाधिकारी और मृदु साधक को मन्त्रयोगाधिकारी वतलाया। ये लोग अपने-अपने अधिकार के अनुसार ही प्रगति कर सकते हैं।

एक अत्यन्त वीर्यवान्, वलयुक्त एवं उत्साही युवक से यदि कोई व्यक्ति यह कह दे कि—'जाओ तुम दौड़कर दस मील से अमुक वस्तु ले आओ' तो वह ले आयेगा। परन्तु यही वात एक मन्दाधिकारी, हीनवीर्य, महाव्याधि ग्रस्त व्यक्ति से कह दीजिये तो वह एक फर्लांग भी दौड़ नहीं सकेगा, प्रत्युत थोड़ी दूर दौड़ने की चेष्टा करने पर ही उसका प्राणान्त हो जायेगा।

इसी प्रकार जो साधक अल्पवीर्य, वासना भोगी और व्याधि ग्रस्त है, ऐसे व्यक्ति को यदि हम हठ और लय की शिक्षा देंगे तो वे साधनायें उसके लिये हानिप्रद सिद्ध होंगी न कि श्रेयस्कर। इसलिए जो मनुष्य जिस विद्या का अधिकारी है, गुरुदेव उसको उसकी हित-बुद्धि से उसी विद्या में प्रवेश कराते हैं। मुझे एक छोटा सा दृष्टान्त स्मरण हो आया, जो यहाँ पर पूर्ण रूपेण घटित होता है।

एक स्थान पर एक महात्मा अपने योग-प्रचार का कार्यक्रम निभा रहे थे। उन्होंने व्याख्यान देते हुए अपने भाषण में कहा कि योग विद्या सार्वभौम विद्या है। इसको हर व्यक्ति प्राप्त कर सकता है। हिन्दू, मुसलमान, यहूदी, पारसी आदि किसी का भी भेद-भाव इसके अन्दर नहीं है। महात्मा सरल चित्त थे। उन्होंने योग विद्या को भूमण्डल के प्राणीमात्र के लिए वतला दिया। उनके कहने का यह अर्थ तो नहीं था कि उस विषय में वे मृदु, मध्य, अधिमात्रतम आदि भेदों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देंगे, किन्तु मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार हर एक प्राणी के मस्तिष्क में न्यारी मतियाँ होती हैं। महात्मा के व्याख्यान को श्रवण करने के अनन्तर, उनको सरल चित्त समझकर, कुछ उच्छृंखल स्वभाव के व्यक्तियों ने योग शिक्षा के लिए कुछ ऐसे व्यक्तियों को तैयार

किया जो निम्न श्रेणी के थे। विद्याहीन एवं वासना-भोगी थे, जिनका परम्परागत कार्य निकृष्टतम था। वे सभी लोग अपनी झाड़ू और टोकरियों को उठाकर महात्मा जी के पास पहुंचे और कहा कि महाराज जी! कल आपका व्याख्यान हमने सुना और सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन सब ने महात्मा द्वारा कथित योग विद्या पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार विषयक बात कहकर स्वयं को योगाभ्यास का इच्छुक बताया। महात्मा जी ने उत्तर दिया—

ठीक है—हमें बड़ी प्रसन्नता है। तुम लोग इस वट वृक्ष के नीचे बैठ जाओ एवं एकाग्र चित्त होकर—

'हरे राम हरे राम,
राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण,
कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

'कलिसंतराणोपनिषद्' में कहे गये इस महामन्त्र का दो घंटे अनवरत जप करो। इस प्रकार करने पर तुम शनैः शनैः उच्चतम योग शिक्षा के अधिकारी बन जाओगे। किन्तु वे लोग वस्तुतः योग शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा से तो आये ही नहीं थे। उन लोगों का लक्ष्य तो केवलमात्र इतना ही था कि देखें हमें महात्मा जी योगोपदेश करेंगे भी या नहीं। जब उन लोगों को इस महामंत्र का उपदेश दिया गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह राम-राम का मंत्र तो हम पहले से ही जानते हैं और सारा संसार जानता है। हम तो उस योग का अभ्यास करेंगे जिस योग का अभ्यास उच्च वर्णों में पैदा होने वाले आपके ब्रह्मचारी कर रहे हैं। महात्मा जी उनकी मनोवृत्तियों को पहचान गये और उन्होंने अपने दो एक हठाभ्यासियों को बुलाकर और बद्ध पद्मासन लगवाकर उनके सामने बैठा दिया और कह दिया कि भाई ठीक है, जो ये लोग अभ्यास कर रहे हैं वही अभ्यास तुम भी करो। अपने पादतलों को उठाकर अपनी जंघा पर जमाओ। और उस जमे हुए पैर पर अपने दूसरे पैर के पादतल को लाकर जंघाओं पर जमा दो। अपने दोनों हाथों को पीठ के पीछे से घुमाकर बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को, इधर दाहिने हाथ से बायें पैर के अंगूठे को पकड़ लो। मेरुदण्ड को सीधा रखकर बैठे रहो। इससे तुम्हारा यह आसन सिद्ध हो जायेगा और तुम्हारा ध्यानाभ्यास बनने लगेगा।

जब उन लोगों ने वह आसन करने की चेष्टा की तो सभी निष्फल रहे और अपने ही मुख से कह उठे कि महाराज जी! यह तो हमारे मतलब की चीज नहीं है। जो वस्तु हमारे योग्य है उसी का हमें उपदेश देने की कृपा करें। अन्ततः वे स्वयं ही इस निर्णय पर आ गये कि उनके लिए यही श्रेष्ठ है कि वे लोग बैठकर कुछ समय तक—

हरे राम हरे राम
राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण
कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस षोडशाक्षर महामंत्र का जाप किया करें। थोड़े दिन पश्चात् शनैः शनैः उनके मनों के अन्दर एकाग्रता आयी और वे लोग अभ्यासी वन गये।

यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने अधिकार-भेद की वात वहुत ही उत्तम और प्रामाणिकता के साथ समझायी है। जो व्यक्ति जिस विद्या का अधिकारी है, वह उसमें प्रगति कर सकता है। यदि अपने अधिकृत विषय को छोड़कर वह इधर-उधर भटकेगा तो अवश्य ही अपने लक्ष्य पथ से पतित हो जायेगा और वहाँ तक नहीं पहुंच सकेगा।

अतः हर व्यक्ति को गुरुदेव की शरण में जाकर, गुरु-उपदेशानुसार अपनी उच्चतम प्रगति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिससे शीघ्रातिशीघ्र परमानन्द एवं शाश्वती-शान्ति की प्राप्ति हो।

दसवां परिच्छेद

भव प्रत्यय और योग

योगियों के दिव्य इतिहास को पढ़कर और उनके दिव्य चरित्रों को सुनकर प्रत्येक मनुष्य के मन में यह भावना पैदा होती है कि मैं योगी वन जाऊं। वह अपने जीवन को चमत्कारिक वनाना चाहता है। वह चाहता है कि मैं संसार के सामने शक्तिपुंज वनकर निकलूँ, संसार वाले मुझे आश्चर्य से देखें, श्रीराम और श्रीकृष्ण का वैभव मेरे अन्दर दिखलायी दे, मैं जो चाहूं कर सकूँ, मेरी यदृच्छा गति हो, मैं गोपीचन्द भतृहरि की तरह अजर-अमर होकर संसार में विचरूं, काकभुसुण्डि की तरह मनुष्य लोक और देवलोक की हजारों प्रलयों को देखता रहूं, किन्तु मैं स्वयं प्रलय के अन्दर विलीन होने वाला प्रलय-भागी जीव न रहूं। ये ही वे भावनायें हैं जो मनुष्य को योगमार्ग में प्रवृत्त होने को वाध्य कर देती हैं।

किन्तु योगप्रतीति कैसे हो ? हम योगमार्ग को कैसे जानें ? ये प्रश्न कुछ इस प्रकार के हैं जिनको मनुष्य हल नहीं कर पाता।

"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के सिद्धान्तानुसार प्राणी अपनी विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को मन में धारण करके अपने मार्ग का चयन करता है किन्तु यह चयन किया हुआ मार्ग उसको लक्ष्य तक पहुंचा भी देगा कि नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। यही कारण रहा कि विभिन्न प्रकार के मतभेदों को मन में धारण करके प्रचारकों ने लोगों के सामने विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों की स्थापना की, मतमतान्तर चलाये एवं अपने आपको दुनिया के सामने नये रूप में प्रस्तुत किया तथा कुछ इने-गिने लोगों को अपने पीछे भी चला लिया किन्तु अन्ततः निष्कर्ष रूप में परिणाम कुछ भी नहीं निकला।

"सूर्य चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" के नियमानुसार उनके सिद्धान्त की भी वही गति हुई। खूव प्रचार किया, व्याख्यान दिये, लोगों के मन में विभिन्न प्रकार के मतभेद पैदा किये, किन्तु जव अपनी ओर आँख उठाकर देखा तो पता चला कि जहाँ के तहाँ खड़े हैं। किसी प्रकार की भी प्रगति नहीं हो पायी। इसका कारण है—अपनी अकर्मण्यता, अज्ञान और बुद्धिलौल्य। हमारे शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य जिन बातों को स्वयं न जानता हो उनके ज्ञान के लिए शास्त्रों का अवलम्ब लेना चाहिए। जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया है :—

य: शास्त्रविधिमुत्सृज्य,
वर्तते कामकारत:।
न स सिद्धिमवाप्नोति,
न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते,
कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं,
कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

हे अर्जुन ! जो मनुष्य शास्त्रविधि को छोड़कर मनमाने ढ़ंग से चलता है वह न सिद्धि को ही पा सकता है, न सुख-शान्ति को और न परम गति को प्राप्त होता है। इसलिए जहाँ पर कार्य और अकार्य की व्यवस्था है वहाँ पर शास्त्र को प्रमाण मान लेना चाहिए तथा शास्त्र विधानोक्त कर्म ही करना चाहिए न कि अभिमान के गर्त में पड़कर विना सिद्धान्तों को जाने-समझे अपना निर्णय दे डाले, केवल लौकिक प्रतिष्ठा को सामने रखकर नेतृत्व का अधिकार वढ़ाये एवं अपने आपको साक्षात् कृतधर्मा समझकर सिद्धान्तों की रचना कर डाले।

मनुष्य को योग प्रतीति कैसे हो, इस विषय में शास्त्रीय निर्णय तीन प्रकार के हैं। वही सब वातें संसार में सर्वत्र देखने में भी आती हैं।

योग प्रतीति का प्रथम प्रकार :–

संसार में कुछ इस प्रकार के व्यक्तियों का प्रादुर्भाव देखने में आता है जो जन्म से ही योग के अभ्यासी थे। उनके अन्दर जन्मजात सिद्धियाँ थीं। उनका समस्त जीवन चमत्कारिक था। उनकी दिव्य कथायें उनकी अलौकिकता को प्रकट करती हैं। उदाहरणार्थ कबीर आदि की कथायें उनकी जन्मजात दिव्यता को वताती हैं। इसी प्रकार गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि के विषय में भी अनेक कथानक मिलते हैं। यह सब उनकी जन्मजात सिद्धियों के परिचायक हैं। अर्थात् ये लोग जन्म ग्रहण करते ही शक्तिमान थे और स्वत: ही इनको योगप्रतीति आरम्भ हो गयी थी। इस विषय में भगवान् पतंजलिदेव अपना निर्णय देते हैं :—

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।
विदेहानां देवानां प्रकृतिलीनानां च भव-प्रत्ययो भवति॥

जिन योगियों को आनन्दानुगति प्राप्त हो जाती है और विशुद्ध सत्व के भावों को अनुभव करते हुए वे लोग उसमें अपने आपको लय कर डालते हैं, उनको देह-धर्मों का

आभास विल्कुल नहीं रहता ऐसे लोग विदेह कहलाते हैं। उनका चित्त साधिकार होता है। इसलिए स्वसंस्कारोपभोग पर्यन्त इन योगियों का चित्त अपने आपको मुक्त समझता है। क्योंकि वह साधिकार है, परानुभूति को नहीं पहुंच सका है। अतः उसको जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इसी प्रकार से जो योगी अभ्यास करते करते प्रकृतिलीन हो जाते हैं उनका भी चित्त साधिकार होने से जन्म-ग्रहण करता है और उसको भी जन्म से योग प्रतीति हो जाया करती है। देखिये इस सूत्र पर भगवान् व्यास देव जी का भाष्य :—

विदेहानां देवानां भव प्रत्ययः, ते हि स्वसंस्कारोपगेन चित्तेन कैवल्यपदमिवानुभवन्तः स्वसंस्कार विपाकं तथा जातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति। यावन्न पुनरावर्ततेऽधिकार वशाच्चित्तम् इति।

तथा जातीयकमतिवाहयन्ति। तथा प्रकृतिलयाः साधिकारे चेतसि प्रकृतिलीने कैवल्यपदमिवानुभवन्ति। यावन्न पुनरावततेऽधिकारवशाच्चित्तम् इति।

विदेह और प्रकृतिलीन योगियों के विषय में वायुपुराण में इस प्रकार का लेख मिलता है :—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।
भौतिकाश्च शतम् पूर्णम् सहस्त्रं त्वाभिमानिकाः॥
बौद्धा दशसहस्त्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णम् शत सहस्त्रन्तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥
निर्गुणं पुरुषं प्राप्य काल संख्या न विद्यते।

जो पुरुष इन्द्रियों का चिन्तन करते हुए गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, शब्द तन्मात्र आदि इन्द्रिय तत्वों का चिन्तन करते हुए प्रकृतिलीन होते हैं वे लोग दश मन्वन्तर तक प्रकृतिलीन रहकर कैवल्यपद जैसा अनुभव करते हैं। फिर उसके वाद साधिकार चित्त होने से उनको पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है और इसी प्रकार से सौ मन्वन्तर तक महाभूतों का साक्षात्कार करने वाले और भौतिक साक्षात्कार कर लेने पर अहं वृत्ति को धारण करने वाले हजार मन्वन्तर बौद्धेय साक्षात्कार करने वाले और दश हजार मन्वन्तर तक विगत ज्वर होकर अपने आपको कैवल्य जैसा अनुभव करते हैं।

इसके अतिरिक्त सौ सहस्त्र मन्वन्तर अव्यक्त प्रकृति में लीन रहने वाले योगी स्वयं को कैवल्य जैसे सुख के उपभोक्ता अनुभव करते हुए चित्त साधिकार होने से पुनर्जन्म ग्रहण कर लेते हैं और उनको भी योग की प्रतीति हो जाया करती है।

निर्गुणं पुरुषं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

इससे आगे गुणाधिकार समाप्त हो जाने पर जव मनुष्य निर्गुण चैतन्य को प्राप्त कर लेता है तो उसके चित्त का अधिकार समाप्त हो जाता है। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है, पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ भवजाल टूट जाता है, सव संशय नष्ट हो जाते हैं, कर्म-वन्धनों का क्षण हो जाता है तथा हृदयग्रन्थि खुल जाती है। ऐसा योगी पूर्णरूपेण कैवल्य पद का अनुभव करने वाला वन जाता है। यही पराकाष्ठा है और यही परा गति है। सारांश यह है कि विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से ही बिना किसी प्रकार के साधना के योगप्रतीति हो जाया करती है। यद्यपि ये लोग योग-भ्रष्ट हैं, किन्तु फिर भी इनका जन्म-जन्मान्तर कृत श्रम व्यर्थ नहीं जाता। श्रीमद्‌भगवद् गीता में इसी विषय को लेकर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से यह प्रश्न किया था :—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥
क्वचिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महावाहो विमूढ़ो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

हे कृष्ण! जो साधक योग से विचलित मन वाला हो गया है, श्रद्धा उसमें पूर्णरूपेण कायम है किन्तु पुरुषार्थ कुछ भी नहीं वन पाता। ऐसा साधक योगसंसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? कदाचित् विमूढ़ भाव को प्राप्त हुआ वह साधक उभयतो भ्रष्ट होकर आधारहीन आकाश में फटे हुए वादलों की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता। हे कृष्ण! तुम मेरे संशय का नाश करो। तुमसे वढ़कर इस संशय का निवारण करने वाला दूसरा कोई नहीं हो सकता।

इसके उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय संसिद्धौ कुरुनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।

श्री भगवान् बोले :—हे अर्जुन ! उस व्यक्ति का लोक और परलोक में कहीं भी नाश नहीं होता। क्योंकि कल्याणमार्ग में चलने वाला कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं हुआ करता। ऐसा योगाभ्यासी व्यक्ति स्वकर्म दुर्विपाक से योगभ्रष्ट हो भी जाये तो वह पुण्यात्माओं से सेवित उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करके लम्बे समय तक वहाँ के सखों को भोगता हुआ फिर मनुष्य लोक में आकर पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म ग्रहण करता है। यहाँ पर पवित्र श्रीमानों का अर्थ उन लोगों से है जो लोग परोपकारार्थ कुएं, वावड़ी, तालाव आदि वनाते हैं, अन्नक्षेत्र चलाते हैं, साधु-महात्मा व तपस्वियों की सेवा किया करते हैं तथा योगपरायण रहते हैं वही लोग पवित्र श्रीमान् कहलाते हैं। ऐसे श्रीमानों के घर में उस योग भ्रष्ट साधक का जन्म महान् पुण्यलोक स्वर्गादि का उपभोग हो जाने के वाद हुआ करता है अथवा बुद्धिमान् योगियों के ही घर में उनका जन्म हुआ करता है। इस प्रकार का जन्म प्राप्त करना भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा जन्म पाकर वह साधक अपने पिछले जन्म के अभ्यास से प्रेरित होकर पुनः योगाभ्यास के लिए दृढ़तर प्रयत्न करता है। यह तो योगाभ्यास की श्रेणी है। इसके अतिरिक्त योग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड से आगे निकल जाता है और उसके वाद—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।

लगातार प्रयत्न करता हुआ साधक पापरहित हो करके अनेक जन्मों के अभ्यास से परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। योगी का दर्जा सवसे उत्तम है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से कहा है :—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि, मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन।।

योगियों का दर्जा तपस्वियों से, ज्ञानियों से तथा परम ज्ञानियों से सव प्रकार से उत्कृष्ट है। इसलिए हे अर्जुन ! तुम योगी वनो।

इस प्रकार विदेह और प्रकृतिलीन योगियों को जन्म से ही योग की प्रतीति हो जाया करती है। जन्म-जन्मान्तर कृत अभ्यास एवं पूर्वोपार्जित पुण्य विशेष ही योगी का पग-पग पर सहायक होता है। वह पूर्वाभ्यास ही "योगिनो योग एवोपाध्यायः" के

नियमानुसार उसका गुरु बन जाता है और साधक की पग-पग पर मदद किया करता है। साधक उस सहायता को पाकर उत्तरोत्तर प्रगति करता चला जाता है।

अतः मनुष्य को चाहिए कि यदि वह जन्म-जन्मान्तर के प्रभाव से पवित्र योगमार्ग को पा जाये तो अल्हड़ आलसियों की तरह कालयापन न करता रहे। ऐसा करना अपने बहुमूल्य जीवन को व्यर्थ में खोना ही होगा।

शास्त्र का सिद्धान्त है कि :—

नातस्विनो योगः सिद्ध्यति।

जो तपस्वी नहीं है उसको योग सिद्ध नहीं हुआ करता। सिद्धि चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह तत्परता के साथ तपश्चर्या करता हुआ संयतेंन्द्रिय होकर अलभ लाभ हो जाने पर भी अपनी साधना को करता ही जाये। ऐसा करता हुआ वह अवश्य ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

ग्यारहवां परिच्छेद

उपाय प्रत्यय और योग

इससे पिछले प्रकरण में भव प्रत्यय वाले योगियों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया था। जिन योगियों को जन्म धारण करते ही योग की प्रतीति हो जाया करती है वे योगी भव प्रत्यय वाले योगी कहलाते हैं। उनमें योग प्रतीति का प्रमुख कारण पूर्वजन्मार्जित पुण्य ही होता है। भगवान् पतंजलिदेव ने इस प्रतीति के अधिकारी विदेह एवं प्रकृतिलीन योगियों को ही माना है। इसके अतिरिक्त सामान्य लोगों के लिए योग-प्रतीति का कारण उपाय प्रत्यय माना गया है। उपाय प्रत्यय के अनुसार साधना करते व्यक्ति ही कालान्तर में स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करके भव प्रत्यय वाले बन जाया करते हैं। इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने उपाय प्रत्यय की साधना के स्तम्भभत इस सूत्र की रचना की :—

श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वकमितरेषां।

इस सूत्र के भाष्य में व्यासदेव जी निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं :—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रमादः। सा हि जननी व कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृत्युपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, तेन यथावद्वस्तु जानाति, तदभ्यासात् तद्वियाच्च वैराग्याद् सम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

विवेकपूर्वक अभ्यास करने वाले योगियों का प्रमुख साधन उपाय प्रत्यय होता है। इसका मूल श्रद्धा है। श्रद्धा प्रसन्नता और आह्लाद की जननी है। वह माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है, जिस प्रकार माता अपने बच्चे के दुर्गुणों को न देखकर गुणों को ही देखती है, इसी प्रकार श्रद्धावान व्यक्ति जिसके हृदय में मातृरूप धारण करने वाली श्रद्धा ने वास कर लिया है वह अपने इष्टदेव के अन्दर उच्च गुणों को ही देखता है। निम्न प्रकार की भावनायें जो उसको उच्च स्तर से गिरा सकती हैं उसके अन्दर पैदा ही नहीं हो पातीं। इसलिए श्रद्धा अवश्य ही योगी की माँ की तरह रक्षा करती है। इस विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी का एक उदाहरण प्रसिद्ध है।

किसी व्यक्ति ने तुलसीदास जी को चिढ़ाने के लिए कहना आरम्भ किया कि उनके इष्टदेव श्रीरामचन्द्र जी महाराज बारह कलायुक्त होने से अपूर्ण अवतार हैं और श्रीकृष्णजी

षोडश कलापूर्ण होने से पूर्णावतार हैं। गोस्वामी जी के मन में इन शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे यह कहकर उछलने लगे कि श्रीराम अवतारी हैं। उन पर कोई प्रभाव न पड़ता देख उस व्यक्ति ने यह कहना प्रारम्भ किया कि राम एक राजा थे किन्तु उनके प्रेमियों ने उनको अवतार वना दिया। इससे भी गोस्वामी जी के मन पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ा और वे राम राजा, राम राजा कहकर नृत्य करने लगे। यह था श्रद्धा का परिणाम। इसलिए श्रद्धा की महत्ता को वतलाते हुए व्यासदेव जी ने योगसूत्र पर अपने भाष्य में इन शब्दों का प्रयोग किया :–

सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।

वह श्रद्धा कल्याण की पराकाष्ठा माँ की तरह योगी की रक्षा करती है। श्रद्धा साधक में गुणों के अनुरूप ही अपना प्रभाव दिखलाया करती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में श्रद्धा को सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुणात्मिका इन तीन प्रकार का वतलाया है। जैसे :–

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥
सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्द्धः स एव सः ॥
यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसिराजसाः।
प्रेतान्भूतगणाश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

देहधारियों में सात्विकी, राजसी और तामसी यह तीन प्रकार की स्वभावजा श्रद्धा हुआ करती हैं। परमेश्वर का स्वरूप भी श्रद्धामय है। अतः जिसकी जैसी श्रद्धा होती है वह प्रभु को वैसा ही देखता है। सतोगुण से पैदा होने के कारण श्रद्धा को सत्वानुरूपा कहा गया है। यह श्रद्धा का अंकुर सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप होकर जहाँ भी प्रकट होता है वहाँ पर वह प्राणी अपनी इच्छानुसार इष्ट का वरण करके उसकी पूजा किया करता है। सतोगुण प्रधान व्यक्ति देवताओं की अर्चना करते हैं, रजोगुण प्रधान व्यक्ति यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं और तमोगुण प्रधान व्यक्ति प्रेत और भूतों का पूजन किया करते हैं। इसलिए श्रद्धा साधक को वल देती है। जिनको श्रद्धा के द्वारा वल मिल जाता है उनको स्मृति कायम हो जाती है, स्मृत्युपस्थान होने पर प्रसन्नता के साथ मन समाहित होता है और समाहित चित्त वाले योगी को प्रज्ञाविवेक उत्पन्न हो जाता है। जिससे वह यथावद्वस्तु की यथार्थता जानने लग जाता है। यह प्रज्ञाविवेक किसको कितनी मात्रा में हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि साधक अपनी साधना के स्तर के अनुसार ही उन्नति कर सकता है।

भगवान् पतंजलिदेव ने उपाय प्रत्यय वाले योगियों के नौ भेद वताये हैं :—

ते खलु योगिनो मृदुमध्याधिमात्रोपाया भवन्ति । तद्यथा—मृदूपायः, मध्योपायः, अधिमात्रोपाय इति। तत्र मृदूपायोऽपि त्रिविधो—मृदुसंवेगः, मध्यसंवेगः, तीव्र संवेग इति। तथा मध्योपायः तथा अधिमात्रोपाय इति ।।

अधिकारी भेद से नौ प्रकार के योगी हुआ करते हैं। जैसे :—मृदुपाय, मध्योपाय, अधिमात्रोपाय। इन तीनों के मृदुसंवेग, मध्यसंवेग और तीव्रसंवेग ये तीन-तीन भेद होते हैं। योगी अधिमात्रोपाय वाला हो और उसका संवेग भी तीव्र हो तो वह योगी अपने दृढ़ अभ्यास के द्वारा तीन साल के अन्दर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार मध्योपाय वाला योगी जव मध्य संवेग के साथ अभ्यास करता है तो लगभग छः वर्ष में सिद्धि पा जाता है। मृदुपाय वाला योगी मृदुसंवेग के साथ अभ्यास करता हुआ १२ वर्ष के अन्दर सफलता प्राप्त कर सकता है।

अभ्यास में कुछ वातों का ध्यान रखना निहायत जरूरी हो जाता है। कुछ व्यक्ति इस प्रकार के होते हैं जो साधारण से अभ्यास में जल्दी से जल्दी उत्तमोत्तम परिणाम चाहते हैं। ऐसे लोग प्रायः असफल रहा करते हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह निष्काम कर्मयोग का अभ्यास करे, फल की कामना न करे। भगवान् ने गीता में स्पष्ट आदेश दिया है :—-

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू, मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।

अर्जुन को उपदेश देते हुए जगदात्मा कहते हैं—हे अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है उसके फल में नहीं। अतः कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो तथा फल की इच्छा न होने पर कर्म करना भी मत छोड़ो, वल्कि निष्काम भाव से कर्म करते ही रहो।

हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है कि किसी भी अभ्यास के निष्कर्ष को पाने के लिए उसे श्रद्धापूर्वक, लम्बे समय तक करता चला जाय। इसी वात का निर्देश भगवान् पतंजलिदेव जी ने भी किया है—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।

लम्बे समय तक नियमानुवर्तिता से किया हुआ अभ्यास स्थायी होता है।

सबसे बड़ी आवश्यकता इस वात की है कि साधना करने वाला मनुष्य ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन करे। क्योंकि यदि वह संयम से नहीं रहेगा तो उसकी शक्ति का ह्रास

होता जायेगा तथा विद्या का पूर्ण विकास नहीं हो पायेगा। इसीलिए भाष्यकार ने ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा को योगविद्या का हेतु बताया है। इसी बात का संकेत भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में दिया है :—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

अर्थात्—मनुष्य के विकास में श्रद्धा पहला साधन है, दूसरा साधन है निरन्तर अभ्यास करते रहना और तीसरा है संयतेन्द्रियता।

यदि इन नियमों का पालन करता हुआ उपाय प्रत्यय वाला योगी अभ्यास करेगा तो वह अवश्य ही सफलता प्राप्त करेगा। तीव्र संवेग वाला साधक शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। कदाचित् भव प्रत्यय हो जाये और वह साथ-साथ उपाय प्रत्यय का अभ्यास करे तो वह शीघ्र ही सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँच सकता है।

अभ्यास और वैराग्य

वृत्ति-संस्कार चक्र अर्हनिश चलता रहता है। इसके निरोध के लिए योगिराज लोग प्रत्येक क्षण प्रयत्नशील रहते हैं। सन्त-महात्मा-साधु जन अपने गृहस्थ व्यवहार को छोड़कर वनों में वास किया करते हैं, जिससे जन्म-मरण के चक्कर से वच जायँ। भगवान् पतंजलिदेव ने योग-दर्शन में इन वृत्तियों के निरोध के लिये दो उपायों का वर्णन किथा है और वे हैं–अभ्यास और वैराग्य। यथाः–

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः,

इस सूत्र के भाष्य में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं कि–

चित्तनदीनामोभयतो वाहिनीभवति कल्याणाय वहति पापाय च।–या तु कैवल्य प्राग्भारा विवेकविषय निम्ना सा कल्याणवहा संसार प्राग्भाराऽविवेकविषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विवेक विषय स्रोतः खिली क्रियते, विवेक दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतः उद्घाटयते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति निरोधः।

अर्थात्–चित्त नाम नदी का प्रवाह दोनों ओर वहता है कल्याण के लिए और अकल्याण के लिए। जिसका प्रवाह कैवल्य से आरम्भ होकर विषय विवेक की ओर झुकता हुआ जाता है वह कल्याणवहा है और जिसका स्रोत संसार से पैदा होता है और अविवेक की ओर झुकता है वह चित्त नाम नदी पापवहा कहलाती है। यहाँ वासनिक प्रवाह को वैराग्य द्वारा क्षीण किया जाता है और विवेक दर्शन के अभ्यास से ज्ञान को जागृत करके अभ्युत्थान की ओर वढ़ता है। इस प्रकार से अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति निरोध होती है। इसी विषय को अखिल लोकपालक भगवान् श्रीकृष्ण ने परिपुष्टित किया है। उन्होंने अर्जुन को उपदेश देते हुए समत्वयोग समझाया है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चान्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स चमे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो भां भजत्येकत्वमाश्रितः।
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुनः।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

अर्थात्–"आत्मानं सर्वभूतस्थं सर्वभूतानि चात्मनि" सर्वत्र समदर्शनो योग युक्तात्मा ईक्षते। अपने आपको प्राणिमात्र के अन्दर और प्राणिमात्र को अपने अन्दर योग युक्तात्मा देखता है। इस प्रकार की स्थिति वाले योगी के लिए भगवान आदेश करते हैं कि जो मुझे सर्वत्र देखता है और सभी को मेरे अन्दर देखता है उसके लिए मैं नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता। जो योगी सर्वभूतस्थित मुझको एक जगह अवस्थित होकर भजता है, सभी स्थितियों में रहता हुआ भी वह योगी मेरे अन्दर रहता है एवं जो सभी के दुःख-सुख को अपना दुःख-सुख समझता है, समता में रहने वाला वह योगी सर्वश्रेष्ठ एवं ऊँचा माना गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार उपदेश करने पर अर्जुन ने मन की चंचलता को वतलाते हुए इस योग को प्राप्त करने में वहुत ही कठिनता का संकेत किया, अर्जुन ने कहा :–

योयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिरां।
चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि वलवद् दृढ़म्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात्–हे प्रभो ! आपने समतव के द्वारा जिस योग का उपदेश दिया वह तो विल्कुल ठीक है किन्तु मन के चञ्चल होने से स्थिति को मैं कैसे प्राप्त करूँ ? यह मन मसल डालने वाला और वहुत ही चञ्चल है इसका पकड़ लेना तो मैं इतना दुष्कर मानता हूँ कि जैसे वायु का पकड़ लेना दुष्कर है। इसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने मन की चञ्चलता को निम्नांकित श्लोकों में स्वीकार किया और मन को रोकने के लिए अभ्यास और वैराग्य का उपदेश दिया।

असंशयं महावाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

अर्थात हे, अर्जुन ! इसमें कुछ भी शंका नहीं है कि मन का रोका जाना वहुत ही कठिन है किन्तु अभ्यास और वैराग्य द्वारा उसे पकड़ा जा सकता है। जो लोग असंयत्मा हैं वे योग को नहीं प्राप्त कर सकते। इसके विपरीत जो लोग आत्मवशी हैं वे लोग प्रयत्न करते हुए योग को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए परम श्रेय की प्राप्ति के लिए मनोनिग्रह परम आवश्यक है। भगवान् पतंजलिदेव एवं अखिलात्मा श्रीकृष्ण जी तथा

समस्त ऋषि-मुनियों का यही सिद्धान्त है कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही मन पकड़ा जा सकता है। अभ्यास का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् पतंजलिदेव लिखते हैं कि–

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

इस सूत्र पर व्यासदेव जी भाष्य लिखते हैं :—

चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थिति तदर्थः प्रयत्नो = वीर्यमुत्साह तत्संपादयितुं तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः।

अर्थात् वृत्तिरहित चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति को सम्पादित करने के लिए वलपूर्वक किया हुआ प्रयत्न ही अभ्यास कहलाता है। साधक के लिए अभ्यास के वहुत लक्ष्य हैं 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार साधक अनेक प्रकार की धारणाओं को सामने रखकर अभ्यास करते हैं और उनको सफलता भी अवश्य मिलती है किन्तु साधक किसी प्रकार का कोई भी अभ्यास करे उस स्थिति में अभ्यसनीय नियम को सामने रखते हुए यदि अभ्यास करेगा तो जल्दी ही सफलता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेगा। भगवान् पतंजलिदेव ने अभ्यास में सफलता लाने वाले तीन सिद्धान्तों का योग-दर्शन समाधिपाद के १४वें सूत्र में इस प्रकार वर्णन किया है :–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः॥

दीर्घकालासेवितः, निरंतरासेवितः, तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्यया, श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिः भवति व्युत्थान संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थः।

अर्थात्–किसी भी अभ्यास को साधक जिस समय प्रारम्भ करता है उसको उसे लम्बे समय तक करते रहना चाहिए, तभी वह अभ्यास सफलता की पराकाष्ठा को पा जाता है। दृढ़ता से किया हुआ अभ्यास सफलता की उच्चतम सीढ़ी पर ले जाकर छोड़ता है। अतः साधक को कर्त्तव्य परायण रहना चाहिए। जो साधक अपना कर्त्तव्य छोड़ देता है वह उच्चतम स्थिति को नहीं पा सकता। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आदेशात्मक शब्दों में विल्कुल स्पष्ट कहा है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोस्त्वकर्मणि॥

अर्थात्–हे अर्जुन! कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है उसके फल में नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और ऐसा भी नहीं होना चाहिए कि कर्मफल की इच्छा न हो तो मनुष्य अकर्मण्य वन जाये। भगवान् के इस आदेशानुसार प्रत्येक परमार्थ के

साधक को अभ्यास-परायण बना रहना चाहिए, किन्तु आज इस कलिकाल में हर मनुष्य केवल फलभोक्ता ही बनना चाहता है। वह किसी प्रकार का पुरुषार्थ करना ठीक नहीं समझता। ऐसे लोग भाग्य ही भाग्य पुकारा करते हैं किन्तु इनको इस बात का ज्ञान नहीं है कि अब सब कुछ पुरुषार्थ के साथ ही हुआ करता है। जैसे :—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,
दैवं हि दैवमिति कापुरुषाः वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अतः साधक को चाहिए कि वह पुरुषार्थशील बने, पुरुषार्थ के द्वारा सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध में परिवर्तन हो जाता है। भगवान् पतंजलिदेव ने यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि इन योग के आठ अंगों का वर्णन किया है। ये सभी अंग साधना की सीढ़ियाँ हैं।

किन्तु फिर भी योग की वर्णाक्षरी आभ्यन्तर धारणा से ही आरम्भ होती है और धारणा मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए किसी न किसी विषय को अपना लक्ष्य बनाना पड़ता है। इसलिये इस प्रकार की साधना वाला व्यक्ति मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के नियमानुसार अपनी-अपनी मति के अनुसार धारणास्थली का निश्चय करता है। परमार्थ प्राप्ति के इच्छुक साधक मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञाकमल आदि को अपना लक्ष्य बनाते हैं। कोई-कोई भ्रूमध्य, मूर्धाज्योति, जिह्वा-मध्य, जिह्वाअग्र, तालुमूल एवं नासिकाग्र आदि को अपना लक्ष्य बनाकर परमश्रेय प्राप्ति की लगन में लग जाते हैं। यही सब साधना मार्ग है, इसके अतिरिक्त भक्तिमार्ग के अभ्यासी ईश्वर को आत्मसमर्पण सर्वकर्मफल-त्याग आदि आदि साधनाओं को अपना लक्ष्य बनाकर प्रणिधान के द्वारा समाधि-स्थिति को प्राप्त करते हैं। यही सब सूक्ष्मरूप से अभ्यास का विषय है। इसके अतिरिक्त मनोनिग्रह का दूसरा उपाय है—वैराग्य और वह वैराग्य दो श्रेणियों में विभक्त है—पर और अपर। इसमें से अपर वैराग्य को वशीकार संज्ञा वैराग्य के नाम से योग-दर्शन में बताया गया है। यथा :—

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य :—

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषयवितृष्णस्य स्वर्गवैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावानुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलादना भोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात्–स्त्री, अन्न-पान, भोग ऐश्वर्य आदि देखे हुए विषय तथा स्वर्ग विदेह प्रकृतिलयत्वादि सुने हुए विषय इन सबके दिव्यादिव्य भोगों के अन्दर जो साधक वितृष्ण हो गया है, जिसको इन्द्रियलोलुप्य किसी भी प्रकार विचलित नहीं कर सकता ऐसे योगी को वशीकार संज्ञा वैराग्य वाला योगी समझना चाहिए। कहने का अभिप्राय केवल मात्र इतना है कि ध्यान परायण योगी जिसने अपनी वृत्ति को आत्माकार वना लिया है एवं विषयों में हर समय दोषदर्शन करता है एवं इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है उसकी इन्द्रियाँ विना लगाम के खुले घोड़ों के समान नहीं चलतीं प्रत्युत सधाये हुए घोड़ों की तरह वश में रहा करती हैं। उज्ज्वल से उज्ज्वल आत्मदर्शन करना उनका स्वभाव वन जाता है। यद्यपि इस प्रकार के योगी को भी वासनिक सुख का ज्ञान तो रहता ही है किन्तु वह ज्ञान भी न रहने के वरावर है। लोकपावन अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में इस वात को समझाते हुए विल्कुल स्पष्ट शब्दों में कहा है :–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अर्थात्–कोई मनुष्य यदि अधिक समय तक भूखा-प्यासा पड़ा रहे तो उसकी विषय वासनायें दव जाती हैं किन्तु उसके मन में रस की भावना थोड़ी सी रहती ही है क्योंकि वह उच्चतम साधना करते हुए भी इस वात को अवश्य जानता है कि भोग में यह आनन्द हुआ करता है। यही उसकी रस-भावना है। यह रस-भावना मनुष्य के अन्दर तव तक रहती है जव तक उसको पर-दर्शन प्राप्त नहीं होता। पर-दर्शन प्राप्त हो जाने पर रस की भावना भी नष्ट हो जाती है। अर्थात् उस योगी को यह ज्ञान ही नहीं रहता कि भोग में भी कुछ आनन्द हुआ करता है। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यासी योगी स्वर्गादि लोक-लोकान्तरों को देखता है। देवांगनाओं के वड़े-वड़े दिव्य चमत्कारिक दृश्य उसके सामने आते हैं किन्तु उसके मन पर मात्र दृश्य देखने के अतिरिक्त कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता–हमारे इतिहास इस वात को वताते हैं। ऐसे उच्च स्थिति वाले योगियों पर किसी भी प्रकार से वासना ने अपना प्रभाव नहीं डाला एवं वे अपने स्वरूप में ज्यों के त्यों स्थित रहते थे। वशीकार संज्ञा वैराग्य का अभ्यासी योगी ज्योंही वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग की श्रेणियों में से निकलता हुआ आगे बढ़ता है तो प्रकृति की उलझनें उसको विचलित नहीं करती। किसी भी गुणाधिकार वाली वस्तु में मन लगाना ही पर वैराग्य कहा गया है। परवैराग्य समझाने के लिए भगवान् पतंजलिदेव ने एक सूत्र की रचना की है। पढ़िये वह सूत्र और उस पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ :–

तत्परं पुरूषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।

व्यास भाष्य :–

दृष्टानुश्रविक विषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छ्रुति प्रविवेकाप्यायित वुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्त धर्मकेभ्यो विरक्त इति तद् द्वयं वैराग्यम् । तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रं यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवम्मन्यते, प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः छिन्नः श्लिष्ट पर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानश्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।

अर्थात्–निरन्तर पुरुष दर्शन के अभ्यास से देखे और सुने विषयों के अन्दर पुरुष वैराग्य को प्राप्त होता है । इसी का नाम शुद्धि है । स्थूल और सूक्ष्म गुणधर्मों को बुद्धि जव छोड़ देती है तभी समझ लेना चाहिए कि इसको वैराग्य हो गया है । वशीकार संज्ञा नाम के वैराग्य का वर्णन पहले ही कर दिया है । इसके अतिरिक्त यह दूसरा वैराग्य जिसको परवैराग्य कहते हैं, ज्ञान का प्रसाद मात्र है । जिसके प्राप्त हो जाने पर योगी मानता है–'प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः' अर्थात् हमने जो प्राप्त करना था प्राप्त कर लिया है, क्षीण करने लायक क्लेशों को क्षण कर दिया है तथा–खिन्नः क्लिष्टपर्वा भव संक्रमो–पोरी दर पोरी जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने काट दिया है जिसके न काटने से वार-वार जन्मना-मरना पड़ता था, इसी का नाम ज्ञान की पराकाष्ठा एवं परवैराग्य है । इसका अभ्यास वढ़ जाने पर योगी का मन अपने आप ही रुक जाया करता है ।

जिन वस्तुओं में हमारी घृणा है उनमें मन स्वाभाविक ही नहीं जाता । यही मनोविरोध के दो उपाय हमारे आचार्यों ने वर्णन किये हैं, जिनके प्राप्त हो जाने पर साधक कृतार्थ हो जाता है । जो लोग अभ्यास परायण वने रहते हैं उनको वैराग्य भी अनायास ही प्राप्त होता है । मनोनिरोध होने पर ही मनुष्य सुख एवं शान्ति को प्राप्त कर सकता है । यही उसके सुख का मूल साधन है ।

मन की एकाग्रता के साधन

हमारे शास्त्र का सिद्धान्त है "यथा अन्नं तथा मनाः।" मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसका मन भी उसी प्रकार का वन जाता है। शास्त्रों में कहा गया है "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धिः, सत्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः" अर्थात् शुद्ध सात्विक आहार के सेवन करने से सतोगुण बढ़ता है। तथा सत्व शुद्धि होती है, सत्व शुद्धि हो जाने पर शुद्ध स्मृति होना सुनिश्चित है। इसलिए यदि हम अपने मन को वश में करना चाहते हैं तो पवित्र शुद्ध, सात्विक व संस्कारित अन्न का सेवन करना हमारा आवश्यकीय कर्त्तव्य वन जाता है। लोक में भी यह कहावत आम प्रचलित है—"जैसा खाये अन्न वैसा होय मन।" महाभारत में इस प्रकार के वहुत से उपाख्यान हैं जिनमें अन्न के प्रभाव से मनों के अन्दर भारी परिवर्तन दिखाई दिये, कौरवों की भरी सभा में द्रोपदी के चीरहरण के समय उसके करुण क्रन्दन को सुनकर भी द्रोणाचार्य, भीष्म, कृपाचार्य आदि महान आत्माओं का विल्कुल चुप रहना दुर्योधन के राजस अन्न का प्रभाव प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार महाराजा शल्य पाण्डवों के मामा होते हुए भी महाभारत के युद्ध में पाण्डवों की सहायता के लिए आते हुए मार्ग में दुर्योधन का आतिथ्य पाकर एवं उसका अन्न खाकर वदल गये। इस सत्य को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था–दुर्योधन ! मैं पाण्डवों की मदद को जा रहा था किन्तु तेरे आतिथ्य ने मेरे मन को वदल दिया है इसलिए मैं इस युद्ध में अव तेरा ही सहायक रहूँगा। अन्ततः महाराजा शल्य दुर्योधन के ही सहायक रहे। ये सव वातें "यथा अन्नं तथा मनः" के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

इसलिए मन की एकाग्रता चाहने वाले योगी सदा पवित्र सात्विक अन्न का ही सेवन करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान तीन प्रकार के आहारों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। जिस व्यक्ति के अन्दर जो गुण प्रधान रहता है उसे उसी प्रकार का आहार रुचिकर होता है। यथा–सतोगुणी व्यक्ति सतोगुण पूरित, रजोगुणी व्यक्ति रजोगुण पूरित एवं तमोगुणी व्यक्ति तामस भोजन पसन्द करेगा। अतः सतोगुण की वृद्धि चाहने वाले व्यक्ति को सदैव सात्विक आहार का ही सेवन करना चाहिए।

जो आहार आयु, सतोगुण, वल, आरोग्य एवं प्रेम को बढ़ाने वाले हैं, रसीले और स्निग्ध हैं तथा जिनका प्रभाव हृदय की पुष्टि करने वाला होता है, ऐसा सतोगुण की

वृद्धि करने वाला आहार सात्विक लोगों को प्रिय होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के आठवें श्लोक में स्वयं जगदात्मा श्रीकृष्ण ने कहा है :–

आयुः सत्वबलारोग्य सुखप्रीतिर्विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विक प्रियाः ॥

अर्थात् शुद्ध गौदुग्ध, गौघृत आदि रसीले, मधुर एवं स्निग्ध पदार्थ जिनका प्रभाव चिरस्थायी होता है और जो पुष्टिकर हैं, सात्विक आहार कहे जाते हैं। इसी प्रकार अन्नों में गेहूं, जौ, चावल, मूँग, चना इत्यादि अन्न तथा फलों में मौसम्मी, सन्तरा, पपीता, सेव आदि मीठे फल पुष्टिकर और सत्व को वढ़ाने वाले हैं। सब्जियों में मेथी, पालक, वथुआ, गाजर, मूली, घीया, काशीफल आदि हरी सब्जियाँ सतोगुण की वृद्धि करने वाली हैं और शरीर को स्वस्थ रखती हैं। अतः योगी को उपरोक्त सात्विक पदार्थों का ही सेवन करना चाहिए। इसके साथ-साथ एक वात और भी जरूरी है कि वह अन्न शुद्ध सात्विक तो हो ही साथ ही नेक कमाई का और संस्कारित भी होना चाहिए। हमारे प्राचीन ग्रन्थों में चाण्डाल के अन्न को मल की उपमा दी है। अन्न चाहे शुद्ध ही हो किन्तु वह यदि किसी मांस भक्षी या किसी हत्यारे की कमाई का है और उसके द्वारा दिया गया है तो वह अन्न तत्काल ही मन में विकार पैदा करेगा।

शुद्ध सात्विक अन्न होते हुए भी उस अन्न का संस्कारित होना वहुत आवश्यक है। इसीलिए हमारे भारतवर्ष में अधिकांश सद्गृहस्थों में भोग लगाने की प्रथा प्रचलित है। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं कहा है :–

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्मसनातनम् ॥

साधक को चाहिए कि भोज्यान्न तैयार हो जाने के वाद उसको यज्ञशेष वनाने के लिये यदि उसके घर में किसी प्रकार की यज्ञ की प्रथा है तो उसकी अग्नि में आहुतियाँ डाले, अन्यथा अपने इष्टदेव को अर्पित करके (भोग लगाकर) उसे सेवन करे।

आहार पर संयम

मन की एकाग्रता वढ़ाने के लिए शुद्ध सात्विक आहार के सेवन के साथ-साथ साधक को कुछ इस प्रकार के नियम भी रखने चाहिए जिससे वह मिताहारी वन सके। जो लोग आहार-विहार पर संयम नहीं रखते उनको पवित्र योगमार्ग में अन्तराय घेर लेते

हैं। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने योगाभ्यासी साधकों के लिये कुछ आवश्यक पालनीय नियम वतलाये हैं जिनके पालन करने से मनुष्य अवश्य ही अपने चरम लक्ष्य को पा सकता है। जैसे :-

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतो नैव चार्जुनः ।।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

(गीता अध्याय–६)

अर्थात्–योगाभ्यासी साधक को अधिक भोजन नहीं करना चाहिए और न ही उसको निराहार रहना चाहिए, न वहुत सोना चाहिए और न अधिक जागना ही चाहिए। जिनका आहार-विहार व हर क्रिया-कलाप संयमित है उनकी योग-साधना उन्हें सव दुःख द्वन्दों से मुक्त करके सुखी वना देती है और वे अपने चरम लक्ष्य को पा जाया करते हैं।

दिव्य औषधियों से मन की एकाग्रता

दिव्य औषधियों के सेवन से मन की एकाग्रता, दिव्यदृष्टि तथा समाधि अनायास ही प्राप्त हो जाया करती है। इस प्रकार की दिव्य औषधि हर व्यक्ति को प्राप्त होनी सम्भव नहीं है किन्तु जो औषधियाँ इस भूमण्डल पर सर्वसाधारण को सुलभ हैं उनमें भी कुछ इस प्रकार की जड़ी-बूटियाँ हैं जिनके सेवन से स्वाभाविक ही मन की एकाग्रता एवं बुद्धिकौशल वढ़ता है। जैसे :—ब्राह्मी बूटी, शंखाहूली, तुलसी आदि आदि। जो लोग दूध के साथ नित्य ब्राह्मी बूटी का सेवन करते हैं उनकी बुद्धि का विकास अवश्य होता है और थोड़े ही समय में मस्तिष्क केन्द्रित होने लगता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा वाले लोग सारस्वतारिष्ठ नाम का एक अरिष्ट तैयार किया करते हैं, जिसके सेवन से ज्ञानतन्तु विकसित होते हैं एवं स्नायुदौर्बल्य हटकर मन केन्द्रित होता है। इस प्रकार से साधारण औषधोपचार करने से भी मन की एकाग्रता वढ़ती है और समाधि की भावना पुष्ट होती है। जो साधु, ब्रह्मचारी वनों में रहते हैं और विदारी कंद आदि का सेवन किया करते हैं उनके मन सेवन करने वालों की अपेक्षा स्वाभाविक ही एकाग्र रहते हैं।

यौगिक व्यायाम एवं मन की एकाग्रता

योगाभ्यासी साधक के लिए व्यायाम भी एक निहायत आवश्यकीय कर्त्तव्य है। जो लोग किसी भी प्रकार का व्यायाम नहीं करते उनकी नाड़ियाँ ठीक प्रकार से रस व रक्त का वहन नहीं करती, आशय शुद्ध नहीं होते। शरीर में मलों का संग्रह होकर अनेक प्रकार के रोग वढ़ने लगते हैं। माधव निदान में इस प्रकार कहा गया है :–

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिताः मलाः ।

अर्थात्–सारे रोगों की जड़ मल-प्रकोप ही है तथा रोगों के शमन का उपाय है–मलों का यथार्थ स्थिति में रहना। किसी भी प्रकार का विकार न होना एवं आशयों का शुद्ध रहना आवश्यकीय है। इन सव वातों के लिये वजाय इसके कि हम विरेचन आदि लेते रहें हमें शरीर के अंग-प्रत्यंग को यौगिक व्यायाम की प्रक्रियानुसार गति देते रहना चाहिए। हमारे चित्त की प्रसार भूमियाँ नाड़ियाँ हैं। इसलिये योगी की नाड़ियों का शुद्ध होना वहुत ही आवश्यक है और नाड़ी शुद्धि के लिये नैत्यिक यौगिक व्यायाम व नाड़ी-शोधन प्राणायाम करना चाहिए। यौगिक व्यायामों में हमारे योगाचार्यों ने वहुत से आसन, वन्ध एवं मुद्राओं का उल्लेख किया है जो सभी शरीर को आरोग्य रखने के उत्कृष्ट साधन हैं। इनमें से कुछ थोड़े से आसनों का हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं, जो शारीरिक सन्तुलन व मन की एकाग्रता के लिये परम श्रेयस्कर हैं। वजाय इसके कि मैं उन योगासनों का वर्णन करूँ जो हमारे पूर्वाचार्यों ने अपने आर्षग्रन्थों में लिखे हैं मैं कुछ इस प्रकार के व्यायाम वतला देना चाहता हूँ जो मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्रीरामलालजी ने अपने मन से प्रकट किये हुए हैं और जिनमें सभी आसनों का साधारणतः समुच्चय हो जाता है। उन साधनों के एक समुच्चय का नाम "जीवन तत्व साधन" है।

जीवन तत्व साधन

१. **सर्वोत्तान**–इसमें पीठ के वल लेटकर, हाथों की सिर के पिछली ओर ले जाकर, एक हाथ की अंगुलियाँ दूसरे हाथ में डालकर एवं उल्टा करके अधिक से अधिक तनाव देना चाहिए। एक वार ऐसा करके शरीर को ढीला छोड़ दो, फिर दुवारा करो। यह क्रिया केवल मात्र शरीर के तनाव के लिये की जाती है। इससे शरीर का हर स्नायु तनाव पाकर यथार्थ गति में आ जाता है। यह क्रिया तीन वार करनी चाहिये।

२. **स्कन्ध चालन**–इस क्रिया को करने के लिये मनुष्य को सावधान होकर बैठ जाना चाहिए और दोनों कन्धों को हिलाना चाहिए। जिस प्रकार साइकल के पैडल

या चक्की के बेलन नीचे से होकर ऊपर को चलते हैं उसी प्रकार हमारे दोनों कंधे ऊपर-नीचे, आगे-पीछे गोलाकार रूप में घूमने चाहिए। इस क्रिया को उल्टा व सीधा दोनों प्रकार से कन्धों को हिलाकर करना चाहिए। इसको करने से फेफड़े ठीक काम करते हैं, यकृत और प्लीहा अपनी यथार्थ स्थिति में रहते हैं। जिनका यकृत वढ़ गया है वे इस क्रिया को करके उसे यथार्थ स्थिति में ला सकते हैं।

३. **पग चालन**—इस क्रिया को करने के लिये सीधे लेट जाना चाहिए और एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखकर उसे साधारण गति से हिलाना चाहिए। हिलाने का क्रम यह होना चाहिए कि यदि हमने दांयाँ पैर वाँये पैर के टखने पर रखा है तो दांये पैर की एड़ी को वरावर जमीन पर लगाते रहो और बांये पैर के अँगूठे को जमीन पर लगाने का प्रयत्न करते रहो। यह क्रिया दोनों पैरों से वारी-वारी करनी चाहिए। यह क्रिया आँतों के लिये परम लाभदायक है। इसके करने से छोटी वड़ी आँतें सही काम करने लगती हैं।

४. **नाभि चालन**—इस क्रिया का यथार्थ रूप ठीक वैसा है, जैसा कि मगरमच्छ किसी जीव का भक्षण करके वाहर वालुका में आकर अपना पेट इधर-उधर हिलाया करता है। इस क्रिया को करते हुए मनुष्य को सीधा लेटकर वाँये से दाहिनी ओर और दाहिनी ओर से बांयी ओर करवट वदलने की तरह शरीर को पलटते रहना चाहिए किन्तु सिर एक स्थान पर कायम रहना चाहिए। इससे मन्दाग्नि की निवृत्ति हो जाती है। जिनके पेट में हवा वनती है वह वननी वन्द हो जाती है।

५. **जानु-प्रसार**—इस क्रिया को नाभि-चालन के वाद अवश्य करना चाहिए। सामान्य रूप से सीधे लेट जाइये और अपने दाहिने पैर को धीरे-धीरे मोड़कर उसका पंजा बांये घुटने पर सटा दीजिये और धीरे-धीरे वापस ले जाइये, यह क्रिया क्रमशः दोनों पैरों से तीन-तीन बार करनी चाहिए। इससे जंघाओं व पेट का स्नायुमण्डल यथार्थ स्थिति में आ जाता है।

६. **बाल-मचलन**—इस क्रिया को करते हुए सीधे लेटकर अपने दाहिने व बांये पैर को तथा हाथों को इस ढंग से जल्दी-जल्दी चलाना चाहिए, जिस प्रकार वच्चा रूठकर हाथ-पैर चलाया करता है। अर्थात् लेटकर दांया पैर ऊपर करो तो बांया हाथ भी ऊपर चला जायेगा। इस प्रकार दोनों हाथ-पैरों को क्रमशः जल्दी-जल्दी चलाना चाहिये। इससे शरीर में एक स्वाभाविक आल्हाद पैदा होता है।

७. **बच्चे का ध्यान**—इस क्रिया में अपने शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये तथा शान्त भाव से लेटे रहकर एक सुन्दर, चपल वच्चे का ध्यान कीजिये जो कि एक
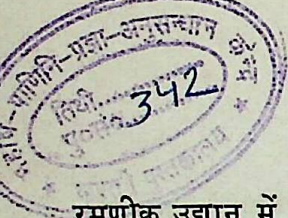
रमणीक उद्यान में खेल रहा हो। ध्यान करने वाला व्यक्ति यह कल्पना करे कि मैं भी इस वच्चे के साथ खेल रहा हूँ। इस क्रिया को करते हुए कुछ ही समय वाद वच्चा ध्यान में दीखने लगेगा।

८. **नाड़ी संचालन**–सीधे बैठ जाइये। अपने पैरों को जितना अधिक फैला सको फैलाओ। घुटने व पाँव की पिंडलियाँ जमीन पर सटी रहें। दोनों पैरों का फासला कम से कम ७ वालिस्त होना चाहिए। अब शरीर को आगे की ओर झुकाकर दांये हाथ की अंगुलियों से बांये पैर के अंगूठे को छुओ व बांये हाथ की अंगुलियों से दांये पैर के अंगूठे को छुओ और दूसरा हाथ घुमाकर पीछे की ओर ले जाओ। इस प्रकार वरावर चक्राकार घुमाते रहो। इस क्रिया से मन्दाग्नि की निवृत्ति होती है और शरीर में रस रक्त का सही संचार होता है।

९. **उत्प्रेक्षण**–सीधे खड़े होकर अपने दाहिने हाथ और दाहिने पैर को ऊपर उठा कर झटका दीजिये। फिर बांया हाथ व बांया पैर उठा कर उसी प्रकार झटका दीजिये। यह क्रिया दोनों पैरों से वारी-वारी से तीन-तीन बार करनी चाहिए। इससे शरीर में एक नये प्रकार की चेतना आ जाती है।

समय का विभाजन

१. सर्वोत्तान – केवल तीन वार
२. स्कन्ध चालन – पन्द्रह मिनट
३. पग चालन – आठ मिनट
४. नाभि चालन – पन्द्रह मिनट
५. जानु-प्रसार – दोनों ओर से तीन-तीन बार
६. वाल-मचलन – एक मिनट
७. वच्चे का ध्यान – पाँच मिनट
८. नाड़ी संचालन – पन्द्रह मिनट
९. उत्प्रेक्षण – केवल एक या दो मिनट

इसी क्रम से ये क्रियायें अधिक समय के लिये भी वढ़ायी जा सकती हैं।

ये क्रियायें सभी नर-नारियों के लिये साधारणतया परम उपयोगी हैं।

कुछ आवश्यकीय आसन

मन की एकाग्रता चाहने वाले योगाभ्यासी को चाहिए कि वह किसी एक आसन को अवश्य सिद्ध कर ले। क्योंकि जो आसन के अभ्यासी नहीं होते हैं वे अधिक समय

तक बैठ नहीं सकते। इसके साथ ही ज्यों ही सर्वार्थक मन एकाग्रता में परिणत होने लगता है त्योंही आसन के हिल जाने से पुनः विचलित हो जाता है। अतः ध्याना-भ्यासी को एक आसन पर बैठने का अभ्यास नियमानुर्वितिता के साथ करना चाहिए। ध्यानाभ्यास के लिये किये जाने वाले आसनों में यह विचार अवश्य रखना चाहिए कि साधक अपने मेरुदण्ड को विल्कुल सीधा रखे। मेरुदण्ड को सीधा रहने से सुषुम्ना की स्वाभाविक गति हो जाती है। सुषुम्ना की स्थिति में आत्मध्यान, ब्रह्मचिन्तन व योगाभ्यास करना चाहिए। सुषुम्ना में गति आते ही मन स्वतः ही ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश करने लगता है और एकाग्रता स्वाभाविक रूप से होने लगती है।

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के छःठे अध्याय में योगाभ्यास करने का एक वहुत सरल व उत्तम विधान लिखा है जिसका सर्वसाधारण के हितार्थ मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ।

योगी युञ्जीतसततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्योद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं काय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारी व्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीन् मत्परः॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियत मानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

अर्थात्—योगी को चाहिए कि एकान्त स्थान नें यतचित्तात्मा होकर सब प्रकार की आशाओं का परित्याग करके, किसी अच्छे न वहुत ऊँचे और न वहुत नीचे आसन पर जिस पर कोई मृगछाला या कुशा का आसन विछा हो, मन को एकाग्र करके और इन्द्रियों के वेग को रोक करके बैठते हुये आत्म-शुद्धि के लिये योगाभ्यास करे। उस समय अपने शरीर का सन्तुलन ठीक-ठीक रखे, काया, गर्दन और सिर बिल्कुल समभाग में स्थित हों, दिशा-प्रदिशाओं को न देखे तथा अपनी नासिका के अग्रभाग को देखता रहे। सब प्रकार से निर्भय होकर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ मत्परायण होकर

ध्यानयोग का अभ्यास करे। जो अभ्यासी इस प्रकार नित्य योगाभ्यास करता है, वह निर्वाण को, परम शान्ति को और मेरे संस्थान को पा जाता है।

भगवान् के इस आदेशानुसार सर्वसाधारण को अपना अभ्यासक्रम वनाना चाहिए। श्री गुरुदेव ने यदि किसी विशेष प्रकार की धारणा ध्यान का उपदेश किया हो तो उसको भी भगवान् के द्वारा कही गई इस विधि के अनुसार समकाय शिरोग्रीव हो करके ही करना चाहिए।

मेरुदण्ड को सीधा रखने वाले आसन

१. **सिद्धासन**–सीधे बैठकर अपने बांये पैर की एड़ी को गुदाद्वार के पास योनि-स्थान में रखें और दूसरी एड़ी लिंगनाल के ऊपर रखे। दोनों पैरों के पंजे पिंडली एवं जानुस्थान के बीच में दबे हुए हों। इस प्रकार जलंधर वन्ध लगा करके संयतेन्दिय होकर भ्रूमध्य को देखें। इस आसन को मोक्ष-द्वार का खोलने वाला कहा गया है। इस आसन पर बैठकर अभ्यास करने से योगी को जल्दी सिद्धि प्राप्त होती है। इस आसन पर बैठकर मूलवन्ध लगाने से अपान वायु का ऊर्ध्वाकिर्षण स्वाभाविक हो जाता है एवं वीर्यवाहिनी नाड़ी दव जाती है। अतः यह आसन गृहस्थियों को विशेष लाभप्रद नहीं है। ब्रह्मचारी एवं सन्यासियों को इस आसन का विशेष अभ्यास करना चाहिए। गृहस्थियों के साधारण अभ्यास के लिए स्वास्तिक एवं भद्रासन उपयोगी हैं। उनका साधारण प्रकार यही है कि अपने दांये या बांये पैर की एड़ी को गुदाद्वार, योनिस्थान या लिंगनाल के ऊपर रखने का प्रयत्न न करें केवलमात्र जानु और पिंडलियों के बीच में पैरों के दोनों पंजों को दवाकर समकायग्रीव होकर बैठ जाये।

२. **पद्मासन**–पद्मासन करने की साधारण विधि इस प्रकार है–अपने दायें पैर के पंजे को बांये पैर की जंघा पर जमाकर रखें और बांये पैर को दायें पैर की जंघा पर रखकर 'समकाय शिरोग्रीव' होकर मेरुदण्ड को सीधा रखते हुए दोनों हाथों की अंजलि पुट को नाभि के नीचे जहाँ दोनों पैरों की एड़ी जमी हुई हो वहाँ जमाकर रखें व ठोड़ी को छाती में लगाकर भ्रूमध्यावलोकन करें। इसको सर्वव्याधि विनाशकारी पद्मासन कहते हैं। अभ्यास के लिए यह भी सव प्रकार से श्रेयस्कर है। इसके अतिरिक्त ध्यानाभ्यास के लिये योगिराज लोग इसी पद्मासन के कई भेद मानते हैं किन्तु हर व्यक्ति के लिये वे सुलभ नहीं हो सकते। नियमपूर्वक अभ्यास करने वाले साधकों के लिये सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन और भद्रासन ही अधिक सरल और श्रेयस्कर हैं। जो लोग अधिक देर तक समकायग्रीव होकर नहीं बैठ सकते वे सीधा लेट करके शरीर को विना हिलाये शवासन की विधि से भी ध्यानयोग का अभ्यास कर सकते हैं, किन्तु यह आसन जमीन पर सीधा लेटकर या तख्त पर लेटकर करना चाहिए।

३. **शवासन**–यह आसन स्त्रियों के लिये विशेष रूप से हितकर हो सकता है, किन्तु इसमें भी कुछ पालनीय वातें हैं। शरीर को सीधा रखा जाय। विल्कुल स्तम्भित भाव से रहें, श्वास-प्रश्वास की गति को समान रखें और गुरु उपदिष्ट मार्ग से अपने इष्टदेव का वरावर ध्यान करते चले जायें। ऐसा करने से थोड़े ही दिनों में मन की एकाग्रता होगी और दिव्यानुभव जारी हो जायेंगे।

ये पाँच आसन जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है सर्वसाधारण के लिये ध्याना-भ्यास हेतु वहुत उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त गोरक्षासन, वीरासन में बैठ करके भी अभ्यासी लोग ध्यानाभ्यास करते हैं। क्योंकि उनमें भी मेरुदण्ड सीधा रहता है और सुषुम्ना की स्वाभाविक गति होती है।

प्राणायाम और मन की एकाग्रता

मनुस्मृति में लिखा है :–

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां हि दह्यन्ते मलाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अर्थात्–जिस प्रकार सोना-चाँदी आदि धातुओं के मल आग में तपाने से जल जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के मल प्राणायाम करने से जल जाते हैं और इन्द्रियाँ सूक्ष्म तत्वों को ग्रहण करने वाली वन जाती हैं। इसलिये मन की एकाग्रता के लिये प्राणायाम भी परमावश्यक है। शास्त्रीय सिद्धान्त है :–

यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते ।
यत्र प्राणो लीयते तत्र मनो लीयते ॥

अर्थात्–जहाँ पर मन लय होता है, वहीं प्राण लय हो जाया करता है और जहाँ प्राण लय होता है वहीं मन लय हो जाता है। इस प्रकार मन व प्राण का विल्कुल अभेद्य सम्वन्ध है। अतः यदि हम अपने मन को रोकना चाहते हैं तो प्राणवायु पर निग्रह करना चाहिए।

प्राणायाम की विधि–प्राणायाम करने वाला व्यक्ति सिद्धासन, स्वस्तिकासन या पद्मासन में बैठकर प्राणायाम करे। प्राथमिक अभ्यास में भी प्रणव की ६ मात्रा गिनते हुए वाईं नासिका से धीरे-धीरे प्राण को अन्दर ले जाये। जव प्राण भीतर चले जायें तो ठोड़ी को छाती के साथ लगा दें व नित्य चेतन का ध्यान करते हुए प्राण को भीतर रोके रहे। जव तक १२ वार प्रणव का जाप न हो जाप तव तक प्राण को छोड़े नहीं।

वारह वार मन्त्र का जाप हो जाने के वाद पुनः नौ वार मन्त्र जपते हुए दाहिनी नासिका से शनैः शनैः प्राण को छोड़ दे। इसी प्रकार फिर दाहिनी नासिका से छः वार मन्त्र का जाप करते हुए प्राण को भीतर ले जाये और वारह वार मन्त्रजप करते हुए कुम्भक की विधि से ठोड़ी में छाती में लगाकर प्राण को रोके रहे और फिर नौ वार मन्त्र का जाप करते हुए वाईं नासिका से प्राण को छोड़ दे। जिस समय प्राण को छोड़े उस समय पेट को सिकोड़ते चले आना चाहिए। इसी को उड्डियान वन्ध कहते हैं। प्राणायाम करते समय मूलद्वार गुदा का आकुञ्चन रखें अर्थात् मूलवन्ध लगाये रहें। रेचक करते हुए उड्डियान वन्ध और पूरक करने के वाद कुम्भक की स्थिति में जलंधर वन्ध लगाना चाहिये। इस प्रकार यह प्राणायाम दो-तीन वार बदल-वदलकर करना चाहिए। इस प्राणायाम को नाड़ी शोधन प्राणायाम कहते हैं। इसका शनैः शनैः अभ्यास करने से मन की एकाग्रता वढ़ने लगती है।

भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रिका प्राणायाम पद्मासन पर बैठकर करना चाहिए और उसमें प्राण को ले जाते तथा निकालते हुए लुहार की धौंकनी के समान प्राण की गति को चलाना चाहिए। यह प्राणायाम पाँचों प्राणवायुओं पर नियन्त्रण करता है। यदि वज्रासन में शक्ति चालिनी मुद्रा को करते हुए यह प्राणायाम किया जाय तो कुण्डलिनी शक्ति का प्रबोध होता है और समाधि द्वार खुलता है। साधारण रूप में भी इस प्राणायाम को करने से मन की एकाग्रता बढ़ती है तथा थोड़े ही दिनों के अभ्यास के वाद योगी को सम्प्रज्ञात योग आरम्भ हो जाता है और इसके फलस्वरूप बड़े-वड़े दिव्यानुभव जारी हो जाते हैं।

भृंगीनाद और मन की एकाग्रता

वहुत से साधु लोग मन की एकाग्रता के लिए भृंगीनाद का अभ्यास किया करते हैं। मन का संयमन वाह्य और आभ्यन्तर दोनों कुम्भकों से होता है किन्तु फिर भी इस विषय में वाह्य कुम्भक का अभ्यास वहुत से अभ्यासियों के मत में श्रेष्ठतम है। महात्मा लोग लम्बे स्वर से प्रणव का उच्चारण करते हैं और उसमें भृंगीनाद को सुनने का प्रयत्न किया करते हैं। प्राण को भीतर खींचकर जलंधर बन्ध लगावे और उसके वाद लम्बे स्वर से प्रणव ध्वनि के साथ उसका रेचक करे और भौंरे की गुंजार की तरह उकारान्त ध्वनि का गले व नाक के सम्बन्ध से उच्चारण करता रहे, इसी को भृंगीनाद कहते हैं। इसके अनवरत अभ्यास से अवश्य ही मन की एकाग्रता बढ़ती है।

शाम्भवी मुद्रा

जो लोग शाम्भवी मुद्रा का अभ्यास करते हुए भ्रूमध्य दृष्टि करके उस निरालम्व को देखने का प्रयत्न करते हैं उनको श्री गुरुदेव की कृपा से वहुत ही जल्दी सफलता प्राप्त होती है तथा वे अपने आपको शिवमय देखने लगते हैं। यह शाम्भवी मुद्रा राज-योग और हठयोग दोनों प्रकार से की जाती है। यह सर्वशास्त्र गोपिता और सर्वमान्य है। इसी प्रकार षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से भी मन पर जल्दी नियन्त्रण होता है।

षण्मुखी मुद्रा

सिद्धासन या पद्मासन से समकाय शिरोग्रीव हो करके योगाभ्यासी अचल भाव से बैठे और दोनों हाथों के अंगूठे, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका से क्रमशः दोनों कान, दोनों आँखें, नासिकारन्ध्र तथा मुखद्वार वन्द करे। अर्थात् उन्हें कान से लेकर मुखद्वार तक फैला कर रखे। इस प्रकार योगी ध्यानस्थ होकर भ्रूमध्य चिन्तन करे या नादानुसन्धान करे तो जल्दी ही मन की लयता प्राप्त होती है। ये सव साधन हमारे आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर लिखे हैं।

स्वाध्याय व मन की एकाग्रता

हमारे शास्त्रों में स्वाध्याय की वहुत वड़ी महिमा लिखी है। स्वाध्यायशील व्यक्ति अवश्य ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। भगवान पतंजलिदेव स्वाध्याय की महिमा वतलाते हुए स्पष्ट लिखते हैं :—

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।

अर्थात्—स्वाध्यायशील व्यक्ति को अपने इष्टदेव के दर्शन अवश्य होते हैं। महर्षि व्यासदेव इस सूत्र का अर्थ अपने भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं :—

देवाः ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं यच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति।

देवता लोग, सिद्धपुरुष व ऋषि लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने आते हैं व उनके कार्यों को सफल करते हैं।

स्वाध्याय के दो भेद

प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणां अध्ययनं वा स्वाध्यायः।

अर्थात्—परमात्मा के पवित्र नाम ओंकार आदि का जाप करना स्वाध्याय कहलाता है और इसी प्रकार मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। वहुत

से सन्त अपना कार्यक्रम इस प्रकार का वना लेते हैं कि वे लगातार दो या तीन घण्टे किसी मन्त्र का जाप करते हैं और उसके बाद उपनिषदों का, गीता, रामायण या शिव सहस्त्रनाम का पाठ किया करते हैं। इन क्रियाओं में जव मन थक जाता है तो वे ध्यान का अभ्यास किया करते हैं। स्वाध्याय के निरन्तर अभ्यास से मन्त्र स्वभाव से ही मन में प्रविष्ट हो जाने के वाद यदि हम अपने इष्टदेव का ध्यान करने लगते हैं तो उनका साक्षात्कार वहुत जल्दी हो जाता है। योगदर्शन में भगवान् व्यासदेव ने इस विषय में लिखा है :–

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत ।
स्वाध्याय योग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।

योगाभ्यासी स्वाध्याय के वल से समाधि को प्राप्त करे और समाधि से स्वाध्याय का विचार करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश होता है।

आज के समय में मनुष्य इस विषय में प्रयत्नशील नहीं रहता क्योंकि उसे इस अन्तर्निधि की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। कर्मठ व्यक्ति को स्वाध्याय का क्रम इस प्रकार वनाना चाहिए कि वह अपने चरम लक्ष्य को स्वाध्याय के वल से प्राप्त कर सके। किसी मन्त्र का हम अपनी रसना से इतना जप करें कि वह मन्त्र जप से उठ जाने के बाद भी कुदरती मन में घूमता ही रहे। हम अपने मन को उस मन्त्रजप से हटाना भी चाहें तो भी न हटे। ऐसा हो जाने के वाद भी हमें यह सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए कि अव तो हमारा यह मन्त्र विना जपे ही मन में घूमता है तो अव हमें इसके जपने की क्या आवश्यकता है। यदि इस वृत्ति की प्रधानता को मानकर हम अपने जप रूप स्वाध्याय को हटा देते हैं तो यह वनती हुई स्थिति कुछ ही दिनों में पूर्ववत हो जाती है।

इसलिए मन्त्र के मन में प्रविष्ट हो जाने पर भी कम से कम छः महीने अनवरत मन्त्र जाप करते रहना चाहिए। इस प्रकार लगातार जप करते रहने पर मन्त्र का मन में घूमना वहुत वढ़ जाये तो फिर उस उपांशु जप को छोड़कर मानस जप की आदत डालनी चाहिए। यदि हम नियमानुर्वतिता से तीन घण्टे लगातार मानस जप करते रहें और उस काल में नींद या आलस्य न सताये तो छः महीने के निरन्तर अभ्यास से वही मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जाता है। मन्त्र के बुद्धिगत हो जाने के वाद स्फुट प्रज्ञा लोक अनायास ही होने लगता है। तरह-तरह के तेजोमय दृश्य उस योगाभ्यासी के सामने आने लगते हैं। ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर योगी को फिर जप करने की आवश्यकता नहीं रहती। उसको चिन्तन मात्र से ही समाधि प्राप्त हो जाती है।

स्वाध्याय को पराकाष्ठा में पहुँचा लेने के वाद साधक को चाहिए कि वह अपने इष्टदेव का मानस-पूजन किया करें। मानस-पूजन करने वाले साधक को वहुत जल्दी प्रज्ञालोक हो जाता है और उसके इष्टदेव समाधि में हर समय उसके सामने वने रहते हैं।

मानस पूजन की विधि

जिस समय हम मानस पूजन के लिए बैठें उस समय मेरुदण्ड को सीधा रखकर हृदय देश में अपने इष्टदेव का मानस स्मरण करें। कल्पना से उनको अपने हृदय में बैठा लें। फिर मन की कल्पना से ही शुद्ध जल से उनके चरण धोयें, आचमन करायें और स्नान करायें। स्नान कराने की अवधि वढ़ाई जा सकती है। पहले साधारण जल से स्नान करायें, फिर दिव्य गंगाजल से स्नान करायें। इस प्रकार स्नान कराने के वाद उनके शरीर को पोंछें और फिर उनको वस्त्राभूषण अर्पण के वाद अव उनको किसी खाद्य पदार्थ का भोग लगायें, धूप-दीप-नैवेद्य अर्पण करें तत्पश्चात् उनकी काल्पनिक आरती करें। उसके वाद बैठ जायें और मन्त्र का मानस जाप शुरू कर दें। एक वार मन्त्र कहें और नमस्कार करें। इस प्रकार नमस्कार करने का १०१ वार का या १०८ वार का नियम वना लें। ऐसा कर लेने के वाद फिर स्वभावतः ही जप करते रहें। दो या तीन घण्टे अनवरत जप करने के वाद फिर हम अपने इष्टदेव का ध्यान करके बैठ जायें। उसी प्रकार कल्पना से उनको अपने हृदय में विराजमान करें और श्वास-प्रश्वास उनके चरणों में अर्पित करते रहें।

श्वास-प्रश्वास से मन्त्रजप की विधि

काफी स्वाध्याय के वाद जव अपने इष्टदेव का ध्यान करने बैठें तो जिस मन्त्र का हम जाप कर रहे हैं वही मन्त्र अपनी श्वास धारा से अपने इष्टदेव के चरणों में अर्पित कर दें और फिर वहाँ से श्वास को उठा दें। श्वास लेने की सें सें की आवाज के साथ अपने अन्दर उनके चरणों से एक तेज धारा को और अपने मन्त्र को अन्दर खेंच लें। इस प्रकार निरन्तर श्वास-प्रश्वास में मन्त्र का जाप करने से मन स्वतः ही एकाग्र हो जाता है। क्योंकि प्राण व मन की विल्कुल अभिन्नता है।

दिव्य परमाणु व मन की एकाग्रता

यदि हम किसी ऐसे स्थान में बैठकर अभ्यास करते हैं जहाँ पर किसी योगिराज ने निवास किया हो तो उस वातावरण में मन सव प्रकार से शान्त रहता है। हमारे पूर्वजों का कथन है :—

यस्मिन्देशे वसेद्योगी ध्यान योगविचक्षण: ।
सोऽपि देशो भवेत्पूत: किं पुनस्तस्य बांधवा: ।।

अर्थात्–जिस देश में एक ध्यान योगी निवास करता है वह देश का देश ही पवित्र हो जाता है फिर उसके भाई-वन्धुओं का तो कहना ही क्या ? जहाँ पर योगी वास करता है उसकी नासिका रन्ध्रों से तेज के परमाणु हर समय निकलते रहते हैं । जिसकी आत्म-शक्ति जितनी वढ़ी हुई होती है उसके वे परमाणु उतने ही तेजस्वी और प्रभावशाली होते हैं । संसार का एक नियम है कि वड़ी शक्ति छोटी शक्ति को अपने अन्दर विलीन कर लेती है । इसी नियमानुसार सिद्धसेवित स्थान में उस योगिराज के नासिकारन्ध्रों से निकले हुए परमाणु वहाँ के वायुमण्डल के अन्दर व्याप्त रहा करते हैं । जव कोई साधारण सांसारिक व्यक्ति वहाँ बैठकर अभ्यास करने लगता है तो उसके साधारण परमाणु योगिराज के तेजस्वी परमाणुओं में विलीन हो जाते हैं और साधक का मन उस योगिराज के मन की ताकत से अपने आप विलीन होने लगता है और तरह-तरह के दिव्य दृश्य उसके सामने आने लगते हैं, इसलिए मन की एकाग्रता चाहने वाले साधक को अपना अभ्यास किसी महापुरुष द्वारा सेवित स्थान में रहकर करना चाहिए । वहाँ पर रहने से उसको स्वत: ही शक्ति मिलेगी और उसका मन एकाग्र होकर समाहित हो जायेगा । श्री सिद्धगुफा सवांई मेरे पूज्य गुरुदेव सिद्धों के महासिद्ध योगयोगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी के चरणारविन्द से पवित्र स्थान है । किसी समय नैपाल हिमालय को जाते समय वहाँ श्री प्रभु जी ने कुछ समय निवास किया था । उसी के परिणामस्वरूप अभी तक भी वहाँ का यह दिव्य चमत्कार है कि जो साधक गुफा में बैठकर अपना अभ्यास करता है उसे स्वत: ही मन की एकाग्रता प्राप्त हो जाती है । इसीलिये श्री सिद्धगुफा पर वहुसंख्यक साधकों की सदा भीड़ लगी रहती है तथा चैत्र सुदी रामनवमी को तो वहाँ बीसियों हजार आदमियों का भारी मेला लगता है । इस गुफा की रज को चाट-चाटकर योग-साधक अपने आपको धन्य और कृतार्थ करते हैं :–

भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योगदर्शन में कहा है :–

वीतराग विषयं वा चित्तम् ।

अर्थात्–वीतराग पुरुषों के चित्त में चित्त, मन में मन, बुद्धि में बुद्धि और अहंकार में अहंकार विलय कर देने के वाद स्वत: ही समाधि होने लगती है । अत: साधकों को चाहिए कि किसी ऐसे दिव्य स्थान में ही अपना अभ्यास करें ।

ध्यान निर्मंथन

अतिशय रगड़ करै जो कोई ।
अनल प्रगट चन्दन ते होई ॥

इस विषय में उपनिषदों में कहा गया है कि :–

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मंथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥

अपने शरीर को अरणि वनाये और प्रणव (ओ३म्) को उत्तराणि और फिर ध्यान के निर्मंथन से हृदयदेश में छुपे हुए परमेश्वर का साक्षात्कार करे । अर्थात् प्रणव का श्वास-प्रश्वास से जाप करे । ये सव इस प्रकार के साधन हैं जिनसे मनुष्य को अवश्य ही योगाभ्यास में सफलता मिलती है ।

अभ्यासी साधक यदि मानस पूजन की भाँति रात्रि को सोने से पूर्व एक घण्टा मन्त्रजाप करता रहे और फिर खाट पर लेटकर स्वप्न लेने की भाँति अपने मन को कैलाश, गोलोक धाम या साकेत आदि कहीं पर भी पहुँचा दे और कल्पना से वहाँ के चित्र खींचता हुआ सो जाय तो उसकी वृत्ति सारी रात्रि भजन करेगी । अनुभवी सन्तों ने कहा है कि :–

सोवन तो सवसे भला जो कोई जाने सोय ।
अन्तलौं लागी रहे सहजहिं सुमिरन होय ॥

उपरोक्त विधि से जो मनुष्य लगातार ४–६ महीने अभ्यास करेगा तो अवश्य ही उसकी नींद योगनिद्रा के रूप में परिवर्तित हो जायेगी और उसका सोना सार्थक हो जायेगा । वह अनुभव करेगा कि यह उसकी वहुत वड़ी विजय है, किन्तु इस वात का सदा ध्यान रहना चाहिए कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर कड़ा नियन्त्रण रखे । जिसकी इन्द्रियाँ चंचल रहती हैं वह योगी भोक्ता वना रहता है, जिससे उसकी शक्तियाँ क्षीण होती रहती हैं । परिणामस्वरूप वह अपने चरम लक्ष्य को नहीं पा सकता । इन्द्रियाँ जितनी-जितनी अपने विषयों में प्रवृत्त होंगी उतनी ही उसकी भोग वासना वढ़ती चली जायेंगी । क्योंकि कामनायें भोग से शान्त नहीं होतीं प्रत्युत वे और अधिक वढ़ती जाती हैं । जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर निग्रह नहीं करता उसका मन एकाग्र नहीं हो सकता ।

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में जगदात्मा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है :–

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायोर्नावमिवाम्भसि ।।
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

यदि हम अपने मन को इन्द्रियों के पीछे लगा देते हैं तो इन्द्रियों के वश में हुआ वह मन बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जिस प्रकार वायु जल के अन्दर नौका को खींचकर ले जाती है। इसलिए जिस व्यक्ति ने इन्द्रियों के विषयों से अपने मन को हटा लिया है उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित हो सकती है और वह व्यक्ति समाहित हो सकता है। उपर्युक्त साधनों को करते हुए मनुष्य को ब्रह्मचर्य के पालन का और भी विशेष ध्यान रखना चाहिए। हमारे शास्त्र कहते हैं :–

वीर्यं हि तद् ब्रह्म।

ब्रह्म साक्षात्कार का कारण होने से वीर्य की भी ब्रह्म संज्ञा है। योगदर्शन में ब्रह्मचर्य का फल वतलाते हुए कहा गया है :–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

अर्थात् जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उनका वीर्यवल उत्तरोत्तर वढ़ता रहता है।

इसलिये उत्तमोत्तम साधना करते हुए अपने आपको संयमित रखना और बुद्धि को प्रतिष्ठित रखना नितान्त आवश्यक है। हमारे शास्त्रों में बुद्धि को सारथी की उपमा दी गई है, इन्द्रियों को घोड़े, मन को लगाम, शरीर को रथ और आत्मा को राजा (रथ का सवार) वताया गया है। यथा :–

आत्मानं रथिनं विद्धि,
शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि,
मनः प्रग्रहमेव च ।।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।।

अतः इन्द्रियों पर नियन्त्रण करके ही हम परम श्रेय के भागी वन सकते हैं। मनुष्य के शरीर में ज्यों-ज्यों वीर्य का कोष वढ़ता चला जाता है त्यों-त्यों उसका

शरीर देव-शरीर बनता चला जाता है और बुद्धि प्रतिष्ठित होती चली जाती है। भगवान् ने गीता के दूसरे अध्याय में स्थित प्रज्ञता के लिये इन्द्रियों के निमन्त्रण का स्पष्ट आदेश दिया है :-

यदा संहरते चायं,
कूर्मोऽगांनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य-
स्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

अर्थात्-जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को सिकोड़कर अपने अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर अपने नियन्त्रण में कर लेता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है और समाधि-साधनों का भान करने लगती है।

संकीर्त्तन

नास्ति नाद सदृशो लयः ।

नादानुसन्धान के समान जल्दी लयता प्रदान करने वाला दूसरा कोई साधन नहीं है। आजकल स्थान-स्थान पर हरिनाम संकीर्त्तन की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। यह भी मन की एकाग्रता का एक प्रमुख साधन है। क्योंकि संकीर्त्तन करने से हर व्यक्ति की ध्वनि मिलकर एक हो जाती है और वह ध्वनि मन को पकड़ने वाली हुआ करती है। संकीर्त्तन के विषय में भगवान् विष्णु ने अपने श्रीमुख से कहा है :-

नाहं वसामि बैकुण्ठे,
योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति,
तत्र तिष्ठामि नारद ।

हे नारद ! मेरे रहने के दो प्रसिद्ध स्थान हैं-बैकुण्ठधाम और योगियों का हृदय, किन्तु इन स्थानों पर रहते हुए भी मैं उन-उन स्थानों पर पहुँच जाया करता हूँ जहाँ मेरे भक्तजन प्रेमपूर्वक संकीर्त्तन करते हैं।

इस श्लोक का यह अर्थ नहीं कि बैकुण्ठ और योगियों के हृदयों को भगवान् छोड़ देते हैं। प्रत्युत इनके रहने का स्थान तो बैकुण्ठ और योगियों का हृदय ही है किन्तु फिर भी जहाँ प्रेमविह्वल हो करके भक्त लोग संकीर्त्तन करने लगते हैं, उनकी भक्ति विशेष से आकृष्ट हुए ईश्वर उनके पास रहा करते हैं।

यदि साधक विधिवत मण्डल वना करके, साज-वाज, ताल-तरंग के साथ अपने इष्टदेव भगवान् हरि का स्मरण करता हुआ तन्मय होकर संकीर्त्तन करता है तो यही संकीर्त्तन उसके मन की एकाग्रता का एक महत्वपूर्ण साधन वन जाता है। हमारे आश्रमों में सायंकालीन आरती के समय निर्वाणाष्टक स्तोत्र बोलने की रीति है। यह स्तोत्र गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरित मानस के उत्तरकाण्ड में लिखा है। इसकी अन्तिम पंक्ति "प्रभो पाहि आपन्नमामीश शम्भो" है। "नमामीश शम्भो! नमामीश शम्भो" की संकीर्त्तन ध्वनि का सामूहिक उच्चारण करने से गायकों का मन एकाग्र हो जाता है और उनको दिव्यानुभव जारी हो जाते हैं। एकाग्र मन वाले व्यक्ति यदि इस प्रकार की ध्वनियों का अपने मुख से उच्चारण करें तो उनके अन्दर एकाग्रता का आना अवश्यम्भावी है। इसलिए जहाँ पर इस प्रकार के सामूहिक संकीर्त्तन होते हैं और गुरुदेव के प्यारे चरणकमल हृदय में विराजमान रहते हैं तो वहाँ वड़ी जल्दी मन एकाग्र हो जाता है तथा अनुभूतियाँ जारी हो जाया करती हैं।

एक अद्भुत घटना

जिला करनाल में कुराना नाम का एक गाँव है। गाँव के वाहर एक शिवालय योगाश्रम है। वहाँ पर गाँव के कुछ भक्त लोग इकट्ठे होकर श्री हरिनाम संकीर्त्तन किया करते थे। वे सब के सव श्री गुरुदेव के चरण-कमलों के अनुरागी थे। सायंकाल जिस समय वे लोग निर्वाणाष्टक स्तोत्र का उच्चारण करते हुए नमामीश शम्भो! नमामीश शम्भो! की सामूहिक ध्वनि का उच्चारण किया करते थे तो वे पत्थर की मूर्ति की तरह स्तम्भित रह जाया करते थे। परिणाम यह हुआ कि गुरुदेव की कृपा से इस ध्वनि का उच्चारण करने वाले व्यक्ति सैकड़ों की संख्या में बेहोश होने लगे और उनको अन्तरानुभूतियाँ जारी हो गयीं। उस ध्वनि के उच्चारण के समय जो व्यक्ति वहाँ आकर बैठता वही स्तम्भित की तरह रह जाया करता था। वहाँ पास में ही ईख का रस निकालने वाला एक देशी कोल्हू था जिसको बैलों से चलाया जाता था। संयोगवश नित्य प्रति ही ऐसा होना शुरू हो गया कि इधर सायंकाल को हरिनाम संकीर्त्तन की बेला आती और इधर किसान अपना कोल्हू चलाना शुरू करता। धीरे-धीरे संकीर्त्तन ध्वनि का प्रभाव बैल पर पड़ने लगा। ज्योंही लोग एकाग्र मन से "नमाशीश शम्भो" की ध्वनि का उच्चारण करते त्योंही कोल्हू में जुता हुआ वह बैल भी निश्चेष्ट होकर खड़ा हो जाया करता था। जब तक वह ध्वनि चलती तव तक वह बैल खड़ा ही रहता था। चाहे कोई उसे कितना ही डंडे से पीटे वह अपने स्थान से हिलता तक नहीं था। उसकी आँखों की पुतलियाँ नीचे उतर आती थी और वह चकित होकर चारों ओर देखने लगता था। इसका कारण यह था कि उसकी आँखें

ध्येय वस्तु दीखते रहने के कारण निश्चेष्ट हो जाया करती थीं और समाधि के वाद पुतलियाँ नीचे आ जाया करती थीं।

इस घटना से यह सिद्ध होता है कि मन की एकाग्रता के विविध साधनों में सामूहिक हरिनाम संकीर्त्तन भी एक महत्वपूर्ण साधन है।

जो मनुष्य निष्काम कर्मयोग का अवलम्व लेते हुए अपने अभ्यास को वढ़ाता है वह कालान्तर में अवश्य ही सफलता को पा लेता है और जो व्यक्ति लोलुपतावश चार छः दिन ही अभ्यास करके सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे हताश होकर रुक जाया करते हैं, साधक को चाहिये कि वह अपने भजन के कोष की वरावर रक्षा करता रहे। भजन की कमाई का केन्द्र मन है। भजन सम्वन्धी सव कमाई मन में जमा रहा करती है। कमाई वाला मन यदि किसी वासना में पड़कर मोहग्रस्त हो जाय तो खजाना लुट जाता है। इसी प्रकार यदि साधक क्रोध के वशीभूत होकर किसी को अपशब्द कहता है तो उसकी कमाई वाणी के द्वारा निकल जाती है। उसकी वह कमाई दूसरों के लिए अनिष्टकारक हुई और इधर वह अपने आप खाली हो बैठा। यदि वह किसी से प्रगाढ़ प्यार करता है तो प्यार किया जाने वाला व्यक्ति उसका सच्चा दुश्मन है और वह उसकी कमाई को लूट रहा है।

अतः परम लक्ष्य की प्राप्ति के इच्छुक साधक को वहुत संभलकर चलना चाहिए।

इन नियमों को समझकर जो व्यक्ति अपना अभ्यास वढ़ाने का प्रयत्न करेगा, प्रभु की कृपा से उसका अभ्युत्थान अवश्यमेव होगा और सव प्रकार से उसका कल्याण होगा।

चौदहवां परिच्छेद

यमों की साधना

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच 'यम' कहलाते हैं और इनकी साधना को यमों की साधना कहा जाता है। यम-नियमों की सब साधनाओं की आधार-भूत 'अहिंसा' है।

भगवान् व्यासदेव 'अहिंसा' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं।

तत्राहिंसा—सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। तथा चोक्तम्—स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमाद कृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।

अर्थात्—अहिंसा के अतिरिक्त शेष यम-नियम अहिंसा की पुष्टि के लिए ही हैं। इस विषय को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। उदाहरणार्थ हम सत्य बोलते हैं, सत्य क्या है इसे स्पष्ट करते हुए भगवान् व्यासदेव ने निम्नलिखित पंक्तियों में उसका अर्थ बताया है :—

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं, यथानुमितं, यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेवभवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं ब्रूयात्।

अर्थात्—यथार्थ वाणी जैसी देखी, सुनी व अनुमान की हुई, दूसरे को अपना अर्थ समझाने के लिये न वंचना से युक्त, न भ्रान्तियुक्त व न अस्पष्टार्थ कही हुई तथा जो प्राणीमात्र के परोपकार के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य प्रयुक्त होती है वही वाणी सत्य कहलाती है। इसी के द्वारा प्राणीमात्र का भला होता है। इसलिए सत्यवादन अहिंसा की निर्मलता के लिए होता है। इसी प्रकार अस्तेय आदि यम तथा सभी प्रकार के व्रताचरण अहिंसा धर्म को ही परिपुष्ट करते हैं। यह अहिंसा जाति, देश व समय तक सीमित न रहकर सार्वभौमिक हो तो महाव्रत कहलाती है।

पतंजलिदेव जी के शब्दों में :—

जातिदेश कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम् । (योगसूत्र २।३१)

जाति देश आदि का अभिप्राय

जैसे मछली मारने वाले केवल मछली ही मारते हैं। उनकी हिंसा मछली जाति में है। दूसरी सब जगह वे अहिंसक हैं। देश में तीर्थ आदिकों में जो बलिदान देने की प्रथा है वह स्थान विशेष की हिंसा है। इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी खास पुण्यकाल में हिंसा करते हैं जैसे :–किसी खास समय पर आने वाली अष्टमी, चतुर्दशी आदि में बलि का विधान होता है वह कालविशेष हिंसा या कालगता हिंसा कहलाती है। इसी प्रकार किसी विशेष समय पर किसी विशेष प्रयोजन के लिये जो हिंसा की जाती है वह समय की हिंसा कहलाती है। इन्हीं सभी प्रकार की हिंसाओं से निकलकर प्राणि-मात्र में, सब देशों में, सब कालों में और बड़े से बड़े कार्य के लिये भी जो हिंसा नहीं करता वह अहिंसा रूप महाव्रत को धारण करने वाला बन जाता है।

हिंसा की हुई, कराई हुई, लोभ से, क्रोध से व मोह से तथा मृदु, मध्य, अधिमात्रादि भेद से सैकड़ों प्रकार की होती है। पूर्ण अहिंसाव्रती वही कहला सकता है जो काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर किसी भी प्रकार की हिंसा न करे, न कराये और न अनुमोदन करे। भगवान् पतंजलि जी लिखते हैं :–

वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम् ।

जब जब साधक के सामने हिंसावृत्ति आये तब तब उसको प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए। मनुष्य लोभ, क्रोध, मोह के वश में होकर सोचता है कि मैं अपने शत्रु को मार डालूँगा, झूठ बोलना पड़े तो झूठ भी अवश्य बोलूँगा, उसके धन को चुरा लूँगा, उसकी स्त्री से बलात्कार करूँगा और उसके घर पर जबरदस्ती कब्जा कर जाऊँगा। इत्यादि भाव जिस समय साधक के मन में प्रबलता धारण करें तो उस समय उसे इससे विपरीत भावनाओं को अपने हृदय में स्थान देना चाहिए। उसे सोचना चाहिए कि संसाराग्नि के घोर अंगारों में जलते हुए मैंने प्राणिमात्र को अभय देने वाला पवित्र योग अपनाया है। अब मैं पुनः उस अग्नि में नहीं पड़ूँगा। इस प्रकार की भावनाओं को दृढ़ करता हुआ मनुष्य कृता, कारिता, अनुमोदिता आदि तीनों प्रकार की हिंसाओं से बचकर पूर्ण अहिंसाव्रत को प्राप्त करता है। ऐसा साधक प्राणिमात्र के प्रति बैर छोड़ देता है तथा दूसरे प्राणी भी उसके प्रति वैरभाव छोड़ देते हैं। श्री पतंजलिदेव जी अहिंसा की पराकाष्ठा का यही फल बतलाते हैं :–

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संन्निधौ वैरत्यागः ।

अर्थात्–अहिंसा की पराकाष्ठा को पहुँच जाने वाले साधक के प्रति प्राणिमात्र वैर छोड़ देते हैं। यही कारण है कि अहिंसा के प्रतीक हमारे ऋषि-मुनियों के आश्रमों में शेर, चीता, हिरन आदि पशु समान-भाव से रहा करते थे।

दूसरा यम है—'सत्य'

सत्य की परिभाषा ऊपर 'अहिंसा' की पुष्टि में सविस्तार वतला चुके हैं कि मनसा, वाचा, कर्मणा प्रयुक्त की हुई वाणी–जिसमें किसी को धोखा न दिया जाये सत्य कहलाती है।

सत्य के लिए उपनिषदों में कहा गया है :–

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत० उप० २।१।१)

सत्य प्रभु का रूप है तथा वाणी का तप है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्तिः यतयः क्षीणदोषाः ॥

सत्यमेव जयते नानृतम।
सत्येन पन्थाः विततो देवयान ॥

अन्तःशरीर में विराजमान शुभ्र, ज्योतिर्मय आत्मा को सव प्रकार के दोषों से रहित योगी लोग सत्य भाषण, तपश्चर्या एवं ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा देख पाते हैं। सदैव सत्य की ही विजय होती है, देवों का मार्ग सत्य से विस्तृत है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी महाराज ने श्रीमद्भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में सत् शब्द ब्रह्म का नाम वतलाया है। यथा :–

ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

ओ३म्, तत्, सत् यह तीन प्रकार का ब्रह्म का ही नाम है व इसी के द्वारा वेद, यज्ञ व ब्राह्मणों का विधान हुआ। इसी प्रकार का संकेत उपनिषदों में स्थान-स्थान पर किया गया है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तैतरीयोपनिषद ३२-१-१)

सत्यं ब्रह्म । (वृहदारण्यकोपनिषद ५।५।१)

श्रीविष्णुसहस्रनाम में "सत्यः सत्यपराक्रमः" कहकर भगवान् की स्तुति की गई है। श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में गर्भ स्तुति के वर्णन में श्री भगवान् कृष्णचन्द्र को परम सत्य व सत्यात्मक शब्दों से सम्बोधित किया गया है। यथा :-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यामृत सत्यनेत्रं,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥

हे प्रभो ! आप सत्यव्रत, सत्यपरायण व तीनों कालों में परम सत्य हैं। सत्य ही आपकी प्राप्ति का मुख्य साधन है क्योंकि आप स्वयं सत्यात्मक हैं।

उन सच्चिदानन्दघन प्रभु का स्वरूप सत्य है, वे स्वयं सत्य हैं। अतः सत्य ही परब्रह्म है।

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र जी को वनवास हो जाने के बाद उन्हें लौटाने के विचार से गये हुए वशिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों के समक्ष सत्य की महिमा को हृदय में धारण करते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा :-

सत्यमेवानृशंसं च राज्यवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्यो लोके प्रतिष्ठितः ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेस्मिन् पदं गच्छति चाव्ययम् ॥
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥
सत्यमेवेश्वरो लोके, सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि, सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तनिष्ठं हुतं चैव, तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥

(वाल्मीकि रा० अयोध्या काण्ड, सर्ग १।१०।१४)

सत्य ही सनातन राजवृत्त है। राज्य की व लोक की सत्य में ही प्रतिष्ठा है। ऋषि, मुनि व देवता सभी ने सत्य को माना है–यही सनातन धर्म है। सत्यवादी ही इस लोक में अव्यय पद को प्राप्त करता है। जिस प्रकार मनुष्य सर्प से डरते हैं उसी प्रकार अनृतवादी से डरना चाहिए। क्योंकि इस संसार में सत्य ही परम तत्व है व सभी शुभों का मूल है। इस लोक व परलोक में सत्य ही ईश्वर है। धर्म सदा सत्य के आश्रित है, सत्य ही विश्व का मूल है। सत्य से बढ़कर कोई तत्व नहीं है। सभी दान, अनुष्ठान, यज्ञ व तप, सत्य पर आधारित हैं। इसी प्रकार चारों वेद, सत्य द्वारा ही प्रतिष्ठा पाने वाले हैं। अतः कल्याण चाहने वाले को सत्यपरायण होना चाहिए। इस प्रकार सत्य की अपार महिमा को बतलाकर भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने अपने व अपने पिता जी के सत्य वचन का पालन किया और अयोध्या नहीं लौटे। इन्हीं भावों को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में सरल भाषा में व्यक्त किया है।

सत्यंमूल सब सुकृत सुहाये। वेद पुरान विदित मनु गाये ।।
धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ।।
नहि असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होइ कि कोटिक गुंजा।।

इसी प्रकार अन्य सन्तों की वाणियों में भी सत्य की महान महिमा का वर्णन कूट-कूटकर भरा पड़ा है।

जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदै आप।

जिसके हृदय में सत्य है, उसी हृदय में प्रभु का वास होता है। ठीक यही भाव महाभारत में व अन्यान्य आर्षग्रन्थों में भरे पड़े हैं।

अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेध सहस्रेभ्यः सत्यमेव विशिष्यते ।।

महाभारत में शान्तिपर्व के १६२वें अध्याय में श्री भीष्मपितामह ने बड़े ऊँचे शब्दों में सत्य का व्याख्यान किया और अन्त में यहाँ तक कह दिया कि–

नान्तो शब्दो गुणानां च वक्तुं सत्यस्य पार्थिव।
अतः सत्यं प्रशंसन्ति विप्रा सपितृदेवता ।।

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में सत्य की महिमा का वर्णन किया गया है :–

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मारुतो वाति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणस्तथा ।
तस्मादाहु परो धर्मस्तस्मात्सत्यन्न लंघयेत् ।।
मुनयः सत्य निरताः मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथाः तस्मात्सत्यं विशिष्यते ।।

अर्थात्–सत्य की महिमा कहाँ तक कहें । सव ऋषि-मुनि तथा देवता सदैव सत्य की महिमा गाते रहे हैं । सत्य से सूर्य तपता है, सत्य से वायु वहता है और सत्य से अग्नि तपता है । सत्य में ही सव प्रतिष्ठित हैं । देवलोग, मुनि और ब्राह्मण सत्य से प्रसन्न होते हैं । अतः कभी भी सत्य का उल्लंघन नहीं करना चाहिए । सव ऋषि-मुनियों का वल सत्य है । इसी प्रकार के भावों से वेद, शास्त्र और पुराण भरे पड़े हैं । श्री मनु जी महाराज ने अपनी मनुस्मृति के आठवें अध्याय के ९६वें श्लोक में निशशङ्क सत्यवादी को वड़ा महत्व दिया है । यथा :–

यस्य विद्वान हि वदतः, क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ।
तस्मान्न देवा श्रेयांसो, लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ।।

निशशङ्क सत्यवादी का देवता लोग भी परम आदर करते हैं व उसको बड़ा मानते हैं । इसी प्रकार मनुस्मृति के चौथे अध्याय में प्रिय एवं सत्य भाषण ही सनातन धर्म वतलाया है । यथा :–

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।

अर्थात्–सत्य बोलो किन्तु प्रिय सत्य बोलो, कटु सत्य न बोलो । ऐसा भी न हो कि झूठ को सत्य सा वनाकर प्रिय बोल दो, वल्कि सत्य ही प्रिय शब्दों में बोलो । यही सनातन धर्म है ।

मनुष्य को मनसा, वाचा, कर्मणा सत्यवादी होना चाहिए । वाणी से शब्द कहे जा सकते हैं, भाव छुपाया जा सकता है किन्तु यह सब असत्य है, सत्य नहीं । जो किसी सभा में बैठकर सत्य को जानते हुए भी नहीं कहते वे एक प्रकार से असत्य ही बोलते हैं । अतः मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य पर आचरण करने वाले को ही सत्यवादी कहा जा सकता है ।

सत्यवचन व वाक्सिद्धि

जो मनुष्य मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य बोलते हैं व अपने संकल्प को भी असत्य नहीं होने देते उनकी बुद्धि में ऋत (सत्य) वास कर जाता है। वे लोग जो भी सोचते हैं वह सत्य होता है, जो कहते हैं वह सत्य होता है, उनकी कोई भी क्रिया असत्य नहीं हो सकती। योगदर्शन में भगवान् पतंजलिदेव जी आदेश करते हैं :–

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(साधनपाद–सूत्र ३६)

सत्यप्रतिष्ठ योगी जिसने अपने पूरे जीवन में कभी असत्य नहीं बोला, उसकी वाणी अव्यर्थ हो जाती है। उसको विना प्रयत्न से वाक्सिद्धि रहती है। उसके मुख से निकला वचन कभी मिथ्या नहीं होता।

अखिल अण्ड-ब्रह्माण्ड नायक परम सत्यस्वरूप श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने महाभारत में द्रोपदी को सान्त्वना देते हुए प्रतिज्ञापूर्वक अपनी वाक्सिद्धि की घोषणा की है :–

चलेद्धि हिमवाञ्छैलो, मेदिनी शतधा भवेत्।
द्यौः पतेच्च सनक्षत्रः न मे मोघं वचो भवेत्॥
सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे वाष्पो निगृह्यताम्।
हतमित्राञ्छ्रियायुक्तान्नचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥

हिमालय अपने स्थान से भले ही विचलित हो जाय, पृथ्वी के दो टुकड़े हो जायें और चाहे आकाश नक्षत्रों सहित गिर पड़े किन्तु मेरी वाणी कभी भी मिथ्या नहीं हो सकती। अरी द्रोपदी! आँसू पोंछो। वहुत थोड़े समय में ही तुम अपने पतियों को शत्रुरहित भूमण्डल पर राज्य-श्री युक्त होकर देखोगी।

इसी प्रकार अभिमन्यु की पत्नी उत्तरा को सान्त्वना देते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उसके मृत शिशु को जीवन-दान देते समय वार-वार प्रतिज्ञापूर्वक अपने सत्य को साक्षी रखते हुए कहा कि :–

न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या, सत्यमेतद् भविष्यति।
एष संजीवयाम्येनं, पश्यतां सर्वदेहिनाम्॥
नोक्तं पूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन।
न च युद्धात् परावृत्तस्तथा संजीवतामयम्॥

यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयन्तथा ।।
यथाहं नाभि जानामि विजयेन कदाचन।
विरोधन्तेन सत्येन मृतो मृतो जीवत्वयं शिशुः ।।
यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ।
तथा मृत शिशुरयं जीवतादभिमन्युज ।।
यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहितौ मया।
तेन सत्येन वालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ।।

(महाभारत अश्वमेध पर्व–६८।१८।२३)

अयि उत्तरे ! मैं कभी भी असत्य नहीं बोलता हूँ। अतः मेरी यह वाणी अवश्य ही सत्य होगी। सभी के देखते-देखते मैं इसे अभी जीवित कर देता हूँ। मैंने आज तक मजाक में भी झूठ नहीं बोला और न ही कभी युद्ध से पीछे हटा हूँ। उसी सत्य के फलस्वरूप यह वालक जी उठे। जिस प्रकार मुझे धर्म व विशेषतः ब्राह्मण प्यारे हैं उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का वालक जी उठे। यदि मैंने आज तक कभी विरोध नहीं किया है तो इसी सत्य के फलस्वरूप यह मृत वालक जी उठे। जिस प्रकार धर्म व सत्य मुझमें हर समय प्रतिष्ठित हैं, उसी के फलस्वरूप यह मरा हुआ अभिमन्यु का पुत्र जी उठे। यदि मैंने कंस व केशी को धर्म से मारा है, न कि विरोध से। तो इस सत्य के फलस्वरूप यह वालक जी उठे। इस प्रकार अखिल विश्वात्मा ने स्वयं वार-वार सत्य की शपथ ली और अपने संकल्प से अभिमन्यु के मृत वालक को जीवित कर दिया।

हमारा अनुभव है–जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का पालन करते हैं, वहुत थोड़े समय में ही उनकी वाणी में शक्ति आ जाती है व क्रियाफल होने लगता है। जिला करनाल (हरियाणा) में एक महात्मा एक जगह पर वास करते थे वे अन्य सभी प्रकार की साधनाओं को करते हुए भी सत्यपालन को अपना ध्येय बनाये हुए थे। उनकी यह साधना थी कि मनसा, वाचा, कर्मणा जो भी करते थे, सत्य ही करते थे और अत्यन्त मृदुभाषी थे। उनकी वर्षों की साधना के फलस्वरूप उनके जीवन में सत्य चमक उठा था। वे जो भी किसी को कह देते थे, भगवान् सत्यदेव की कृपा से वह अवश्य पूरा हो जाता था। उनका कोई भी संकल्प कभी विफल नहीं होता था। योगिराज पतंजलिदेव जी के अनुसार ही उनकी वाणी क्रियाफल वाली हो गई थी। वे स्वयं इस वात को मानते थे कि मेरा जीवन सत्यदेव की आराधना से ही पूर्ण निर्भय व हर तरह की विघ्न-वाधाओं से रहित है। सत्य पूर्ण ब्रह्म है और उसकी आराधना साक्षात् परब्रह्म की आराधना है तथा सब प्रकार से ओज व तेज को वढ़ाने वाली है।

अतः कल्याण की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों को भगवान पतंजलिदेव जी के वतलाये हुए दूसरे यम 'सत्य' को अपने जीवन में पूरी तरह अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तीसरा यम है---'अस्तेय'

'अस्तेय' धर्म भी अहिंसा भाव की परिपुष्टि के लिये है। दूसरे के धन को चोरी से, छल से या किसी अन्य प्रकार से अपहरण न करना अस्तेय कहलाता है। यथा :—

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधा ॥

अर्थात्—किसी दूसरे के तृण, रत्न (हीरे जवाहरादि), सोना, मोती आदि पदार्थों को प्राप्त कर लेने की वृत्ति का मन में भी न होना अस्तेय कहलाता था। जिस व्यक्ति की अस्तेय में पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है उसके सामने सभी रत्न उपस्थित होने लगते हैं किन्तु उसको उनकी कामना नहीं रहती। जैसे :—

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (यो० सू० २।३७)

अर्थात्—अस्तेय की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाने पर योगी को सब प्रकार के ऐश्वर्य स्वतः ही प्राप्त होने लगते हैं। रत्नादि स्वयं प्राप्त होने लगते हैं।

चौथा यम है---'ब्रह्मचर्य'

ब्रह्मचर्य की महिमा से हमारे शास्त्र ओतप्रोत हैं, किन्तु आजकल के समाज में दुर्व्यसनों के अधिक मात्रा में वढ़ जाने से ब्रह्मचर्य जीवन लुप्तप्रायः ही है। वीर्य को हमारे शास्त्रों में ब्रह्मरूप से वर्णित किया गया है। जो वीर्य को धारण करता है वह ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवीं धातु है और उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है :—

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं वलपुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भं बीजं वपुः सारो जीवनाश्रय उत्तमः ॥

मनुष्य जो अन्न सेवन करता है उससे रस वनता है, रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस के वाद मेद, उसके वाद हड्डी, हड्डी के वाद मज्जा और मज्जा से वीर्य वनता है। वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है जो मनुष्य को देदीप्यमान रखता है।

वीर्य सम्पूर्ण शरीर का आधार, जीवन का आशय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी तथा ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है, इसी प्रकार वीर्य सारे शरीर में व्यापक रहता है। उसी से मन और बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही सर्वसिद्धियों का मूल है।

शिवसंहिता में भगवान शंकर ने ऊँचे शब्दों में आज्ञा दी है। यथा :-

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणे।
तस्मादति प्रयत्नेन, कुरुते विन्दुधारणम्॥
जायते म्रियते लोके विन्दुना नात्र संशयः।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी विन्दुधारणमाचरेत्॥
सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्यीदृशो भवेत्॥

विन्दु के पतन से मरण और विन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म और मरण विन्दु से ही होता है। अतः योगी को प्रयत्न करके विन्दु धारण करना चाहिए। यत्नपूर्वक विन्दुजय कर लेने पर संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो सिद्ध न किया जा सके। भगवान् कहते हैं कि मेरा जो कुछ प्रभाव संसार में दिखलाई देता है वह केवल वीर्यधारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम वहुत वड़े-वड़े हैं। शास्त्रविधि से ब्रह्मचारियों की दो संज्ञाएं हैं :-

१. नैष्ठिक   २. उपकुर्वाण

(१) नैष्ठिक—नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवनपर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ—भीष्मपितामह, शंकराचार्य तथा स्वामी दयानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए हैं।

(२) उपकुर्वाण—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्णरूप से पालन करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर जाय। किसी भी संज्ञा का ब्रह्मचारी क्यों न हो, ब्रह्मचर्य अवस्था में मैथुन त्याग परमावश्यक है। क्योंकि जो सब अवस्थाओं में मन, वाणी और कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है, वही ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी है। ब्रह्मचारी को मन से भी विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। क्योंकि :-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधात्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २।६२-६३)

विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य को उनमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन्हें प्राप्त कर लेने की कामना होती है। उसी कामना (काम) से क्रोध, क्रोध से मोह तथा मोह से स्मृतिभ्रंश हो जाता है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश तथा बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार जो व्यक्ति किंचितमात्र भी विषयों का स्मरण नहीं करता, वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है।

ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह शक्तिपात करने की योग्यता आ जाती है। भगवान् पतंजलिदेव ने ब्रह्मचर्य धारण का फल इस सूत्र में वतलाया है–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

व्यास भाष्य–यस्य लाभादप्रतिभान् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात्–इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से वल प्राप्ति के साथ-साथ साधक में अनुपम गुण वढ़ जाते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति संचार करके ज्ञान धारण करा सकता है।

पाँचवाँ यम है---'अपरिग्रह'

परिग्रह का न होना अपरिग्रह कहलाता है। संसार के सव विषयों में तथा अपने शरीर में स्वत्व बुद्धि नाश हो जाने पर प्राणी शरीर धर्मों से अपने आपको पृथक् देखता है और उसको अपने पूर्व संस्कार स्मरण होने लगते हैं।

"मैं कौन था ? क्यों था ? और कैसा था ? तथा आगे क्या हूंगा ?" इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ उसके मन में घूमने लगती हैं। ऐसी भावना से शरीर-धर्म में भी उपरति हो जाने के वाद उसको जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं का स्मरण होने लगता है। जैसे–

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः । (योगसूत्र २।३९)

पन्द्रहवां परिच्छेद

ब्रह्मचर्य-व्रत

आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने के लिए जिन महाव्रतों के अनुष्ठान की आवश्यकता है उनमें ब्रह्मचर्य व्रत परम आवश्यक व्रत है। योगसाधना में तो यह व्रत वह प्राथमिक सीढ़ी है जिस पर चढ़कर ही साधक अनिर्वचनीय समाधि सुख के मन्दिर तक पहुँचने में समर्थ हो सकेगा ? विना ब्रह्मचर्य के साधक की देव-दुर्लभ देह जो उसे पूर्व जन्मों के अर्जित पुण्यों के फलरूप में प्राप्त हुई है सदैव रोगी, वल तथा तेज ओज से हीन रहने पर योग की किसी साधना में दृढ़ता से लगने के लिए प्रेरित नहीं होगी। रोगी और वलहीन मनुष्य का मन कभी स्थिर नहीं रह सकता और मन की स्थिरता के अभाव में योग की वर्णमाला का शुभारम्भ ही नहीं किया जा सकता। इसीलिए तो योग की दैनिक प्रक्रिया में आसनों का अपना विशेष महत्व है। विविध प्रकार के आसनों का उद्देश्य भी यही होता है कि साधक उन्हें नियमित रूप से करके अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर सके और स्वस्थ रहकर योग-साधना के मन्दिर की ओर निर्वाध रूप से वढ़ता चला चले। ब्रह्मचर्य की महिमा भी इसीलिए है कि इससे हमें वह शक्ति और वल प्राप्त होता है, जिससे हम मृत्यु पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। वेद भगवान् पुकार कर कहते हैं :–

ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥ (अथर्ववेद)

अर्थात्–ब्रह्मचर्य रूप तप से देवताओं ने काल को भी जीत लिया है। इन्द्र निश्चय ही ब्रह्मचर्य द्वारा देवताओं में श्रेष्ठ वना है।

ऋषियों ने अपने अद्‌भुत प्रयोगों के आधार पर तपों में उत्तम तप ब्रह्मचर्य वतला कर उसके पालन का परामर्श दिया है और कहा है कि जो ऊर्ध्वरेता हो जाते हैं वे मनुष्य रूप में होते हुए भी देवताओं की श्रेणी में गिने जाते हैं। यथा–

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥

ब्रह्मचर्य का स्पष्ट अर्थ है–सम्यक् प्रकारेण वीर्य की रक्षा करना। विषय-विकारों में वीर्य को नष्ट न करके जितेन्द्रियता का जीवन व्यतीत करना। दूसरे रूप में इसे

यों भी कहा जा सकता है कि संभोग वासना को वश में रखना ही ब्रह्मचर्य है। इसी सन्दर्भ में भगवान शिव का यह वचन भी भूलने योग्य नहीं है :–

सिद्धे विन्दौ महायत्नैः, किं न सिद्ध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादात्महिमा, ममाप्येतादृशी भवेत् ।।

यानी पुरुषार्थपूर्वक विन्दु (वीर्य) को सिद्ध करने वाले ब्रह्मचारी के लिए कोई वस्तु अलभ्य या अप्राप्य नहीं रहती। मेरी इतनी महिमा ब्रह्मचर्य के प्रताप से हुई है।

भारतीय इतिहास में असंख्य ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनकी कीर्ति और यश गाथा के पीछे उनका अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत ही रहा है। महावीर हनुमान, भीष्मपितामह ऐसे ही प्रातः वन्दनीय ब्रह्मचर्य व्रतधारी युग पुरुष हुए हैं। आधुनिक-काल में स्वामी दयानन्द जी का नाम भी इसी श्रृंखला में लिया जा सकता है। इतना ही नहीं, कुछ और भी यशस्वी महामानव इस भारत भूमि में ऐसे हुए हैं, जो ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में हमारे आदर्श और अनुकरण का विषय हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का एक अर्थ जहाँ वीर्य का संग्रह और उसका पतन न करना है, वहाँ दूसरा अर्थ ब्रह्मनिष्ठ होना भी है। योगियों का कहना है कि ब्रह्मचारी अपने प्राणों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण करने में तभी समर्थ हो सकता है जव वह पूर्णतया ब्रह्मनिष्ठ हो। ब्रह्मनिष्ठ अथवा ब्रह्ममय होकर रहना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। यदि ब्रह्मनिष्ठा का अभाव जीवन में रहेगा तो वीर्य का वेग योग साधक को कामुकता अथवा सांसारिक विषय-वासना की ओर वहा ले जायेगा। अतः ब्रह्मचारी के लिए वीर्य रक्षा के साथ-साथ ब्रह्मनिष्ठ होना भी अनिवार्य सा कर्त्तव्य है।

ब्रह्मचर्याश्रम की गणना प्रथम आश्रम के रूप में की जाती है, अन्य तीन आश्रम इस आश्रम के पश्चात् आने वाले आश्रम हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम का विशिष्ट महत्व इसीलिए है कि इसमें रहकर वल, वीर्य और विद्या के संग्रह तथा संरक्षण का पर्याप्त समय प्रत्येक व्यक्ति को सुलभ रहता है। इस तरह यह आश्रम व्यक्ति के जीवन-मन्दिर की आधार-शिला कहकर भी पुकारा जाता है। जो कुछ विद्या, वल और वीर्य इस आश्रम में एक निश्चित अवधि तक रहकर प्राप्त कर लिया जाता है वही अन्य आश्रमों में सुख-समृद्धि और यश-कीर्ति के उपार्जन का कारण वनता है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह पुरुष हो या स्त्री और चाहे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी या सन्यासी हो उसे ब्रह्मचर्य-व्रत का धारण और उसकी विधियों का पालन अवश्य करना चाहिए।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है योगमार्ग पर आरूढ़ होने वालों के लिए तो ब्रह्मचर्य का व्रत और भी अधिक आवश्यक है। जितेन्द्रियता और संयम का जीवन ही योगी को सफलता के लक्ष्य तक पहुंचाने में समर्थ हो सकता है। विना ब्रह्मचर्य-व्रत के योग-ऐश्वर्यों को प्राप्त करना आकाश-कुसुम तोड़ने जैसा निरर्थक प्रयास ही रहेगा।

सोलहवां परिच्छेद

नियमों की पवित्र साधना

शौच सन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वर–प्राणिधानानि नियमाः ।।

कह करके पतंजलिदेव जी ने नियमों का वर्णन किया है उनमें से पहला नियम है–शौच।

शौच

शौच का विषय लम्वा है। योगदर्शनकार श्री पतंजलिदेव जी ने "सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" कहकर बुद्धि और पुरुष के शुद्ध साम्य को ही कैवल्य वताया है। अर्थात् जव बुद्धि सतोगुण, रजोगुण व तमोगुण के मलों को छोड़कर पूर्णतया पवित्र हो जाती है तो पुरुष साक्षात्कार हो जाया करता है। यही शुद्धि की पराकाष्ठा है। विवेकख्याति पर्यन्त मनुष्य पूर्ण शुद्धि का ही प्रयत्न करता रहता है। शुद्धि दो प्रकार की मानी गईं है। योगी याज्ञवल्क्य के शब्दों में :–

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं, वाह्यमाभ्यन्तरन्तथा।
मृतजलाभ्याम् स्मृतं वाह्यं, मनः शुद्धिस्तथान्तरम् ।।

अर्थात्–शौच वाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। वाह्य शौच मिट्टी जल आदि के द्वारा किया जाता है और दूसरा मन की शुद्धि से होता है। वाह्य शौच के भी वाह्याभ्यन्तर रूप से दो भेद माने गए हैं। जैसा वाह्य शौच में ठीक समय पर मल त्याग, दन्तधावन तथा पवित्र जल से स्नान आदि आ जाता है और आभ्यन्तर शुद्धि में षट्कर्मों द्वारा भीतर के सव अवयवों की शुद्धि जैसे:–सूत्रनेति द्वारा मस्तिष्क की शुद्धि, धौति कर्म द्वारा आमाशय की शुद्धि, वस्तिकर्म द्वारा मलाशय की शुद्धि तथा वज्रोली के द्वारा मूत्राशय की शुद्धि होती है। यह सव वाह्य शौच का ही विस्तार है। मृज्जलादि के द्वारा वाह्य शरीर हाथ-पैर आदि की पूर्ण शुद्धि की जा सकती है, किन्तु शरीर के भीतरी अवयवों की शुद्धि के लिए षट्कर्मों का करना आवश्यक वन जाता है। षट्कर्मों में नेति, धौति, वस्ति, न्यौली, कपालभाती व त्राटक माने गये हैं। ये शरीर के भीतरी देश की शुद्धि के लिये परमावश्यक हैं। इसीलिए योगी लोग प्राणायाम् आदि उत्तम क्रियाओं को करने से पहले षट्कर्मों के द्वारा शरीर की आभ्यन्तर शुद्धि करके प्राणायाम करने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। यह सव वाह्य शुद्धि है। इसके

अतिरिक्त आभ्यन्तर शौच में अनेक प्रकार के उपायों का वर्णन है। उनमें योगांगों का अनुष्ठान करना परमावश्यक है। क्योंकि–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

विवेकख्यातिपर्यन्त योगाङ्गानुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश होता रहता है। योगाङ्गों में जप, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्ति आदि सभी सम्मिलित हैं। भगवान् मनु के कथनानुसार–

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

मृद् जलादि द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। सत्य के द्वारा मन की शुद्धि होती है। विद्या और तप के द्वारा आत्मा की तथा ज्ञान के द्वारा बुद्धि की शुद्धि होती है। इन्हीं सव नियमों को समझ करके वाह्याभ्यन्तर शौच का पालन करता हुआ साधक शौच के पूर्ण फल को प्राप्त कर लेता है। शुद्धि की पराकाष्ठा हो जाने पर योगी को अपने अंगों में भी घृणा होने लगती है और वह दूसरों के संसर्ग से दूर हो जाता है। यथा :–

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ (योग सूत्र)

यह सव वाह्य शुद्धि की पराकाष्ठा है किन्तु इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों आभ्यन्तर शौच वढ़ाता है त्यों-त्यों अन्तःकरण की शुद्धि, मन की पवित्रता एवं एकाग्रता, इन्द्रिय-जय और आत्मदर्शन की योग्यता वढ़ती चली जाती है। जैसे :–

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकागेन्द्रिय जयात्मदर्शन–योग्यत्वानि च।

उपरोक्त दोनों प्रकार के वाह्याभ्यन्तर शौच के नियमों को समझ करके यथा विधि पालन करने वाला साधक शुद्धि के फलस्वरूप आत्म साक्षात्कार कर सकता है।

सन्तोष

सन्तोष का अर्थ है–मन की पूर्ण तुष्टि, सन्तोषी वही कहला सकता है जो दृष्टानुश्रविक विषयों में पूर्णतया वितृष्ण हो। जिसको इस लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के समस्त भोग विचलित नहीं कर सकते वही पूर्ण सन्तुष्ट कहला सकता है। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में इस प्रकार से वतलाये हैं :–

दुःखेष्वनुद्विग्नमनः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभय क्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों में आसक्त नहीं होता, जिसमें राग, भय व क्रोध नहीं है। जो सर्वत्र स्नेहरहित हुआ विचरता है और शुभ या अशुभ स्थिति को पाकर न सुखी होता है और न दुःखी होता है उसी की बुद्धि स्थिर है। ऐसा मुनि जिसने इतने ऊँचे सन्तोष को प्राप्त कर लिया है, कृतार्थ हो जाता है। उसे कोई भी विचलित नहीं कर सकता। महर्षि पतंजलिदेव ने सन्तोष का फल—अनुत्तम सुखलाभ बताया है। अनुत्तम सुख वही है जिससे बढ़कर और कुछ नहीं हो सकता। जिसके विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार वर्णन किया है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ।।

(गीता—६।२१-२२)

वह सुख अतीन्द्रिय व बुद्धिग्राही है जिसमें स्थिति हो जाने पर मनुष्य को बड़े से बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर सकता और जिसे प्राप्त कर प्राणी अपने आपको कृतकृत्य समझता है और उससे बढ़कर कुछ भी नहीं मानता। इस प्रकार परम सुख को अनुभव करता हुआ ऐसा प्राणी गुणवितृष्ण हो जाता है और अपने आपको कृतार्थ जानकर परम ब्रह्म में लीन हुआ कह उठता है :—

मातर्मेदिनि तात मारूत सखे तेज सुबन्धो जलः,
भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेष प्रणामाञ्जलिः ।
युष्मत्संग वशोपजात सुकृतोद्रेकस्फर निर्मलः,
ज्ञानापास्त समस्त मोह महिमा लीने परे ब्रह्मणि ।।

हे माता पृथ्वी, पिता वायु, तेज मित्र, जल बन्धु, हे भाई आकाश ! मैं आप सबको प्रणाम करता हूं। क्योंकि आप सबके संग से पुण्य के उदय हो जाने के कारण मोह की महिमा हट गई है और अब मैं परम ब्रह्म में लीन हो रहा हूं।

तप

श्री पतंजलिदेव जी ने "तपः स्वाध्यायेश्वर–प्रणिधानानि क्रियायोगः" कहकर क्रियायोग का वर्णन किया है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी अपना भाष्य इस प्रकार लिखते हैं :–

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादि कर्मक्लेशवासना चित्रा प्रत्युपस्थित विषय-जाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादन-मवाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।

अर्थ :–तप के बिना योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकाल से कर्म-क्लेश-वासना आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ विषयजाल अन्तःकरण की शुद्धि के बिना नहीं कटता। इसलिए तप आवश्यक है।

तप की व्याख्या करते हुए आगे कहा गया है :–

द्वन्दसहनं तपः। द्वन्दश्च जिघत्सापिपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च व्रतानि चैव यथा यागं कृच्छचान्द्रायणसान्तपनादीनि।

द्वन्द सहन का नाम तप है। द्वन्द-भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि जोड़े का नाम है। इसके अतिरिक्त एक आसन पर बैठकर काष्ठ मौन, आकार-मौन व कृच्छचान्द्रायण आदि व्रत करना भी उत्तम तप माना गया है। **काष्ठमौन** वह मौन कहलाता है जिसका व्रत करने वाला व्यक्ति काष्ठवत् बैठा रहे। किसी प्रकार के इंगितों से भी अपने भाव प्रगट न करे।

आकार मौन वह कहलाता है जिसमें आकार व इंगितों से अपनी इच्छा को प्रगट करते हुए केवल मात्र जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है। काष्ठमौन व आकार मौन के द्वारा जिह्वा पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। अतः किसी प्रकार की अशुभ वाणी मुँह से नहीं निकलती तथा दूसरों के द्वारा प्रयुक्त की गई शुभ-अशुभ वाणी शान्त भाव से सहन करने की ताकत बढ़ती है। इसके अतिरिक्त कृच्छचान्द्रायणादि व्रत समूह यद्यपि क्लेशों को क्षीण करने के लिए उत्तम हैं किन्तु उसमें व्यासदेव जी के निम्नांकित शब्दों को याद रखने की आवश्यकता है :–

चित्तप्रसादनमवाधमानमनेनासेव्यमिति।

जिसमें चित्त की प्रसन्नता वनी रहे तथा जो कष्टदायी न हों और मन की एकाग्रता में वाधक न हों इस प्रकार के ही व्रतादि करने चाहिए।

इस प्रकार का घोर तप जो आत्मपीड़ा के साथ किया जाता है, उसको भगवान् श्रीकृष्ण ने तामस तप कहा है। अतः उत्तम तप वही है जो श्रद्धापूर्वक विना कष्ट के आत्मसाक्षात्कार के लिए व क्लेशों को क्षीण करने के लिए किया जाय। गीता में उत्तम प्रकार के शरीर, वाणी व मन के तपों का वर्णन किया गया है। जैसे :–

देवद्विज गुरूप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपोमानसमुच्यते।।

देवता, ब्राह्मण, गुरू व बुद्धिमान लोगों की सेवा करना तथा पवित्रता, नम्रता, ब्रह्मचर्य व अहिंसा व्रत का पूर्ण रूप से पालन करना शारीरिक तप कहलाता है।

कटु वचन न बोलना, सत्य प्रिय व हितकारी वचन बोलना तथा निरन्तर स्वाध्याय का अभ्यास करना वाङ्मय तप (वाणी का तप) कहलाता है।

मन की प्रसन्नता, मृदुता, मौन धारण करना, आत्मनिग्रह और भावों की संशुद्धि यह मानस-तप कहलाता है। मनुष्यमात्र के लिये ये तीनों तप उपादेय हैं।

इसके अतिरिक्त मन के राजस तामस भावों को क्षीण करने के लिए तथा ज्ञान दीप्ति के लिये कृच्छ-चान्द्रायण आदिक व्रत भी अपनी सामर्थ्यानुसार करने चाहिए, किन्तु पवनाभ्यास करने वाले साधक के लिये इन व्रतों की आवश्यकता नहीं।

उनके लिये प्राणायाम ही परम तप है। इसके साथ-साथ उन्हें अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का पालना करना चाहिए।

तप का फल–कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः।

तप के द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक व ऐन्द्रिय सिद्धि स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है। कायिक सिद्धि से अणिमा, महिमा आदि तथा ऐन्द्रिय सिद्धि से दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि की शक्ति प्राप्त होती है। शरीर के बलाबल व सामर्थ्य को देखकर किये जाने वाले तप द्वारा सब कुछ साध्य है। यथा :–

यद् दुष्करं दुराराध्यं दुर्जयं दुरतिक्रमम्।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्।।

अर्थात् तप के द्वारा ऐसा कोई भी काम नहीं रह जाता, जो न किया जा सकता हो। अतः शास्त्र-विधि के अनुसार तप परम उपादेय है।

स्वाध्याय

चौथा नियम स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ करते हुए महर्षि व्यासदेव जी लिखते हैं :—

प्रणवादि पवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।

प्रभु के प्रणवादि पवित्र नामों का जप करना या मोक्षशास्त्र गीता, उपनिषद् आदि का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है। प्रणव की महिमा हमारे शास्त्रों में उत्कृष्टता से भरी पड़ी है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवों की उत्पत्ति प्रणव (ओ३म्) से ही है।

प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्॥
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः।
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव इन तीनों की उत्पत्ति प्रणव से है। तीनों ही देव अकार में ब्रह्मा, उकार में विष्णु और मकार में शिव लीन हो जाते हैं। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक प्रणव ही सर्वत्र प्रकाशित है।

प्रणव के जाप से सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति होती है और प्रत्यक्ष चेतन की प्राप्ति होती है। भगवान पतंजलिदेव ईश्वर का लक्षण बताकर उसके बोधक नाम प्रणव का ही निर्देश करते हैं और उसका जप तथा उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का ध्यान करने की आज्ञा देते हैं :—

तज्जपस्तदर्थ भावनम्।

इससे अगले सूत्र में उन्होंने प्रणव जप का फल बतलाया है। यथा :—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

प्रणव का जाप करने के फलस्वरूप प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति अर्थात् आत्म-दर्शन होता है व विघ्नों का नाश हो जाता है। उपनिषदों में विघ्नों की निवृत्ति का उपाय प्रणव जप ही बताया गया है। यथा :—

प्रणवं प्रजपेद्दीर्घं सर्वविघ्नोपशान्तये ।

इसी प्रकार गीता तथा उपनिषद आदि मोक्षशास्त्रों का पाठ करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और इष्टदेव की कृपा से मनोकामना पूर्ण होती है । जैसे :–

स्वाध्यायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः ।

देवाः सिद्धाः ऋषयश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं यच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्त इति ।

देवता, सिद्ध और ऋषि लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के सामने जाते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं । स्वाध्याय और योग का परस्पर गहरा सम्वन्ध है :–

स्वाध्यायाद्योगमासीत, योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याय योगसम्पत्या, परमात्मा प्रकाशते ।।

साधक स्वाध्याय से ध्यानयोग को प्राप्त होवे व ध्यानावस्था में स्वाध्याय का मनन करता रहे । क्योंकि स्वाध्याय और योग इन दोनों की सम्पत्ति से ही परमात्मा का प्रकाश होता है । अतः स्वाध्याय के साथ-साथ ध्यानाभ्यास भी अवश्य करते रहना चाहिए । सच्चे मन से स्वाध्याय में रत रहने वालों को सफलता हस्तामलकवत हो ही जाती है ।

ईश्वर प्रणिधान

पाँचवाँ नियम ईश्वर-प्रणिधान है । ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है :–

ईश्वरप्रणिधानं-सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल सन्यासो वा ।

अर्थात्–परम गुरू ईश्वर में समस्त शुभाशुभ कर्मों का अर्पण करना अथवा कर्मफल का त्याग करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है । श्री पतंजलिदेव जी ने "ईश्वर प्रणिधा-नाद्वा" कहकर ईश्वर-प्रणिधान को समाधि प्राप्ति का एक प्रमुख उपाय वतलाया है । इस सूत्र का अर्थ वताते हुए व्यासदेव जी लिखते हैं :–

प्रणिधानाद्–भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ।।

भक्ति विशेष से अभिमुख हुआ ईश्वर इच्छामात्र से कृपा करता है, जिससे साधक को शीघ्रातिशीघ्र समाधि उपलब्ध हो जाती है । पूर्ण राग के विना आत्मसमर्पण नहीं हो सकता ।

नारद भक्ति सूत्र में "भक्तिः परानुरक्तिरीश्वरे" कहकर ईश्वर में परम अनुराग को ही भक्ति वताया गया है । इसी भाव को स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी

ने श्रीमद्भगवद्गीता के नवें अध्याय में अर्जुन को यह स्पष्ट आज्ञा दी है कि–

यत्करोषि तदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम् ।।
शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मवन्धनैः ।
सन्यास योग युक्तात्मा विमुक्तो मामुपैस्यसि ।।

हे अर्जुन ! तू जो भी कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान करता है व जो जप-तप आदि करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे। ऐसा करने से तू सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से छूटकर तथा मुक्तात्मा होकर मुझको ही प्राप्त हो जायेगा। संसार में ऐसे अनेकों उच्चकोटि के भक्तात्मा हुए हैं, जिन्होंने ईश्वर को पूर्ण आत्म-समर्पण किया तथा उसी के फलस्वरूप ईश्वर कृपा से उन्हें समाधिलाभ हो गया।

भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, सूरदास, तुलसीदास, नरसिंह मेहता, मीरावाई व ब्रज गोपिकायें आदि इस विषय के प्रतीक हैं जिन्हें ईश्वर कृपा से समाधि प्राप्त हुई।

यहाँ हमने नियमों का वर्णन किया है। योगभूमि के प्रत्येक साधक के लिए नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है, किन्तु इससे पहले यमों का पालन करना और भी अधिक आवश्यक है। जो व्यक्ति यमों का पालन नहीं करता और नियमों का पालन करने का प्रयत्न करता रहता है उसका अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि के अभाव में पतन हो सकता है किन्तु जो साधक अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यमों का पूर्णरूपेण पालन करता हुआ उसके साथ-साथ शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान इन नियमों का दृढ़ता से पालन करता है वह अपने लक्ष्य को अवश्य ही पा लेता है।

सत्रहवां परिच्छेद

आहार शुद्धि

"आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौध्रुवास्मृतिः ।"

आहार शुद्ध होने पर सतोगुण की शुद्धि और सतोगुण के शुद्ध होने पर निश्चित ही मनुष्य को समाधि की प्राप्ति हो जाती है। ध्रुवा स्मृति को कायम रखने में अन्न एक विशेष सहायक वस्तु है। हमारा शास्त्रीय नियम है :—

"यथा अन्नं तथा मनः ।"

अर्थात्—मनुष्य जिस प्रकार का अन्न सेवन करता है उसी प्रकार का उसका मन वन जाया करता है। यही कारण है कि आज के घोर कलिकाल में लोग अपना काम करवाने के लिये ऊँचे-ऊँचे अधिकारियों को वड़ी-वड़ी थैलियाँ पेश करते हैं और अच्छे-अच्छे भोज कराते हैं। उनके आतिथ्य को पाकर वे लोग प्रसन्न हो जाते हैं और उनके काम कर दिया करते हैं।

महाभारत के उद्योग पर्व में नकुल और सहदेव के मामा महाराजा शल्य का उपाख्यान मिलता है। महाराजा शल्य को पाण्डवों की मदद करनी चाहिए थी और वे आये भी इसी उद्देश्य से थे, किन्तु रास्ते में धोखा देकर दुर्योधन ने उनका इतना सत्कार किया कि वे अपना कर्त्तव्य भूल गये और प्रसन्न होकर बोले——इष्टार्थो गृह्यतामिति ।।

हे दुर्योधन ! तुम अपना अभीप्सित वर माँगो। महाराजा शल्य के ऐसा कहने पर दुर्योधन ने उनसे अपना सेनापति होने का वरदान माँगा व उनके भारी सैन्य वल को अपनी ओर कर लिया। यह था——

"यथा अन्नं तथा मनः" का प्रभाव ।

इसी सिद्धान्त को आधार मानकर हमारे हिन्दू धर्म में विवाह-शादियों में या अन्यान्य उत्सवों में सहभोज की प्रथा प्रचलित है। यह सहभोज एक दूसरे के मनों को इकट्ठा कर देता है।

सनातन धर्मी लोग प्रायः तपस्वियों और ब्राह्मणों को समय-समय पर अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अपने घरों में आमन्त्रित किया करते हैं और यह इच्छा रखते हैं कि भोजनोपरान्त वे लोग उन्हें अभीप्सित वरदान देकर जायें। अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे लोग आशीर्वाद देते भी हैं।

मनुष्य जैसा अन्न सेवन करता है उसका वैसा ही प्रभाव तत्काल उसके मन पर पड़ता है। इस विषय में मुझे एक आपबीती छोटी सी घटना याद आ रही है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

एक वार परम करुणार्णव मेरे गुरूदेव योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ऋषीकेश के श्री योग-साधन आश्रम में विराजमान थे। उस समय उनके पास एक जेल का दरोगा भेंट के निमित्त कुछ मिठाई लिये हुए उपस्थित हुआ। वह मिठाई श्री प्रभु जी ने उससे रखवा तो ली किन्तु बाँटने व खाने के लिये संकेत से सबको इन्कार कर दिया, किन्तु फिर भी किसी अपरिचित भाई ने वह मिठाई बाँट दी और प्रसाद रूप समझ-कर उसे सभी साधकों ने खा लिया। परिणाम यह निकला कि सभी के मन कलुषित हो गये व तीन चार रोज के लिये अपने अभ्यास से विल्कुल खाली हो गये। जिस समय सभी वहिन भाइयों ने प्रार्थना करते हुए इसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि इन लोगों की दृष्टि गीध जैसी हुआ करती है। अतः इसकी कमाई का अन्न तुम्हें नहीं खाना चाहिए था।

जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के सत्रहवें अध्याय में तीन प्रकार के आहारों का वर्णन किया है और वे आहार सत्व प्रधान प्राणियों को, रजोगुण प्रधान प्राणियों को तथा तमोगुण प्रधान प्राणियों को अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार प्रिय होते हैं।

सतोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

आयुः सत्ववलारोग्य सुख प्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्विकप्रियाः॥

आयु, सत्व, वल और आरोग्य को वढ़ाने वाले, सुख और प्रीति की वृद्धि करने वाले, शरीर में स्थायी शक्ति वनाये रखने वाले तथा हृदय को पुष्ट करने वाले, स्वभाव से ही रूचिकर रसीले और चिकने पदार्थ सात्विक आहार कहलाते हैं और वे सतोगुण प्रधान व्यक्तियों को ही अच्छे लगते हैं।

जिन आहारों का वर्णन भगवान श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोक में किया है उनमें गौघृत, दूध, मक्खन, मलाई आदि पेय पदार्थ, गेहूँ, चना, जौ, चावल आदि अन्न, सन्तरा, सेव, अंजीर, मौसमी आदि फल तथा घीया, वथुआ, तोरई, चौलाई, पालक, मेथी आदि साग-सब्जियाँ और पवित्र कन्द आते हैं। इनके सेवन से मन में सतोगुण का विकास होता है और बुद्धि पवित्र रहती है। वैसे भी सतोगुण प्रधान व्यक्ति को ये पदार्थ स्वभावतः प्रिय होते हैं।

रजोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्ष विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःख शोकामय प्रदाः ॥

कड़वे, खट्टे, अधिक नमक वाले, अत्यन्त गर्म, रूखे व खुश्क पदार्थ, मिर्च एवं खटाई से युक्त पकौड़े आदि, तथा शरीर में दर्द करने वाले, गर्मी पैदा करने वाले, दुःख और चिन्ता पैदा करने वाले इस प्रकार के उपरोक्त आहार रजोगुण को वढ़ाने वाले हैं और रजोगुण प्रधान व्यक्तियों को इसी प्रकार के आहार प्रिय होते हैं ।

तमोगुण प्रधान मनुष्यों का आहार

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामस प्रियम् ॥

रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, वासी एवं उच्छिष्ट भोजन तमोगुण को वढ़ाने वाला होता है और वह तामस व्यक्तियों को ही प्रिय होता है ।

जिस-जिस स्वभाव के व्यक्ति संसार में रहते हैं उनको उसी प्रकार का खान-पान, रहन-सहन प्रिय हुआ करता है । योगी के लिये सात्विक वन जाना वहुत आवश्यक है । जव तक उसके अन्दर सतोगुण की वृद्धि नहीं होगी तव तक वह परम लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहेगा । इसके साथ साथ एक और वात ध्यान में रखने योग्य है कि मन के संस्कार सव आहारों में परिवर्तन कर देते हैं । दूध, घी, फल, कन्दमूल आदि पदार्थ सात्विक हैं । किन्तु कोई पाप की कमाई करने वाला व्यक्ति यदि इन पदार्थों को खिलाता है तो उनमें उसके मन के संस्कार रहा करते हैं । अतः खाने वाले व्यक्ति का मन भी उससे तत्काल प्रभावित हो जाता है । इस सम्वन्ध में गुरू नानकदेव जी की यह कथा प्रसिद्ध है :—

एक वार ननकाना साहव में एक नवाव गुरू नानकदेव जी के लिये घृत पक्व सुमधुर भोजन लेकर आया । नानकदेव जी ने वह भोजन स्वीकार तो कर लिया किन्तु ग्रहण नहीं किया । इतने में ही एक गरीव व्यक्ति सूखी रोटियां लेकर आया । नानकदेव जी ने तत्काल उसे खाना शुरू कर दिया । लोग वड़े हैरान हुए और उन्होंने निवेदन किया कि क्या कारण है आपने जौ की सूखी रोटियाँ तो स्वीकार करली हैं किन्तु पवित्र घी दूध से वने हुए सुमधुर भोजन को त्याग दिया ?

नानकदेव जी ने उत्तर दिया—किसान की सूखी रोटियों में दूध है और इस घृतपक्व भोजन में खून है। अतः ऐसा तमोगुण प्रधान भोजन मुझे रुचिकर नहीं है। यह कहकर उन्होंने एक पूड़ी उठाकर निचोड़ी तो उसमें से खून टपकने लगा और जब किसान की सूखी रोटी को निचोड़ा तो उसमें से दूध निकलने लगा। लोगों ने इस चमत्कार को देखकर बड़ा आश्चर्य माना। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि सदा सात्विक भोजन करे और यदि वह नेक कमाई का हो तो सोने में सुहागा होगा। साधक का आहार व विहार युक्त होना चाहिए तभी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। गीता में इस बात को स्पष्ट कर दिया है :—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

जिसका आहार-विहार युक्त है, जिसका सोना-जगाना युक्त है व जिसकी हर चेष्टा नियमित होती है उनके लिये योग समस्त दुःखों का नाश करने वाला होता है।

इसलिए युक्ताहार-विहार के नियम का पालन करना आवश्यक है। मनुष्य को भोजन खूब चबा-चबाकर करना चाहिए। दूध थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए। खाते-पीते समय यह अनुभव होता रहे कि खाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँचते ही हजम होता जा रहा है। भोजन आधा पेट करे, उसका आधा जल तथा चतुर्थांश वायु के लिये खाली रहने दे। इस प्रकार का आहार हर व्यक्ति के लिये पूर्ण लाभदायक है।

इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि एक नौजवान व्यक्ति जो शीर्षासन आदि करता हो वह अपने आहार को इतना संयमित कर दे कि सहन शक्ति से बाहर हो। ऐसे व्यक्तियों को भूखा नहीं रहना चाहिए, न ही उपवास करना चाहिए। उपरोक्त नियम उन परमार्थ जिज्ञासुओं के लिये हैं जो हर समय स्वाध्यायशील हैं और समाहित चित्त हैं। नैत्यिक व्यायाम करने वाले नौजवानों के लिये उपयुक्त आहार करना व भूख को न मारना आवश्यक है।

अठारहवां परिच्छेद

आसन क्या ?

आसन शब्द का अर्थ है—"आस्यते अनेन-इति आसनम् ।" अर्थात् जिस विधि से बैठा जाय उस विधि का नाम ही आसन है ।

भगवान् सदाशिव ने शिव संहिता में ८४ लाख योनियों का वर्णन किया है और उन योनियों में विचरने वाले ८४ लाख जीव येन-केन-प्रकारेण आसन शयन एवं भ्रमणादि करते हैं । अतः उनके बैठने की जो क्रिया है वह उनका आसन है । जितनी भी योनियाँ हैं उतने ही आसनों का वर्णन भगवान् सदाशिव ने अपने मुखारविन्द से किया है । किन्तु सब आसन आजकल के ग्रन्थों में पूर्णरूपेण उपलब्ध नहीं हैं और उन सभी आसनों का वर्णन करना सर्वसाधारण के लिये सर्वथा असम्भव भी है । आजकल के योग प्रचारकों तथा घिरण्ड आदि महर्षियों ने जिन आसनों का वर्णन किया है वे अधिक से अधिक चौरासी या विशेष प्रयास करने पर सौ या डेढ़ सौ तक ही मिल पाते हैं । किन्तु उन सब में भी चौरासी आसन ही इस प्रकार के हैं जो सर्वसाधारण के लिये विशेष लाभप्रद हैं । भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन में "स्थिरसुख-मासनम्" कहकर आसन की परिभाषा लिखी है। अर्थात् जिसको करने से स्थायी सुख की प्राप्ति हो, बैठने की उस क्रिया को आसन कहते हैं ।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने कुछ आसनों के नाम भी लिखे हैं । जैसे :—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, पर्यङ्कासन आदि ।

यद्यपि 'स्थिरसुखमासनम्' इस सूत्र के अनुसार मनुष्य को जिस भी उपाय से स्थिर सुख लाभ हो उस क्रिया को ही आसन कहा जा सकता है, किन्तु श्री व्यासदेव जी ने किन्हीं विशिष्ट आसनों का उल्लेख करके इस बात का स्पष्टीकरण कर दिया कि बैठने की क्रिया का नाम ही आसन है ।

आसन सिद्धि का उपाय

आसन सिद्धि का क्या फल है तथा हरेक पशु-पक्षी की बैठने की विधि से यदि हम बैठना सीख जायें तो ऐसा करने से हम किस परिणाम को पहुँचेंगे ? यह सब इसी पुस्तक में आगे बतलाया जायेगा किन्तु परामर्श के तौर पर जिज्ञासुओं को एक बात

पहले ही समझा देना ठीक रहेगा कि किसी आसन के अभ्यास से हम स्थिर सुख-लाभ तभी कर सकते हैं जब वह क्रिया हमें पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाय।

स्थिर सुख का अर्थ है—सदा कायम रहने वाला सुख। वह सुख उस हालत में प्राप्त नहीं हो सकता कि हम क्षण-क्षण अपने पैरों को बदलते रहें, हाथों को बदलते रहें। ऐसा करने से तो मन की शान्ति की अपेक्षा अशान्ति ही बढ़ेगी। क्योंकि वह क्षण-क्षण दुःख अनुभव करता रहेगा। इसलिए स्थिर सुख लाभ तो हमें उसी हालत में हो सकता है जब कि हम जिस आसन से बैठें उसी आसन से कई-कई घण्टे लगातार बैठे रहें और उसमें हमें किसी प्रकार की दुःखानुभूति न हो प्रत्युत यह अनुभव होता रहे कि हम बहुत हल्के हो रहे हैं और आनन्द में बैठे हैं। हमें अपना शरीर रूई की मानिन्द हल्का मालूम पड़ने लगे तो समझ लेना चाहिए कि हमारा अभ्यास आसन-सिद्धि की ओर जा रहा है। परमार्थ जिज्ञासु साधु लोग जंगलों में एक-एक आसन से कई-कई घण्टे बैठने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। इस प्रकार का अभ्यास करते हुए उन्हें वर्षों व्यतीत हो जाते हैं, फिर भी वे लोग आसन सिद्ध नहीं कर पाते।

भगवान् पतंजलिदेव ने आसन सिद्धि का एक उपाय बताया है जो बहुत ही उत्कृष्ट है। उसका अवलम्ब लेने से मनुष्य पूर्णरूपेण आसन सिद्धि को प्राप्त हो सकता है। 'अकरणात् करणम् श्रेयः' के नियमानुसार न करने से कुछ करना ठीक है किन्तु आसन सिद्धि और स्थिर सुख को चाहने वाले साधकों के लिये निम्नांकित उपाय का अवलम्ब लेना परम आवश्यक है—

प्रयत्नशैथिल्यादनन्तसमापत्तिभ्याम्।

अर्थात्–आसन सिद्धि प्राप्त करने के लिए एक ऐसे उपाय की आवश्यकता है जिससे प्रयत्न शैथिल्य होकर अनन्त समापत्ति हो जाय। जब तक मनुष्य का मन पूर्णरूपेण एकाग्र नहीं हो पाता तब तक वह आसन सिद्धि के लिये प्रयत्न करता ही रहता है और अनन्त समापत्ति उससे कोसों दूर रहा करती है।

अनन्त समापत्ति का अर्थ है–अखण्ड मण्डलाकार व्यापक परमात्मा के स्वरूप में अपने आपको विलीन कर देना। कहीं-कहीं पर योगाचार्यों ने शेषनाग के ध्यान को भी अनन्त समापत्ति कहा है। कुछ भी हो उस अनन्त परमात्मा में मन के विलय हो जाने पर योगी को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसका शरीर किस प्रकार की स्थिति में पड़ा है। आज घोर कलिकाल के समय में भी इस प्रकार के दृश्य देखने में आते हैं कि गुरुदेव के पूर्णानुग्रह से शक्तिपात हो जाने पर जिन साधकों के मन एकाग्र हो जाते हैं वे लोग बाह्य बोध शून्य हो जाते हैं। उनको दो तीन दिन के बाद ही कई-कई घण्टे

तक एक आसन में बैठे देखा गया है। जहाँ पर शक्तिपात दीक्षायें दी जाती हैं वहाँ पर ऐसी घटनायें स्वाभाविक ही घटती रहा करती हैं।

एक दिव्य घटना

किसी स्थान पर एक योगिराज ने अपने शिष्य पर शक्तिपात किया और योग-दीक्षा दी। वह लड़का एक आसन पर बैठ गया। शक्तिपात के फलस्वरूप उसे इतनी एकाग्रता प्राप्त हो गई कि उसका मन उस सर्वशक्तिमान् अनन्त में विलय हो गया और वह पहले दिन ही पत्थर की मूर्त्ति की तरह कई घण्टे लगातार बैठा रहा। कई दिन के निरन्तर अभ्यास हो जाने के वाद उस साधक की इस प्रकार की स्थिति हो गई कि वह अनन्त समापत्ति से लगातार २४–२४ घण्टे एक ही आसन से बैठा रहता और गुरुदेव उसको स्वयं चेतना देकर यह बोध कराया करते थे कि तुम्हें इतना समय बैठे हो गया है, अव तुम उठ जाओ और वाहर जाकर मल-मूत्र का त्याग करो। इस प्रकार की दृढ़ स्थिति अनन्त समापत्ति का ही परिणाम था। आसन सिद्धि का यही सरल एवं उच्चतम उपाय है। जो जिज्ञासु इस कृपा को लाभ कर लेते हैं उनके आसन स्वतः ही सिद्ध हो जाया करते हैं।

आसन सिद्धि का परिणाम

ततो द्वन्दानभिघातः।
शीतोष्णादिभिर्द्वन्दैरासन जयान्नाभिभूयते।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़े को द्वन्द कहते हैं। जिस व्यक्ति का आसन सिद्ध नहीं होता उसको सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि सताते रहते हैं और द्वन्दों से सताया हुआ वह व्यक्ति कभी भी साधना की पूर्णता को नहीं पा सकता। आसन सिद्धि का सवसे वड़ा फल द्वन्दानभिघात अर्थात्–द्वन्दों से न सताया जाना है। अतः जो लोग परमार्थ जिज्ञासु हैं उनको शास्त्रोक्त विधि से आसन जय प्राप्त करने के लिये अनन्त समापत्ति अवश्य करनी चाहिए, आसनों को करने का पारमार्थिक लाभ यही है।

योगासन और व्यायाम

आजकल संसार में विविध प्रकार के व्यायामों का प्रचार है। इन व्यायामों को करने वाले लोग वड़े हट्टे-कट्टे एवं विश्व विजयी पहलवान दिखलाई देते हैं। एक पहलवान को अपने शरीर पर वड़ा भारी अभिमान होता है कि उसके द्वारा किये गये

व्यायामों के फलस्वरूप उसके शरीर में इतनी दृढ़ता आ गई है कि उसकी मांस ग्रन्थियों को यदि वर्छियों से भी काटा जाय तो भी कट नहीं सकती। इस प्रकार के प्रदर्शन लोग स्थान-स्थान पर किया करते हैं। वे लोग अपने भुजदण्डों को फुला लेते हैं और दूसरे लोगों से कहते हैं कि वे हाथों से, मुक्कों व लकड़ी के डण्डों से उसको पीटें, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकलता। पीटने वाले थक जाते हैं पर उस तनाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आ पाती। अपने व्यायाम के इस परिणाम को देखकर वे लोग वड़े हर्षान्वित होते हैं और समझते हैं कि हमें यह वड़ा अलभ लाभ हुआ है, किन्तु वात ऐसी नहीं होती जैसी वे लोग अपने मन में समझते रहते हैं। उनके उस व्यायाम से एक ही जगह इतनी दृढ़ता इसलिये आ जाती है कि शरीर के छोटे छोटे स्नायु जिनका काम सारे शरीर में उचित मात्रा में खून का वहन करना होता है उनका सव जमाव वे वहाँ ही कर डालते हैं। अतः जो कार्य सारे शरीर को स्वस्थ रखने के लिये होना चाहिए था वह जाता रहता है। परिणामस्वरूप पहलवान लोग भी जिन्होंने हजारों दण्ड बैठकें की हैं बार-बार रोगी दिखलाई देते हैं और अन्त में उनके शरीर इतने भारी हो जाते हैं कि उन्हें स्वयं ही अपना शरीर भार स्वरूप प्रतीत होता है। वे चलने-फिरने, उठने-बैठने में कष्ट महसूस करते हैं तथा उनकी शरीर-ग्रन्थियों में जगह-जगह दर्द होने लगता है।

उन सभी व्यायामों का यही परिणाम निकलता है जिनको करने से शरीर के किसी विशेष भाग पर अधिक तनाव पड़ता है।

एक और बात

संसार में एक किंवदन्ती आम तौर पर लोग जानते हैं कि मनुष्य अपने जीवन में गिनी हुई श्वासों की संख्या को लेकर आया करता है। जितना अधिक वह श्वासों के खजाने को वचाकर रखेगा उतना ही उसका जीवन स्वस्थ एवं लम्वा होता चला जायेगा। यह वात यथार्थतः सत्य है। हमारा जीवन प्राणों पर निर्भर है। जो लोग किसी भी लापरवाही से अपने श्वासों का दुरुपयोग करते हैं वे अपनी मृत्यु को शनैः शनैः पास बुलाते जाते हैं और थोड़े ही समय में काल के ग्रास वन जाते हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह अपने श्वासों की निधि को व्यर्थ न खोये।

श्वासों का अपव्यय कैसे होता है ?

हमें यह भी विचार लेना चाहिए कि हमारे श्वासों का आना जाना किस प्रकार से अधिक मात्रा में होता है। यह देखने में आया है कि जो लोग विलासी हैं उनका

श्वास जल्दी फूलने लगता है। वे थोड़ा सा भी कोई काम करें तो हाँफने लग जाते हैं और उनको इतनी अधिक घवराहट होती है मानो कि प्राण ही निकलने वाले हों। उनके हृदय की धड़कन वढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त जो लोग इस प्रकार के व्यायाम करते हैं जिनमें श्वासों का यातायात अधिक मात्रा में होने लगता है वे अपने श्वासों के खजाने को जल्दी लुटा बैठते हैं और उन्हें थोड़े समय के बाद ही उन्हें अपने वहुमूल्य जीवन से हाथ धोना पड़ता है। अतः स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए श्वासों के खजाने की सुरक्षा भी वहुत आवश्यक है। इसीलिये योगी लोग प्राणायाम किया करते हैं और उसके परिणामस्वरूप वे लोग कालजित् हो जाते हैं अर्थात् मौत पर विजय पा जाते हैं।

यौगिक व्यायाम का शरीर पर प्रभाव

ऊपर हम योगासनों द्वारा पारमार्थिक लाभ का वर्णन कर चुके हैं। प्रत्येक योगासन के करने से पारमार्थिक लाभ अवश्यम्भावी हैं और मन एकाग्रता का जनक है। क्योंकि हमारे चित्त की प्रसार भूमि हमारे शरीर की नाड़ियाँ हैं। यदि हमारा स्नायु-मण्डल पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं रहता है तो मन की एकाग्रता भी पूर्णरूपेण शुद्ध नहीं हो सकती। नाड़ी शुद्धि के लिये यौगिक व्यायाम परम उपादेय हैं। योगासनों का व्यायाम हमारे उन आचार्यों का निकाला हुआ व्यायाम है जो चित्त के सभी परिणामों को समझने वाले थे एवं भूत-भविष्य के ज्ञाता थे। उनके निश्चित किये गये सभी सिद्धान्त पतन से परे हैं। क्योंकि वे लोग सव प्रकार से परिपूर्ण थे, आत्मकाम थे और हर क्रिया के भूत भविष्य के परिणामों को भली प्रकार से समझने वाले थे। इसलिए योगासनों का व्यायाम लोक व परलोक दोनों के लिये कल्याणकारी है।

योगासनों को करने से दण्ड व बैठको की भाँति शरीर के किसी एक भाग पर ही तनाव नहीं पड़ता प्रत्युत शरीर के हर भाग पर व हर जगह पर उसका प्रभाव पड़ा करता है। जो लोग नित्य नियम से योगासन करते हैं उनका स्वास्थ्य उत्तम रहता है। स्वास्थ्य शब्द का अर्थ है—अपने स्वरूप में स्थित रहना क्योंकि स्वस्थ के भाव को ही स्वास्थ्य कहा जाता है। योगासनों का व्यायाम एक इस प्रकार का व्यायाम है जिससे शरीर पूर्णरूपेण स्वस्थ रह सकता है। हस्तपाद आसन, पश्चिमोत्तान, ऊर्ध्व-पश्चिमोत्तान, उष्ट्रासन आदि आसनों के करने से एड़ी से लेकर नितम्व भाग तक के सभी स्नायुओं में पूरी-पूरी उत्तेजना मिलती है तथा उड्डयन वँध स्वाभाविक ही लग जाने से जठराग्नि पूर्णरूपेण प्रदीप्त होती है। मलविसर्जिनी नाड़ियाँ उत्तेजना पाकर मल का पूर्णरूपेण परित्याग करने लगती हैं। धनुरासन, शलभासन, नाव आसन,

भुजंगासन इत्यादि आसनों के करने से शरीर के कटि भाग में पूरा तनाव पड़ता है एवं फेफड़ों का प्रसार होता है। अतः फेफड़ों की शुद्धि, कटिभाग की दृढ़ता तथा शरीरमान की वृद्धि आदि परिणाम इन आसनों के करने से अवश्यम्भावी हैं। मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, शलभासन, गर्भासन, वकासन, मयूरासन आदि सव आसन पेट से सम्वन्ध रखने वाले हैं। इनके करने से सभी प्रकार के उदर विकार नष्ट हो जाते हैं, पेट वहुत नरम रहता है तथा यकृत प्लीहा आदि के दोषों का समूलोन्मूलन हो जाता है तथा वात-पित्त गुल्म आदि के रोग स्वभाव से ही हट जाते हैं।

इसी प्रकार सर्वाङ्गासन, हलासन, पूर्वोत्तान, ताड़ासन, वृक्षासन आदि-आदि आसनों के करने से नीचे की ओर होने वाली रक्त की गति थोड़ी देर के लिये शिरोभाग की ओर होने लगती है, जिसके फलस्वरूप सिर व छाती की बीमारियाँ तथा यकृत, प्लीहा आदि की वृद्धि अनायास दूर हो जाती है। जो लोग शीर्षासन या इस प्रकार के अन्य आसनों के अभ्यासी हैं उनको कठिन वीर्यविकार जो किसी प्रकार के औषधोपचार से असम्भव प्रायः है वह थोड़े दिन में दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो लोग घी, दूध आदि पदार्थों का उचित मात्रा में सेवन करते हुए नियमित रूप से योगासनों को करने के अभ्यासी हैं, उनकी युवावस्था सदा कायम रहती है एवं उनका मुखमण्डल देदीप्यमान दिखलाई देता है।

आजकल के घोर कलिकाल में भी इस अवनि-मण्डल पर इस प्रकार के लोग दिखलाई देते हैं जो शीर्षासन आदि प्रमुख योगासनों का नियमित रूप से घण्टों अभ्यास किया करते हैं। जो साधक शीर्षासन का लगभग ३ घण्टे का अभ्यास यथार्थ विधि से वढ़ा लेते हैं वे कराल काल पर जय प्राप्त करते हैं। हमने अपने योग प्रचार के भ्रमण में शीर्षासन के अभ्यासी कई ऐसे व्यक्तियों को देखा है जिनकी सौ वर्ष से अधिक आयु होने पर भी वे पूर्णतया स्वस्थ हैं। उनके शरीर को देखकर कोई कह नहीं सकता कि ये कोई वृद्ध हैं। उनकी सारी वातें युवाओं जैसी दिखाई देती हैं। दाँत, कान और नेत्रादि इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण काम करती हैं। यह सब उनके नैत्यिक व्यायाम का प्रभाव है। इसके साथ ही जो लोग हठाभ्यास करते हैं और जिनका लक्ष्य राजयोग है वे इन्हीं आसनों को करते हुए अपने शरीर में पूर्ण जागृति ले आते हैं।

योगासन एवं कुण्डलिनी जागरण

योगाचार्यों के मतानुसार हमारे शरीर में लगभग ७२ हजार नाड़ियाँ हैं और उन सब में १४ नाड़ियाँ प्रमुख मानी गई हैं।

सुषुम्णेडा पिंगला च गान्धारी हस्तजिह्वका ।
कुहू सरस्वती पूषा शांखिनी च पयस्विनी ।।
वारुणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी ।
एतासु तिस्रो मुख्याः स्युः पिङ्गलेडासुषुम्णिका ।।

सुषुम्ना, ईडा, पिंगला, गांधारी, हस्तजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वरुणा, अलम्बूषा, विश्वोदरी एवं यशस्विनी । ये चौदह नाड़ियाँ प्रमुख हैं और इन चौदह में से ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ये तीन मुख्य नाड़ियाँ हैं । इन तीनों में भी सुषुम्ना नाम की नाड़ी प्रमुख है । यह सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मद्वार है । सुषुम्ना द्वार को खोलकर ही जीवात्मा शक्तिरूप होकर शिव में लय होता है । सुषुम्ना मूलाधार कमल से उठकर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है और इसके मुख द्वार को कुण्डलिनी नाम की नाड़ी साढ़े तीन लपेटा लगाकर बैठी हुई है । सुषुम्ना द्वार में उसका मुख है । जव तक वह महाशक्ति जग नहीं जाती तव तक मनुष्य देवताओं का पशु रहा करता है । उस महाशक्ति को जगाकर ही देवता लोग भी देवता कहलाते हैं । क्योंकि उनकी शक्ति जाग्रत हुई होती है जिससे वे शक्तिवान् वने रहते हैं, किन्तु मनुष्य की कुण्डलिनी शक्ति सोई हुई रहती है इसलिए वह दर-दर का भिखारी वना रहता है, दीन-हीन रहता है और शक्तिवानों की अनुनय-विनय करके यथा-तथा जीवन निर्वाह करता है । वह कुण्डलिनी महाशक्ति गुरुदेव की परम अनुकम्पा से, प्राणायाम से या हठयोग की अन्य विविध साधनाओं से जग जाया करती है ।

हमारे योगासनों में इस प्रकार के आसन भी हैं जिनका अनवरत अभ्यास करने से महाशक्ति कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और मनुष्य सामर्थ्य को पा जाता है ।

भद्रासन, पश्चिमोत्तान, वज्रासन एवं शीर्षासन आदि सभी आसन कुण्डलिनी प्रवोध करने वाले हैं ।

वहुत से हठाभ्यासी महात्मा जिनको राजयोग में विशेष अभिरुचि नहीं है और जिन्होंने अपना लक्ष्य हठयोग ही वनाया हुआ है वे कुण्डलिनी जागरण के लिये ही हठयोग की विविध साधनाओं में लगे रहते हैं । हमने श्री वृन्दावन में करोली वाली कुंज में एक ब्रह्मचारी जी को देखा जो वज्रासन, भद्रासन, शक्तिचालिनी मुद्रा और शीर्षासन आदि आसनों को कुण्डलिनी जागरण के लिये कई-कई घण्टे करते रहते थे । हमने उनके दर्शन प्राप्त किये । वार्तालाप में उन्होंने वतलाया कि वे कई वर्षों से इसी हठसाधना में लगे हुए हैं और इस विषय में अव उनका थोड़ा सा कार्य ही शेष रह गया है, जो लगभग दो वर्ष में पूरा हो जायेगा । दो वर्ष वाद जव हम पुनः उनके आश्रम में गये तो पता चला कि वे यहाँ से कहीं चले गये हैं । उनके सम्पर्क में

रहने वाले लोगों ने हमें वतलाया कि ब्रह्मचारी जी के दृढ़तापूर्वक हठाभ्यास से उनकी कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो गई। फलस्वरूप उनके प्राण ब्रह्माण्ड में जाने लगे। उनको अनवरत समाधि वनी रहने लगी। अन्ततः उनको इतना तीव्र वैराग्य हुआ कि वे कहीं वनों में चले गये।

कहने का अभिप्राय है कि योगासनों के जिन लाभों को दृष्टिगत रखते हुए योगाचार्यों ने उनका निर्देश किया है, वह लाभ केवल इस लोक से सम्वन्ध रखने वाला ही नहीं अपितु अपवर्ग का दाता भी है।

उन्नीसवां परिच्छेद

योगासन एवम् ऊर्ध्वरेतसता

षटचक्रों के अन्दर मणिपूरक नामक नाभि का चक्र है। मणिपूरक चक्र का स्थान नाभिमण्डल है। नाभिमण्डल ही वीर्याशय यानी वीर्य का स्थान है। मनुष्य के मन में जब किसी प्रकार की काम-वासना का उदय होता है तो कामाग्नि की ऊष्णता से वीर्य सारे शरीर से आकर्षित होकर स्खलन की ओर जाता है। आयुर्वेद के परमाचार्य श्री वागभट्ट ने वीर्य को वपुसार, जीवनाशय, गर्भबीज आदि नामों से उद्घोषित किया है। जैसे :–

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलं पुष्टिकरं स्मृतम्।
गर्भ बीजं वपुः सारो जीवनाश्रय उत्तमः॥

अतः इसका सारे शरीर में व्यापक रहना जीवधारियों के लिए बहुत ही आवश्यक है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का व्यायाम नहीं करते हैं, खट्टे-मीठे पदार्थ खाते रहते हैं, उनके मन में काम-वासना बढ़ती रहा करती है। खाली बैठे रहने से मन में कुभावनायें आती हैं और शनैः शनैः कुकर्म-चेष्टायें बढ़ने लगती हैं, जिससे मनुष्य उन्नति के लिए प्राप्त हुए अपने पवित्र जीवन को पतन की ओर ले जाने का कारण बन जाता है। इसलिए वीर्य को ऊर्ध्वरेतस बनाने के लिए साधक को पहले ऐसा प्रयत्न कर लेना चाहिए कि वपुसार जीवनाश्रय वीर्य को सारे शरीर में व्यापक कर डाले। वीर्य को शरीर में व्यापक करने के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि मनुष्य व्यायाम की आदत डाले। व्यायाम करने के जितने प्रकार आज भारत व दूसरे देशों में प्रचलित हैं वे सब मनुष्यकृत होने के नाते अधिक लाभदायक नहीं हैं। ऐसे सभी व्यायाम शारीरिक जड़ता के दाता हैं। ये वीर्य को शरीर में व्यापक तो बनाते हैं किन्तु उसका प्रभाव सभी अंगों पर समान रूप से नहीं पड़ता। स्नायु कहीं-कहीं तो बहुत ही दृढ़ हो जाते हैं जिससे सारे शरीर में रस व रक्त का समान रूप से वहन नहीं हो पाता। जो व्यायाम हमारे पूर्वज योगाचार्यों ने अपने ग्रंथ में लिखे हैं वे सभी उनकी ऋतम्भरा प्रज्ञा की उत्तम देन हैं और ये सभी व्यायाम स्नायु-मण्डल को कोमल, रस व रक्त का ठीक तरह से वहन करने वाले बनाते हैं एवं मन की एकाग्रता के दाता हैं, अतः शरीर को नीरोग, हल्का, फुर्तीला ओज-तेज प्रधान एवं वीर्य को शरीर को व्यापक बनाने के लिए योगासन बहुत उपयोगी हैं। जो लोग किसी योग शिक्षण केन्द्र में जाकर नियमानुवर्तिता से योगासनों का अभ्यास करते हैं उनका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता

है। कामोद्दीपक भावनायें स्वतः ही शान्त होने लगती हैं तथा मन आत्म-चिन्तन की ओर वढ़ने लगता है। योगासनों का व्यायाम सभी प्रकार से उत्तम है, किन्तु वीर्य को शरीर में व्यापक वनाये रखने के लिए उदर-सम्वन्धी आसनों का अभ्यास वहुत ही आवश्यक हो जाता है। जैसेः—उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, नावासन,नाभ्यासन, धनुरासन, शलभासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आदि। ये सभी आसन पेट से सम्वन्ध रखने वाले हैं। योग शिक्षण केन्द्रों में सभी आसन नियमानुसार कराये जाते हैं। अभ्यासी लोग पहले खड़े होने के आसन करते हैं उसके वाद बैठने-लेटने के आदि क्रमानुसार करते हैं।

उपरोक्त विधि के अनुसार वीर्य शरीर में व्यापक तो हो ही जायेगा, किन्तु ऊर्ध्वरेतसता प्राप्त करने के लिए कुछ खास-खास अभ्यास हैं जिनका दिग्दर्शन हम निम्नलिखित पंक्तियों में कर रहे हैं।

हमारे योगाचार्यों ने 'सिद्धासन' को सर्व सिद्धियों का दाता वतलाया है। 'सिद्धासन' की एक विशेषता यह है कि उसके करने से मनुष्य स्वाभाविक ही संयतेन्द्रिय वन जाता है क्योंकि सिद्धासन लगाने से वीर्यवाहिनी नाड़ी संकुचित हो जाती है और उस नाड़ी के दव जाने से वीर्य का अधोवेग रुककर ऊर्ध्ववेग वन जाता है। 'सिद्धासन' का प्रकार योगाचार्य भगवान सदाशिव ने शिवसंहिता में इस प्रकार वतलाया है :—

योनिं संपीड्य यत्नेन पाद मूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेत योगवित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलः संयतेन्द्रियः।
विशेषोऽवक्राश्च रहस्युद्वेगवर्जितः ॥
एतत्सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकम् ॥

अर्थात्—अपने वायें पैर की एड़ी को अण्डकोषों के नीचे योनिस्थान में (जिसको सींवनी कहते हैं) ले जाकर दृढ़ता के साथ जमा दो। पीछे गुदाद्वार के नीचे कोई कपड़ा या कपड़े की साधारण सी गद्दी रख दो जिससे लिंगनाल को दबाने में वह गद्दी सहायक हो जाय। इस प्रकार वायें पैर की एड़ी को योनिस्थान में दृढ़ता से जमाकर दाहिने पैर की एड़ी को लिंगनाल के ऊपर जमाकर रखो। दोनों पैरों के टखने परस्पर मिले हुए हों। एक पैर लिंगेन्द्रिय के नीचे योनिस्थान में हो और दूसरा लिंगेन्द्रिय के ऊपर जमा हुआ हो। इस विधि से बैठ जाओ। अपने मेरूदण्ड को सीधा रखो। दोनों हाथों को तनाव के साथ घुटनों पर रखो एवं दृष्टि को भ्रूमध्य में ले जाओ, दृष्टि थोड़ी सी झुकी हुई हो। मन में कोई भी उद्वेग न हो। इसको योगाचार्यों ने सिद्धासन कहा है।

जो लोग केवलमात्र सिद्धासन का अभ्यास करते रहते हैं उनके भी मनोविकार शांत हो जाते हैं और वीर्य की अधोगति रुक करके वेग ऊपर की ओर वढ़ने लगता है।

इसके साथ एक विशेष प्रकार का प्राणायाम करो। अपने प्राणवायु को वेग के साथ वाहर निकाल दो। उड्डियान बंध के साथ आधार चक्र को ऊपर की ओर खींचो और प्राणवायु को रोक दो। आधार चक्र खींचे रहो। अपने मन में धारणा करो कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर खींच रहा हूँ। अनुभवी सन्तों ने इस प्राणायाम में लिंगेन्द्रिय को ऊपर की ओर खींचने की भी विधि लिखी है, किन्तु नाभिमण्डल से नीचे की नाड़ियों को अपने हाथ की हथेली से तनाव देकर रखोगे तो भी परिणाम वही निकलेगा। अपने पेट की वायु को वाहर निकाल देने पर उसको यथाशक्ति वाहर रोके रहना चाहिए। जव घवराहट मालूम पड़े तव धीरे-धीरे उस वायु को अन्दर ले लो, किन्तु अन्दर रोकने का अभ्यास नहीं करना चाहिए। वर्षों तक योग साधक यदि इस प्राणायाम को करता रहता है तो वह अवश्य ही ऊर्ध्वरेतस बन जाता है। उसका वीर्य ऊर्ध्वगमन करने लगता है और वह विन्दुजय कर लेता है।

सिद्धे विन्दौ महायत्ने किं न सिद्धयति भूतले।

अर्थात्–विन्दुजय प्राप्त करने के वाद ऐसा कोई साधन नहीं जिसको मनुष्य न कर सके। योगदर्शन में ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठा का फल वतलाया है :–

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

यस्य लाभादप्रतिधात् गुणानुत्कर्षयति सिद्धश्च विनियेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात्–इस प्रकार ब्रह्मचर्य धारण करने से योगी अपने शरीर में अलौकिक गुणों का आकर्षण कर लेता है और शनैः शनैः उसका मन-बुद्धि का इतना ऊँचा विकास हो जाता है कि उसे अपने विनीत शिष्यों के अन्दर शक्ति संचार करने की योग्यता आ जाती है। इसलिए उपरोक्त साधनाओं द्वारा साधक को अपने आपको ऊर्ध्वरेतस वनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्यान्य योग साधनों में शक्ति-चालिनी मुद्रा जो वज्रासन के अभ्यास से की जाती है वह भी ऊर्ध्वरेतसता की जननी है। शक्तिचालिनी मुद्रा के अन्दर विपरीत पाद वज्रासन लगा करके भस्त्रिका प्राणायाम किया जाता है, जिसके फलस्वरूप कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण एवं वीर्य का ऊर्ध्वकर्षण अनायास ही होता है।

शीर्षासन एवं ऊर्ध्वरेतसता

शीर्षासन हमारे योगाचार्यों की अमर देन है। इसको विपरीतकरणी मुद्रा के रूप में भी वतलाया गया है। जो लोग नियम से विधिपूर्वक शीर्षासन का अभ्यास करते हैं उनका वीर्य भी ऊर्ध्वगमन करने लगता है किन्तु शीर्षासन के अभ्यासियों को चाहिए कि इस विपरीतकरणी मुद्रा को किन्हीं योग-शिक्षण केन्द्रों में जाकर सीखें। शीर्षासन के अभ्यासी लोगों को मस्तिष्क का ऊपर वाला भाग जिसे कपाल कहते हैं, वही जमीन पर लगाना चाहिए और अपने आहार का ख्याल रखना चाहिए। इसके अभ्यास के लिए शास्त्रीय लेख हैं।

अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने॥
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्॥

अर्थात्—पहले दिन एक क्षण के लिए शीर्षासन करना चाहिए। दूसरे दिन एक क्षण से कुछ अधिक वढ़ाये। इस प्रकार वढ़ाते-वढ़ाते महिने भर में दो-तीन मिनट तक ही वढ़ाना चाहिए। शीर्षासन के अभ्यासी योगी को भूखा नहीं रहना चाहिए।

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो वहुलस्तस्य सपाद्यः साधकस्य च॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्॥

अर्थात्—जो साधक शीर्षासन का अभ्यास करता है उसकी उत्तरोत्तर जठराग्नि वढ़ती चली जाती है। इसलिए खान-पान में उसको संकोच नहीं करना चाहिए और न किसी प्रकार का व्रतादि करना चाहिए। क्योंकि यदि शीर्षासन का अभ्यासी अल्पाहारी होगा तो उसकी जठराग्नि स्वयं उसका दहन कर देगी। शीर्षासन करने वाले साधक को भी अपने अभ्यास-काल में यह धारणा करते रहना चाहिए कि मैं अपने वीर्य को नाभि-मण्डल से ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। नाभि-मण्डल के नीचे के भाग को ऊर्ध्वकर्षण करने से साधक अवश्य ही ऊर्ध्वरेतसता को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ जिन क्रियाओं का संकेत किया गया है उन सबको साधक को समझकर करना चाहिए। यदि विधि पूरी तरह समझ में न आ सके तो अवश्य योग-शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त करके ही इन क्रियाओं को करना चाहिए जिससे वे पूर्ण लाभ उठा सकें।

बीसवां परिच्छेद

शक्ति प्राप्ति का साधन–धारणा

हमने इससे पूर्व किसी प्रकरण में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्ति-विहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है–

"नायमात्मा वलहीनेन लभ्यो।"

अर्थात्–वलहीन मनुष्य को आत्मपद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षाकाल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जव से जन्म ग्रहण करता है तभी से उसके मन में शक्ति-प्राप्ति की धुन सवार रहती है।

किन्तु "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है। उसका वह आह्लाद वहुत थोड़े समय के लिए होता है। जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई वालुका में डाल दिया जाय तो वह उस वालुका की गर्मी को पाकर तड़प उठती है और यदि उसको कोई छोटा सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु यह शान्ति भी उसके लिए अस्थायी रहती है। जव तक वह अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तव तक उसका दुःख एवं तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है अतः यह जव तक उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तव तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर उसको शान्ति उपलव्ध नहीं हो सकती और जिसको शान्ति ही नहीं मिली उसे सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इसलिए योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए लोग कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होंगे।

हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन को ज्योतियों की भी महाज्योति कहा गया है और वेदमन्त्रों में उसको शिव संकल्प होने

की प्रार्थना की गई है। वेद भगवान ने कहा है कि हमारा मन जो जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है और सोता हुआ भी इसी प्रकार क्रियाशील वना रहता है उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे उत्थान का कारण वनें। हमारे पूर्वजों का कथन है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—वन्धन और मुक्ति का कारण मन ही है। इसलिए सर्वप्रथम मन की चंचलता को रोककर शक्ति संचय करने के लिए उसका संयम में ले आना वहुत ही आवश्यक है। भगवान पतंजलिदेव ने 'योग-दर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया है। ये सारे के सारे अंग यद्यपि मन पर कन्ट्रोल करने के लिए अचूक साधन हैं किन्तु फिर भी सव प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर मनोनिग्रह के तीन साधनों—धारणा, ध्यान और समाधि का उल्लेख किया गया है। जव तक मन किसी धारणा द्वारा अन्तर्मुख नहीं हो जाता तव तक उसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेज धार वाला हो और जो उसे काट सके। इसलिए परम श्रेय लाभ करने के लिए और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिए सर्वप्रथम मन को वश में कर लेना वहुत आवश्यक है। इस प्रकार की पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य वाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है। धारणा क्या है ? इसके विषय में भगवान पतंजलिदेव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं :—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात्—किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्वप्रथम सोपान है। यहाँ से ही मनुष्य का सर्वार्थिक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों में अनेक मत हैं। किन्तु योगदर्शन के भाष्यकार श्री व्यासदेव जी ने धारणा स्थान निम्नांकित बतलाये हैं :—

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाऽग्रे इत्येवमादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण वन्ध इति धारणा।

अर्थात्–नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्धज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्तिमात्र कहने का अभिप्राय: यह है कि इनको हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें। जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। देखे सुने हुए विषय को मन की भावना के रूप में चिन्तन करना ही वृत्तिवन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे–हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ किया और अपनी कल्पना से हम उनके उस स्वरूप को हृदय में बैठा हुआ देखने लगे। यही हृदय कमल की धारणा है। वार-वार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय-कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है। इसी प्रकार से मूर्धज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान पतंजलिदेव का आदेश है :–

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमि:।

अर्थात्–किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना वहुत आवश्यक है। यही नहीं कि हम एक दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर डालने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल छूट गया, फिर दो-चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक वात और परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण-रूपेण हो। हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था नहीं हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार "अकरणात् करणं श्रेय:" न करने से कुछ करना ही अच्छा है। इस वात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके अन्तिम और उत्तम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए वहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम से कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोवल अवश्य वढ़ता ही जायेगा। धारणा

के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्चस्तर की योग्यता प्रकट हो जाती ही और साधक एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन में कहा है :–

धारणासु योग्यता मनसः ।

अर्थात्–धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल ३–३ घण्टे अपने ध्येय विषय की धारणा करके उसको वृत्ति-निरोध से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय मन में प्रकट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बंधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

इक्कीसवां परिच्छेद

अन्तर्मुखता का साधन–मौन

अन्तर्विज्ञान के वेत्ता हमारे ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव के आधार पर लिखे अपने सद्ग्रन्थों में अपनी विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन किया है। सभी साधनाओं का लक्ष्य एक ही है कि साधक येन-केन-प्रकारेण अन्तर्जगत में प्रवेश करे और वहाँ के अध्यात्म दृश्यों को देखकर वाह्य जगत से सम्वन्ध तोड़ दे। कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली में नचिकेता को उपदेश देते हुए यमराज ने विल्कुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में यह आदेश दिया है :—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः,
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्,
आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात्–परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को वहिर्मुखी वनाया है, इसलिए वे वाह्य-जगत में ही प्रवृत्त रहती हैं, अन्तर्जगत में प्रवेश नहीं करतीं। अन्तर्जगत में प्रवेश की इच्छा वाला कोई विरला साधक इनको अन्तर्जगत की ओर मोड़ करके ही उस प्रत्यक्-आत्मा को देख पाता है। इसलिए अन्तर्जगत में प्रवेश की इच्छा रखने वाले हमारे आचार्यों ने अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखता की ओर झुकाकर ही शान्ति लाभ प्राप्त किया और अमृतत्व को पा सके।

अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने–"मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्" कह करके मौन की महत्ता का संकेत किया है। गुह्य शब्द का अर्थ है–जो लोग अन्तर्निधि को प्राप्त कर चुके हैं वही छिपे हुए हैं, गुह्य हैं, गुप्त हैं। उन लोगों की स्थिति समुद्र पान करके भी ओठ सूखे दिखलाने वाली है।

हमारे शास्त्रों में दो प्रकार के सिद्धों का वर्णन मिलता है–एक तो वे लोग हैं जो स्वतः सिद्ध हैं। अर्थात् जो अनादिकाल से सिद्ध ही चले आते हैं। दूसरे वे हैं जिन्होंने साधना के वल पर सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। मौन भी अन्तमार्ग के साधकों की एक गुह्य साधना है जो उनकी अन्तर्निधि की रक्षा करती है। हमारी अध्यात्म-जगत की शक्ति इन्द्रियों की वहिर्मुखता के द्वारा ही वाह्य जगत में प्रसारित होती है, इन्द्रियों का वेग

इतना प्रवल होता है जिसके लिए अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण को अर्जुन को समझाते हुए ये शब्द कहने ही पड़े कि––

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।

अर्थात्–हे अर्जुन ! वड़े-वड़े बुद्धिमान व्यक्ति अपने मन को सम्भाले रखने का पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं, किन्तु इन्द्रियों का वेग इतना प्रवल है कि उन बुद्धिमान विद्वानों को भी पीस डालता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्तासीत्मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

अर्थात्–जो योगी उन सव पर नियन्त्रण करके मेरी उपासना करता है और शनैः शनैः अभ्यास के वल से इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह प्रतिष्ठित बुद्धि वाला वन जाया करता है ।

अतः बुद्धि के प्रतिष्ठान के लिए और लम्बे अभ्यास के द्वारा प्राप्त अन्तर्जगत के ऐश्वर्य की रक्षा के लिए साधक को चाहिए कि वह अपनी जिह्वा पर नियन्त्रण करे । मनुष्य के मन में यदि किसी के प्रति ईर्ष्या पैदा होती है तो वह अपने मन के उद्वेग को रोक नहीं पाता प्रत्युत कटु शब्दों का उच्चारण करके उसको अभिशाप दे डालता है जिसका परिणाम यह निकलता है कि साधक की अपनी शक्ति का क्षय तो होता ही है प्रत्युत दूसरे को भी भारी दण्ड मिल जाता है, जिससे वह अनेक प्रकार की यातनाओं को भोगता है । फलस्वरूप शाप देने वाला स्वयं भी एक पाप को कमा लेता है और इससे उसकी अन्तर्साधना में भारी अन्तराय उपस्थित हो जाता है । इसलिए साधक को चाहिए कि अपनी अन्तर्निधि की रक्षा के लिए मौन का अभ्यास करे एवं अपनी सहन शक्ति को वढ़ाये, जिससे उसका अन्तर्विकास उत्तरोत्तर वढ़ता चला जाये । उत्तम तो यही है कि योगी के मन में किसी प्रकार का विकार पैदा न हो । ऐसा तभी हो सकता है जव साधक एकान्त स्थान में रह करके तप, स्वाध्याय एवं योगाभ्यास के द्वारा अन्तर्प्रकाश पैदा कर ले, जिससे हृदय में हर समय शान्ति, आनन्द एवं प्रफुल्लता बनी रहे । तभी उसके अन्दर मौन धारण करने की योग्यता भी आ सकती है अन्यथा मौन भी मिथ्याचार का रूप धारण कर लेगा । श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से ऐसे लोगों को मिथ्याचारी कहा है जो कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके मन से उनके विषयों का चिन्तन करते रहते हैं, यथा :––

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

इसलिए मनुष्य को मौन तो रहना चाहिए किन्तु उसको अभ्यासशील होना भी वहुत आवश्यक है। अभ्यासशील साधु अपनी जिह्वा पर कन्ट्रोल करके यदि मौन रहेगा तो उसका वह मौन भी अन्तर्मुखता का एक विशिष्ट साधन वन जायेगा। उसकी अन्तर्निधि वढ़ती चली जायेगी एवं "मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्" के अर्थ को वह भली प्रकार समझ जायेगा। तव उसके मन में यह धारणा स्वाभाविक ही वन जायेगी :—

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ।।

बाईसवां परिच्छेद

राजयोग

हमारे शास्त्र का एक सिद्धान्त है जिसको योगियों ने अपनाया है। जैसे :–

यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते ।
यत्र प्राणो लीयते तत्र मनो लीयते ।।

अर्थात्–जहाँ मन लय हो जाता है वहाँ प्राण लय हो जाता है और जहाँ प्राण लय हो जाता है वहाँ ही मन लय हो जाता है। यह योगियों का अटल सिद्धान्त है। योग के दो ही आधार हैं–एक मन और दूसरा प्राण। मन की साधना को राजयोग कहते हैं और प्राण की साधना को हठयोग कहते हैं।

नृणामेको गम्यस्त्वमसिपयसामर्णव इव ।।

जिस प्रकार सभी नदी-नालों का गम्यस्थान समुद्र होता है उसी प्रकार प्राणिमात्र के गम्यस्थान भगवान् सदाशिव हैं और उनको प्राप्त करने के लिए एकमात्र साधन योग है। इस योग के अन्दर सभी साधनायें निहित हैं, राजयोग, हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग, भक्तियोग आदि इसके वहुत से भेद हैं। किन्तु उनमें से साधना दो ही प्रकार की की जाती है। चाहे हम मनोलय वाली साधना कर लें या प्राणालय वाली।

प्राणालय वाली साधना करने वाला व्यक्ति हठयोग का आश्रय लेता है। जो लोग हठयोग की साधना करते हैं प्रथम प्राणजय करके विविध नाड़ियों में प्राण का प्रवेश कराना प्राण पर कन्ट्रोल करके स्फुट प्रज्ञालोक को प्राप्त करना उनका ध्येय रह जाता है।

"सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः" के नियमानुसार हठयोग का भी लक्ष्य राजयोग की प्राप्ति ही है किन्तु हठयोगी राजयोग को प्राप्त करने के लिये अपनी आधारभित्ति को पूर्ण परिपक्व कर लेता है। ऐसा योगी पतन से परे हो जाता है। जो लोग बिना हठयोग की साधना के राजयोग के अभ्यास में लगे रहते हैं वे लोग इतनी जल्दी सफलता को नहीं प्राप्त कर सकते जितनी जल्दी एक हठयोगी सफलता को प्राप्त किया करता है। जिन लोगों की ख्याति आजकल अजरत्व-अमरत्व में मुख्यतः है वे लोग सभी हठ-योग की साघना के द्वारा राजयोग की उच्चतम समाधि को प्राप्त हुए। जो लोग विना हठयोग की साधना किये राजयोग की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं वे निरन्तर अभ्यास

करते हुए अपने लक्ष्य को तो पा ही लेते हैं किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर पूर्ण विजय जिस प्रकार एक हठयोगी प्राप्त करता है उतनी जल्दी वह नहीं कर सकता ।

शरीरेण जिता सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत्कथं कुरुते तेषां सुख दुःखादिकं फलम् ।।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धि कामक्रोधादिकं जितम् ।
तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि वाध्यते ।।
महाभूतानि तत्वानि संहृतानि क्रमेण च ।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ।।
देवैरपि न लक्ष्येत योगिदेहो महावलः ।
भेदवन्धविनिर्मुक्तो नाना शक्तिधरः परः ।।
यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो दृश्यः स्थूलात्स्थूलो जड़ाज्जड़ ।।
इच्छारूपो हि योगीन्द्रो स्वतन्त्रस्वजरामरः ।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित् ।।
अचिन्त्य शक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ।।
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगवलेन तु ।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।।
मरणं यत्र सर्वेषां, तत्रासौ परिजीवति ।
यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ मृत एव वै ।।
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वं दोष विवर्जितः ।।

साधारणतः सांसारिक लोग शरीर से जीते हैं। शरीर में जिस प्रकार के दुःख सुख आदि होते हैं संसार वाले उन दुःखों से दुःखी रहते हैं। केवल मात्र योगी ही अपनी साधनाओं के द्वारा शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। फिर उनको सुख दुःख आदि शरीर धर्मों का अनुभव नहीं होता। शनैः शनैः इस प्रकार के हठयोगी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को जीतकर काम, क्रोधादि पर अपना नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे अभ्यास के फलस्वरूप वे योगी सभी पर अधिकार पा जाते हैं और किसी के भी वन्धन में नहीं आते। वे अपनी योगाग्नि के द्वारा सप्त धातुमय शरीर को जला डालते हैं। देवता भी उनके शरीर को नहीं देख पाते। वे भेद वन्ध आदि से मुक्त

होकर वहुत प्रकार की शक्तियों को पा लेते हैं। जिस प्रकार आकाश निर्मल है उसी प्रकार योगी का शरीर भी निर्मल रहता है। योगी का शरीर सूक्ष्म से सूक्ष्म, स्थूल से स्थूल और जड़ से जड़ है। योगी लोग परम स्वतन्त्र, अजर-अमर और इच्छानुरूप होते हैं और तीनों लोकों में स्वतन्त्र विचरा करते हैं। वे अचिन्त्य शक्तिमान् योगी चाहें तो हजारों प्रकार के रूप धारण कर लें और उनका संहार भी कर लें। वह योगी जिसने हठयोग के द्वारा अपने आपको मार लिया है वह फिर किसी के मारने से नहीं मरता और न संसार में उसका कोई कर्त्तव्य ही रहता है। वे सव दोषों से रहित हो जाते हैं। उनके मुकावले में कोई भी शक्तिशाली नहीं रहता किन्तु इस प्रकार की हठयोग की साधना करने वाले का भी लक्ष्य राजयोग ही रहता है। राजयोग की साधना मन से आरम्भ होती है। उसमें—"यत्र मनो लीयते तत्र प्राणो लीयते" का सिद्धान्त लागू होता है। हठयोग की साधना में प्राण की प्रधानता रहती है और राजयोग की साधना में मन की प्रधानता रहती है। राजयोग की साधना का लक्ष्य सहस्रदल कमल है और हठयोग की साधना का लक्ष्य षटचक्रों का भेदन करते हुए प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाना है। क्योंकि प्राणायाम का फल भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन में "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" लिखा है।

श्री पतंजलिदेव ने या हमारे अन्याचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर जिन-जिन सिद्धातों की रचना की है वे सभी नितान्त सत्य हैं। उनमें मन्तव्यामन्तव्य का प्रश्न पैदा नहीं होता। जो लोग आचार्यों के मतों का अवलम्व लेकर एवं किसी अनुभवी गुरु के द्वारा शिक्षा पाकर इस पवित्र मार्ग पर चलने की चेष्टा करते हैं उनको अपने अभ्यास का परिणाम शास्त्रोक्त पद्धति से ही सामने आता है जिनको वे जान लेते हैं कि—वस्तुतः यथार्थता यही है। राजयोगी एवं हठयोगी की आकृति उनके अन्तर्निहित तेज को प्रकाशित करने लगती है। हठयोग की साधना करने वालों के शरीर में स्वाभाविक कृशता, अल्प मूत्रपुरीषत्व, स्वर सौष्ठवता एवं शरीर लाघव आदि गुणों का विकास हो जाता है। इसके अतिरिक्त जो लोग स्वाध्याय, तप या अन्य किसी भी प्रकार की साधना द्वारा परम प्रकाशमान तेज को प्राप्त होते हैं उनके मुखमण्डल में स्वभावतः ही तेज का प्रकाश होने लगता है। वे लोग किसी भी रूप में छुपे हों किन्तु उनका महात्मत्व सर्वसाधारण की दृष्टि में आने लगता है।

राजयोग की साधना का परिणाम भगवान सदाशिव ने अपनी शिवसंहिता में वहुत ही ऊँचे शब्दों में वर्णित किया है। राजयोग की साधना का फल वतलाते हुए भगवान सदाशिव इस प्रकार वर्णन करते हैं:—

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं, सहस्रारं सरोरूहम् ।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य वाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ।।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धि विवर्जितः ।।

स्थानस्यास्य ज्ञानमात्रेण नृणां,
संसारेऽस्मिन् संभवो नैव भूयः ।
भूतग्राम संतताभ्यासयोगात्,
कर्तुं हर्तुं तस्य शक्तिः समग्रा ।।

स्थाने परे हंस निवास भूते कैलाशनाम्नीह निविष्ट चेता ।
योगीहृत व्याधिरधः कृताधिर्षायुश्चिरं जीवति मृत्यु मुक्तः ।।

चित्तवृत्तिर्यदा लीना, कुलाख्ये परमेश्वरे ।
तदा समाधि साम्येन योगी निश्चलतां व्रजेत ।।
निरन्तरकृते ध्याने जगद्विस्मरणं भवेत् ।
तदा विचित्र सामर्थ्यं, योगिनो भवति ध्रुवम् ।।

अर्थात्—तालु के ऊपर के भाग में सहस्रार कमल कहा गया है। सहस्रार तक शरीर की स्थिति ब्रह्माण्ड के रूप में वतलाई गई है। सहस्रार तक ब्रह्माण्ड का वर्णन किया गया है। उससे आगे व्यापकत्वेन परमात्मा की स्थिति है। जहाँ पर यह स्थान है उसी को महाकैलाश के रूप में माना गया है।

वहाँ क्षणवृद्धि विवर्जित सदा एकरस शुद्ध चेतन भगवान् सदाशिव की स्थिति है। इस स्थान का ज्ञान हो जाने पर योगी जन्म-मरण से छूट जाता है तथा स्वयं भगवान् सदाशिव के रूप में लय होकर सृजन एवं संहार की शक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसी स्थान में परम हंस तत्व प्रकाशित होता है। योगी इस स्थान पर ध्यान करने से जन्म-मरण के वन्धनों से मुक्त हो जाता है। अभ्यास करते-करते योगी की वृत्ति इतनी ऊँची उठ जाती है कि—जव भी वह इस महाकैलाश का चिन्तन करता है तभी वाहर की सुध-वुध को विल्कुल भुला देता है।

तस्माद् गलितपीयूषं, पिवेद्योगी निरन्तरम् ।
मृत्योर्मृत्युं विधायाशु, कुलजित्वा सरोरूहे ।।

अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ।।

यज्ज्ञात्वा प्राप्य विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते ।
तस्मिन् परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षकः ।।
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतऽखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।
ब्रह्माण्ड वाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथेदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ।।

अर्थात्–अनुभवी योगियों ने इसी सहस्रदल कमल में चन्द्रमा का निवास भी माना है। चन्द्रमण्डल से हर समय अमृत का स्राव होता रहता है जिसको पान करके योगी मृत्यु को जीत लेता है। इसी सहस्रदल में कुण्डलिनी लय होती है और कुण्डलिनी के लय होने पर चतुर्दल सृष्टि का भी वहाँ लय हो जाता है। सहस्रदल कमल का ज्ञान होने पर चित्तवृत्ति भी वहाँ लय हो जाती है एवं चित्तवृत्ति के लय हो जाने पर अखण्ड निरञ्जन परमात्मा का प्रकाश होता है। साधक को चाहिए कि–वाहर भीतर अपने आत्म स्वरूप का चिन्तन करता रहे। क्योंकि–

आद्यन्तमध्य शून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।।
एतत् ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यं दिने दिने ।
तस्य स्यात्सकलासिद्धिर्वत्सरान्नात्र संशयः ।।
क्षणार्धं निश्चलं तत्र मनो यस्य भवेद् ध्रुवम् ।
स एव योगी सद्भक्तः सर्वलोकेषु पूजितः ।।
तस्य कल्मषसङ्घातस्तत्क्षणादेव नश्यति ।
यं दृष्ट्वा न प्रवर्तन्ते, मृत्युसंसार वर्त्मनि ।।
अभ्यसेत्तं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ।
एतद् ध्यानस्य माहात्म्यं यथा वक्तुं न शक्यते ।।
यः साधयति जानाति सोऽस्माकं मतसम्मतम् ।
ध्यानादेव विजानाति विचित्र फल संभवम् ।।

अणिमादि गुणोपेतो भवत्येव न संशयः ।।

अर्थात्–आदि-अंत रहित करोडों सूर्यों के समान महान् प्रकाश एवं करोडों चन्द्रमा के समान शुभ शीतल तेज का जो लोग निश दिन ध्यान करते हैं वे लोग जल्दी ही सब प्रकार की सिद्धियों को पा जाते हैं। इस ध्यान में जिसका मन आधा क्षण भी लीन हो जाता है वह योगी सर्व लोक पूजित है एवं सब प्रकार के पाप समूह को जल्दी

से जल्दी नष्ट कर डालता है। संसार के जन्म-मरण से छूट जाता है। इस ध्यान का माहात्म्य कहा नहीं जा सकता। जो इस ध्यान को करता है वही इसके माहात्म्य को जानता है एवं जल्दी ही अणिमादिक सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है। इस राज-योग का सम्वन्ध मन से है। अभ्यासी को चाहिए कि—जल्दी घवराये नहीं प्रत्युत अपने अभ्यास को निरन्तर वढ़ाता रहे। भगवान् के उस वचन को हर साधक को याद रखना चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगोस्त्वकर्मणि॥

अर्थात्—मनुष्य को अपने कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रहना चाहिये कर्मफल के पीछे नहीं पड़ना चाहिए। जो लोग कर्त्तव्य रहित होकर कर्मफल के पीछे पड़े रहते हैं वे लोग भारी भूल करते हैं। सभी को यह लोकोक्ति याद रखनी चाहिए कि—

मनुष मजूरी देत है क्यों राखे भगवान् ?

जव मनुष्य पुरुषार्थ करता है तव ईश्वर की ओर से उसकी वरावर सहायता होती है। जो मनुष्य सुकृत मार्ग पर चलता है उसका पुण्यफल उत्तरोत्तर वढ़ता चला जाता है एवं विघ्न वाधायें नष्ट होती चली जाती हैं। अतः उपरोक्त राजयोग का माहात्म्य भगवान् सदाशिव ने जिन शब्दों में वर्णित किया वे सभी पूर्ण सत्य एवं सर्वथा माननीय हैं। कुछ समय के अभ्यास के वाद परिणाम वही दिखलाई देगा जैसा उपरोक्त श्लोकों में वर्णित है। अतः अपने मन को शुद्ध एवं शान्त वना करके ध्यान परायण वना लेना चाहिए, जिससे मनुष्य अपने परम पुरुषार्थ को पाकर कृतकृत्य हो सके।

तेईसवां परिच्छेद

शक्ति प्राप्ति के दिव्य साधन

हमारे शास्त्रों का कथन है कि :–

"नायमात्मा वलहीनेन लभ्यो"

अर्थात्–वलहीन मनुष्य को आत्मपद की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षाकाल में अनेक प्रकार के कीट पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जव से जन्म ग्रहण करता है तव से उसके मन में शक्ति प्राप्ति की धुन सवार रहती है किन्तु "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के नियमानुसार साधन में प्रवृत्त मनुष्य अपनी मति के अनुसार होता है। इसलिये वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका वह आह्लाद बहुत थोड़े समय के लिए होता है। जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं तपी हुई वालुका में डाल दिया जाय तो वह इस वालुका की गर्मी को पाकर तड़प जाया करती है और यदि उसको कोई छोटा सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसको पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु वह शान्ति भी उसके लिए अस्थाई है जब तक वह मछली अपने घर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जायगी तव तक उसका तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्मा का सनातन अंश है जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पा करके इसको शान्ति किस प्रकार से उपलब्ध हो सकती है और जिसको शान्ति ही नहीं मिली उसको सुख कहाँ से आयेगा ? इसलिये योगियों ने अपने तप के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपाथों का अन्वेषण किया जिनको करते हुए वह कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होगा। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन की ज्योतियों की भी महाज्योति कहा गया है और वेद मंत्रों में उसके शिव संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गयी है।

जज्जाग्रतो दूरमुपैति देवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥

हमारा मन जो जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है और सोता हुआ भी इसी प्रकार क्रियाशील बना रहता है, उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे

उत्थान का कारण वने, हमारे पूर्वजों का कथन है :–

मन एव मनुष्याणाम् कारणं वन्धमोक्षयोः ।

अर्थात्–वन्धन और मुक्ति का कारण मन है । इसलिये सर्वप्रथम मन की वागडोर को सम्भालकर शक्ति संचय करने के लिये उसका संयम में ले आना वहुत ही आवश्यक है । भगवान पतंजलिदेव ने 'योगदर्शन' में अष्टांग योग का वर्णन किया, वह सारे के सारे अंग यद्यपि मन पर कण्ट्रोल करने के लिए अचूक साधन हैं । किन्तु फिर भी सव प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनो-निग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया गया है । जव तक मन किसी धारणा के द्वारा अन्तर्मुख नहीं होता तव तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता । किसी महावृक्ष को छेदन करने के लिये पहले इस प्रकार के शस्त्र की जरूरत है जो तेज वाला है और उसे काट सके । इसलिये परम श्रेय लाभ करने के लिये और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संग्रहीत करने के लिए प्रथम मन को संयमित वना लेना वहुत आवश्यक है । उसकी पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है ।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य वाह्य जगत में प्रवेश करने की योग्यता को धारण करता है । धारणा क्या है ? इसके विषय में भगवान पतंजलिदेव अपने सूत्र में निर्देश इस प्रकार करते हैं :–

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा ।

अर्थात्–किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करना धारणा कहलाती है । यह धारणा ही योग का सर्वप्रथम सोपान है । यहाँ से ही मनुष्य का सर्वाथिक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है । धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं किन्तु योगदर्शन पर भाष्य लिखते हुए धारणा स्थान निम्नलिखित वतलाये हैं :–

नाभिचक्रे, हृदय, पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाऽग्रे, जिह्वाग्र, इत्येवमादिषु देशेषु वाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण वन्ध इति धारणा ।

अर्थात्–नाभिचक्र, हृदय, कमल, मूर्धा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि स्थानों पर चित्त को वृत्ति मात्र से एकाग्र करना धारणा कहलाती है । वृत्तिमात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इनको अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करे । जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उसकी भावना किया करता है । देखे सुने हुए विषय को मन की भावना रूप में चिन्तन करना

ही वृत्तिवन्ध है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे—हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ की एवं कल्पना से उनके उस स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगे। यही हृदय कमल की धारणा है। वार-वार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय-कमल में चिन्तन करना यह हृतपुण्डरीक में होने वाली धारणा है। इसी प्रकार से मूर्धा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी ही परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान पतंजलिदेव का आदेश है :–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थात्–किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक दो दिन करके ही उसके परिणाम पर हावी हो जायें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए। इस नियम में कोई विघ्न नहीं आये आज कर लिया कल छूट गया, फिर दो-चार रोज किया फिर कुछ समय के लिए छूट गया। इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतर स्तर पर नहीं ले जा सकता। उसके साथ-साथ एक वात और परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण-रूपेण हो। हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। वैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार "अकरणात् करणं श्रेयः" न करने से कुछ करना ही अच्छा है। इस वात को विचार में रखते हुए जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए वहुत ही आवश्यक है। इसलिए धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम से कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक यदि मन्दाधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन में कहा है :–

धारणासु योग्यता मनसः।

अर्थात्–धारणा करने पर मन की योग्यता वढ़ती है। मन में वल का विकास होता है और वह सब कुछ करने की ताकत वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल ३–३ घण्टे अपने ध्येय विषय की धारणा करके उसको वृत्ति-वृन्द से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा अनवरत अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रकट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में बंधकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में वदल जाया करता है।

ध्यान

भगवान पतंजलिदेव ने ध्यान की परिभाषा वतलाते हुए आपने योगदर्शन में यह सूत्र कहा है :–

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्

अर्थात्–उस ध्येय विषय में चित्त का सदृश प्रवाह अर्थात् लगातार लगे रहना किसी और विषय का चिन्तन विल्कुल नहीं आना ही ध्यान कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव लिखते हैं :–

तस्मिन् देशे ध्येयावलम्वनस्य प्रत्ययस्यैकतानता,
सदृश प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणा परामृष्टो ध्यानम्।

अर्थात्–ध्येयालम्वनीभूत विषय का अनवरत चिन्तन, जिसमें दूसरे चिन्तन का स्थान भी न हो एवं वृत्तितल धारा के मानिन्द एक स्तर की चले, उसी का नाम ध्यान कहलाता है। ध्यान उस विषय का नाम है जिसमें चित्त के अन्दर एकाग्रता परिणाम का पूर्ण उदय हो जाता है। अभी तक हमारा चित्त सर्वार्थिक था। अर्थात् उसको इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को दिखलाती थी और उनमें ही बँटा हुआ रहा करता था। कर्णेन्द्रियों ने किसी मधुर आवाज को ग्रहण किया तो चित्त चट उसकी ओर ही भाग गया। रसनेन्द्रिय ने किसी प्रकार के रस का आस्वादन किया तो चित्त उसमें ही भटक गया। नेत्रेन्द्रिय ने किसी रूप को दिखाया, मन रूप दर्शन में लग गया त्वगेन्द्रिय ने स्पर्श ज्ञान की ओर मन को खींचा वह उसी की ओर लग गया। घ्राणेन्द्रिय ने किसी प्रकार की सुगन्ध को ग्रहण किया तो मन उसको ही ग्रहण करने में लग गया, इस प्रकार से हमारा मन भटकता रहता है और वह सर्वार्थिक रहता है किन्तु

जव योगी ने मन को इकट्ठा करके धारणा की ओर लगा करके वृत्ति वृन्द के द्वारा एक विषयक वनाने की चेष्टा की तो उसके अन्दर कुछ एकाग्रता के धर्म पैदा होने लगे और इस धारणा के अनवरत अभ्यास करते रहने पर ज्यों-ज्यों मन की अपनी ताकत वढ़ी त्यों-त्यों उसके अन्दर एकाग्रता परिणाम आ गया और वही सर्वार्थिक मन ध्यान के रूप में वदल गया। यहाँ से ही योगी की अन्तर्मुखी वृत्ति का आरम्भ हो जाता है। और वह मोक्ष मार्ग की ओर वढ़ने लगता है। कठोपनिषद में नचिकेता को उपदेश देते हुए भगवान यमराज ने यह स्पष्ट कहा है कि मनुष्य अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही परमश्रेय लाभ कर सकता है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदावृतचक्षुर मृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात्–परमात्मा ने सारी इन्द्रियों को वाहर की ओर देखने वाला वनाया है। इसलिये वह परान्तपश्यन का काम करती है किन्तु संसार में कोई-कोई धीर पुरुष इस प्रकार के होते हैं जो अपने वाहर के इन्द्रिय व्यापार को वन्द करके उस प्रत्यगात्मा को देख पाते हैं। उस नित्य चेतन धन परम प्रभु को जानने के लिये वहुत आवश्यक है कि हम ध्यान योग के अभ्यासी वन जायें। हमें शास्त्र स्पष्ट आज्ञा देता है :–

नचक्षुषा गृह्यते नापि वाचा–नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणावा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यन्ते निष्कलं ध्यायमानः॥

अर्थात्–वह सच्चिदानन्दघन न चक्षुओं से देखा जा सकता है न दूसरी इन्द्रिय उसे प्राप्त कर सकती हैं। केवल मात्र ज्ञानानुभूति से ही निरन्तर ध्यान करते हुए मुनि लोग इसके तत्व को जान सकते हैं। अतः ध्यान योग के द्वारा ही योगी अन्तर-मुखता को प्राप्त होकर अपने ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं और यहाँ आकर उनका मनोवल और भी अधिक विकसित हो जाता है हमारे पूर्वाचार्यों का कथन है कि :–

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं वहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

अर्थात्–पाप का फैला हुआ पहाड़ भी हो तो वह ध्यान योग के द्वारा नष्ट हो जाता है उसके नष्ट करने का और कोई उपाय नहीं है। इसका कारण केवलमात्र यह है, ध्यान मन में पूर्ण सतोगुण उदय होने पर ही स्थिर रह पाता है। जब तक मन के अन्दर रज और तम की वृत्तियाँ दिन-दिन क्षीणता को प्राप्त होने लगती हैं और उत्तरोत्तर ज्ञान और तेज का विकास होने लगता है। इसलिये ऐसा मन विवेक

ख्याति की ओर वढ़ता चला जाता है और उसके पाप इस प्रकार से नष्ट हो जाया करते हैं जिस प्रकार सूर्य उदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है। अस्तु, क्योंकि मन ध्यान में अन्तरमुखी होता है वह बाह्य जगत से नाता तोड़कर अन्तरात्म में होने वाले विविध प्रकार के सत्व तेज प्रधान दृश्यों को देखता है और ज्यों-ज्यों अन्तर जगत के दृश्य उसके सामने आते हैं, त्यों-त्यों उसका बाह्य जगत से एक प्रकार का नाता टूट सा जाता है और पूर्ण वैराग्य का उदय स्वयं ही होने लगता है। यह तभी सम्भव होगा यदि कोई तत्ववेत्ता गुरुदेव नियन्त्रक हों जो अपने शिष्य को वाह्य-जगत् से हठात् रोक कर के अन्तरमुखी वृत्ति के द्वारा विवेक ख्याति की ओर खींच ले जायें। यहाँ पर उसी नियम को याद रखना चाहिए जो धारणा के वर्णन में पहले बतलाया जा चुका है। यद्यपि धारणा से वढ़ी हुई योग्यता के अनुसार मन ध्यान-परायण हो गया, किन्तु फिर भी यदि यह अपनी इस अमूल्य निधि को सम्भाल कर न रख सका तो सम्भव है कि वाहर के वासनामय दृश्यों की ओर मन लगा देने पर खो बैठे। यदि अपने इस धन को साधक लापरवाही से खो देता है तो उसका अभ्युत्थान वहुत ही कठिन हो जाता है। क्योंकि हमारे शास्त्र का कथन है :-

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एतद्विदुर मृतास्ते भवन्ति॥

अर्थात्-उस प्रत्यगात्मा को आँखों से नहीं देखा जा सकता। हृदय में मनन करने से मनन करने वाली वृत्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और जो पा लेता है वह अमर हो जाया करता है जो इसको पाने की इच्छा करता है वह तीव्रतम तपश्चर्या करे। पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। इस लोक में होने वाले और परलोक में होने वाले सभी प्रकार के भोगों का त्याग करे तभी आगे वढ़ सकता है। जो लोग किसी विशेष अन्य प्रारब्ध के वल से गुरुदेव की अनुकम्पा को पाकर के इस ध्यान निधि को पा लेता है वह अपनी इस कमाई को कायम रखने के लिये पूर्णतम का आचरण करे, किसी प्रकार का अहंकार न करे, क्रोध और राग द्वेश आदि को त्याग दे, तभी यह ध्यान की सम्पत्ति मन में कायम रहेगी और उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती रहेगी ज्यों-ज्यों योगी ध्यान का अभ्यास करेगा त्यों-त्यों उसके स्वभाव से ही संकल्प सत्य होने लगेंगे। इस प्रकार से वह अपने संकल्पों में सत्य को अनुभव करेगा। ऐसे ध्यान योगी के विषय में योगाचार्यों ने कहा है :-

यम् यम् चिन्तयन्ते कामं, तम् तम् प्राप्नोति निश्चितम्।

अर्थात्–जिन-जिन कामनाओं की वह चिन्ता करता है वह उसको कुदरती ही प्राप्त होने लगती है। ध्यान योग को भी भगवान पतंजलिदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि कहा है। सम्प्रज्ञात शब्द का अर्थ है जिसमें कुछ भी अनुभव होते रहें। सम्प्रज्ञात योग का अभ्यासी योगी, अतल, विहल, तलातल, रसातल, पाताल और भूभुवः श्वः महः जनः, तपः सत्यम् आदि ऊपर के लोकों का पूर्णरूपेण साक्षात्कार कर लेता है। ज्यों-ज्यों ध्यान योग के अभ्यास से साधक की आत्मा निर्मल होती चली जाती है, त्यों-त्यों उसका विवेक ज्ञान निर्मल होता रहता है। योगदर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने अपने मुखारविन्द से यही भाव स्पष्ट रूप से कहे भी हैं।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः।

अर्थात्–योगांगों का अनुष्ठान करने से जब तक पूर्ण विवेक ज्ञान नहीं प्राप्त होता तब तक उत्तरोत्तर ज्ञान दीप्ति होती रहती है ज्योंही योगी का सत्व इतना निर्मल हो जाता है कि वह रज व तम को बिल्कुल दबा सा देता है तो इसको स्वतः ही सत्य संकल्पता प्राप्त हो जाती है। वह जो-जो संकल्प करता है वह सभी अनायास ही सफल होने लगते हैं। यहाँ पहुँचकर ही मनुष्य को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। योगदर्शन में बतलाया है :–

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं। तस्मिन समाहित चित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति, अन्वर्था च सा सत्यमेव विभर्ति, न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति।

अर्थात्–इस सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के समाहित होने पर स्वतः ही ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट हो जाती है और "ऋतः सत्यमेव विभर्ति" वह ऋत अर्थात् सत्य को ही धारण करती है। यहाँ पर मिथ्या ज्ञान का लवलेश भी नहीं रहता। वह ऋतम्भरा प्रज्ञा सुतान-मान संस्कारों में और ही प्रकार की होती है क्योंकि वह विशेषार्थ को धारण करती है। इस प्रज्ञा के प्राप्त हो जाने पर योगी सत्य संकल्प हो जाता है। अर्थात् अभ्यास करने पर और श्री गुरुदेव की अनुकम्पा प्राप्त करके ज्यों-ज्यों योगी का ध्यान योग के अभ्यास में अविच्छिन्न गति से बराबर चलने लगता है, त्यों-त्यों ही उसके मन में समाधि के धर्म प्रगट होने लगते हैं।

समाधि

ध्यान और समाधि में अन्तर केवल मात्र इतना ही है कि ध्यान में योगी त्रिक ज्ञान की स्थिति के अनुसार अपने आपको ध्येय से अलग देखता है और ध्येय को

प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, किन्तु इसका प्रयत्न बेकार नहीं होता। मनुष्य को घबराना नहीं चाहिए पहले इस नियम को सामने रखना चाहिए।

स तु दीर्घ कालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़ भूमिः ॥

अर्थात्–लम्बे समय तक लगातार और आदरपूर्वक किया हुआ ही अभ्यास फल का दाता होता है। इसलिये योगी धैर्यपूर्वक ज्यों-ज्यों अपने ध्यानाभ्यास को बढ़ाता है तभी वह समाधि का अधिकारी बनता है और उसका मन त्रिक ज्ञान को छोड़कर ध्येयाकार में परिवर्तित होने लगता है। ध्यानावस्था में साधक ध्याता था और अपने इष्टदेव का ध्यान करता था। उस अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय–ये तीनों वस्तुएं अलग-अलग भाषित हो रही थीं, किन्तु समाधि प्राप्त होने पर भगवान पतंजलि-देव बतलाते हैं कि :–

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः।

अर्थात्–जिसमें अर्थमात्र ही निर्भासित होता रहे और अपना स्वरूप भी समाप्त प्रायः हो जाय। साधक की अपनी वृत्ति तदाकार वृत्ति होकर ध्येयाकार में पूर्णरूपेण परिपक्व हो जाय, उसी स्थिति का नाम समाधि है। उपनिषद हमें बतलाते हैं।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनः।

अर्थात्–जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहते हैं, जिसमें मैं ईश्वर से भिन्न हूँ ऐसी वृत्ति समाप्त होकर, मैं स्वयं वही हूं ऐसी वृत्ति ही कायम रहने लगे और योगी अपने आपको प्राणी मात्र के अन्तःकरण के अन्दर देखने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसकी समाधि की योग्यता है। भगवान जगदात्मा श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने मुखारविन्द से श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय छः में कहा है :–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र सम दर्शनः ॥

अर्थात्–प्राणीमात्र में अपने आपको और प्राणी मात्र को अपने अन्दर केवल मात्र युक्त योगी ही देखता है अन्य नहीं। यह स्थिति योगी को समाधि में ही उपलब्ध हो पाती है। जिस योगी का मन समाधिवान बन जाता है और उसकी समाधि यथार्थ रूप को धारण कर लेती है तो स्वतः ही संयम होने लगता है। संयम की परिभाषा भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार दी है :–

संयम

त्रयमेकत्र संयमः ।

इस सूत्र पर भगवान व्यास देव जी भाष्य लिखते हैं :–

एक विषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्चते तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति ।

अर्थात्–धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक विषयक होती रहे, तो ही मनुष्य संयम को प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय है कि साधक जिस समय धारणा का अभ्यास करे, वह धारणा केवल एक ध्येय का ही अवलम्वन करने वाली हो किसी भी प्रकार से प्रत्यान्तर प्रगट न हो। धारणा काल में जिस ध्येय का चिन्तन किया जाय उस चिन्तन स्थिति में कोई दूसरा ध्येय कल्पना से भी सामने न आये और इसी प्रकार से ध्यान काल में वृत्ति एकाग्र होने पर किसी भी प्रकार से चित्त किसी दूसरे ज्ञान को विल्कुल प्राप्त न हो और वही धारणा काल में चिन्तन किया हुआ ध्येय उसके सम्मुख प्रगट हो जाय तो समझ लेना चाहिए कि उसने ध्यान की भूमिका पर विजय प्राप्त कर ली है, किन्तु इतना हो जाने के वाद योगी को प्रमादान्वित न होना चाहिये जिस से कि वह अपने मन में समझ बैठे कि मैंने पूर्णता को पा लिया है। आगे कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं है। ऐसी भावना बन जाने पर योगी को अन्तराय घेर लेंगे और वह समाधि तक नहीं पहुँच पायेगा। जब इस प्रकार के आलस्य व प्रमाद से वचकर योगी अपने ध्येय का ही आलम्वन लेकर आगे वढ़ने का प्रयत्न करेगा तो उसके ध्यान को कोई दूसरा ज्ञानस्पर्श नहीं करेगा और शनैः शनैः उसका मन समाधि रूप में परिवर्तित हो जायेगा। समाधि हो जाने पर भी योगी की वृत्ति किसी और विषय में तदाकार न हो तव वह समाधि पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त कर लेगा और उसको संयम सिद्ध हो जायगा। संयम सिद्ध हो जाने के पश्चात उस संयमित मन को योगी जहाँ-जहाँ लगायेगा वहाँ-वहाँ की शक्तियों को अवश्य प्राप्त कर लेगा। इसी सिद्धान्त को लेकर समाधि पर विजय प्राप्त करने वाला योगी सिद्ध-शक्तियों का भण्डार बन जाता है। वह जिस प्रकार की जिस ताकत को प्राप्त करना चाहता है उसको वह ताकत बरावर उपलब्ध होती चली जाती है और ज्यों-ज्यों वह योगी संयम को प्राप्त करता है त्यों-त्यों उसके सामने समाधि प्रज्ञा स्पष्ट रूप से प्रगट होती चली जाती है।

चौबीसवां परिच्छेद

वीतराग पुरुषों का ध्यान एवं उसका फल

योगदर्शन के समाधिपाद में समाधि प्राप्त करने के लिए भगवान् पतंजलिदेव ने विभिन्न उपायों का वर्णन किया है। जैसे:—

(१) प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य।
(२) विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्पन्ना मनसः स्थिति निवन्धिनी।
(३) विशोका वा ज्योतिष्मती मनसः स्थितिनिवन्धिनी।
(४) वीतराग विषयं वा चित्तम्।
(५) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्वनं वा।
(६) यथाभिमतध्यानाद्वा। आदि-आदि।

इन सभी सूत्रों में चंचल मन को ध्येय की ओर वढ़ाने के उपायों का वर्णन किया गया है। इन सवमें से "वीतरागविषयं वा चित्तम्" यह सूत्र अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इस सूत्र पर श्री व्यास जी के भाष्य की पंक्ति इस प्रकार है:—

वीतरागचित्तालम्वनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

अर्थात—रागरहित चित्त का अवलम्व करने से योगी का चित्त समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इसी सूत्र पर महाराजा भोज की सम्मति पढ़िये:—

वीतरागः परित्यक्तविषयाभिलाषः तस्य यच्चित्तं परिहृतक्लेशं तदालम्वनी कृतं चेतसः स्थितिहेतुर्भवति।

अर्थात्—रागरहित चित्त जिसने वासनिक अभिलाषा को त्याग दिया है और जो चित्त सव प्रकार के क्लेशों को हटाये हुए है ऐसे पुरुष के चित्त का अवलम्व लेने से योगी का चित्त समाधि को प्राप्त होता है।

वीतराग कौन ?

जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के ५३वें श्लोक में अर्जुन को इस प्रकार का आदेश दिया है:—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते, यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।

अर्थात्—श्रुति के अधिकार से आगे जब तुम्हारी निश्चला बुद्धि समाधि को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेगी तब तुम योग को प्राप्त होगे। भगवान् के इस आदेश को पाकर अर्जुन के मन में शंका पैदा हो गई। उसने अचल बुद्धि के ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जगदात्मा अखिलेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी से स्थितपुरुष की परिभाषा जानने हेतु निम्नांकित प्रश्न कर दिया :—

स्थितिप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितिधीः किम् प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्॥

अर्जुन ने प्रश्न किया कि—हे केशव! स्थित प्रज्ञ का क्या लक्षण है और समाधिस्थ किसको कहते हैं! स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? भगवान् श्रीकृष्ण ने निम्नांकित श्लोकों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण बतलाये हैं :—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितिधीर्मुनिरूच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

अर्थात्—जो पुरुष अपनी मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ देता है एवं अपनी आत्मा में अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है (स्वरूप प्रतिष्ठ रहता है) वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जिसका मन दुःखों में दुःखी नहीं होता और सुखों में जिसकी कोई स्पृहा नहीं होती जो राग, भय और क्रोध से रहित होता है ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेह रहित सभी शुभ और अशुभ को प्राप्त करके न खुश होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित समझनी चाहिए।

जो व्यक्ति इन्द्रियों को इन्द्रियार्थों से इस प्रकार हटाये रहता है जिस प्रकार कछुआ अपने सभी अंगों को अपने शरीर के अन्दर सिकोड़े रहता है वह व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहलाता है। किन्तु—

यत्तो ह्यापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न करते हैं यत्न करते रहने पर भी इन्द्रियाँ इतनी सवल हैं कि–वह मसल डालती हैं एवं विद्वान पुरुष के मन को भी वलात् हरण कर लेती हैं। उन सब इन्द्रियों को वश में लाकर जो व्यक्ति मेरे में परायण अर्थात् आत्मध्यानरत रहते हैं उनकी बुद्धि विल्कुल प्रतिष्ठित है। ऐसे ही लोग वीतराग कहलाते हैं।

रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

जो लोग राग-द्वेष से रहित होकर आत्मवशी होते हुए केवल इन्द्रियों से इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं वे प्रभु के परम प्रसाद को पा जाते हैं। ऐसे परम प्रसाद को प्राप्त कर लेने पर वे लोग सभी प्रकार के दुःख द्वन्द से छूट जाते हैं और उनकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। ऐसे लोग स्थिरमति कहलाते हैं। यह है जगदात्मा श्रीकृष्ण के शब्दों में वीतराग पुरुषों की स्थिति। सीधे सरल शब्दों में वीतराग पुरुष वही कहला सकता है, जो सब प्रकार के रागों से निकल गया है।

वीतराग पुरुषों के ध्यान की विधि

वीतराग पुरुषों की आकृति का दृढ़तापूर्वक चिन्तन करते रहना ही उनका ध्यान है। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार एवं कृष्णद्वैपायनादि महापुरुषों के उदाहरण वीतराग पुरुषों के लिए दिये गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि–कृष्ण-द्वैपायन या सनक, सनन्दन ही वीतराग पुरुष थे। इसके अतिरिक्त कोई वीतराग है ही नहीं। ऐसी वात नहीं। संसार में असंख्य वीतराग पुरुष हैं। संसार में जो व्यक्ति गुणाधिकार को भली विधि समझकर निस्त्रैगुण्य स्थिति अर्थात् जड़-चेतन की गाँठ टूट जाने पर बुद्धिबोध को छोड़ करके स्वरूप स्थिति में आ जाते हैं वे सभी व्यक्ति वीत-राग पुरुष हैं। क्योंकि जव तक मनुष्य बुद्धि बोध का ज्ञाता है एवं त्रिगुण जनित सुख-दुःख का अनुभव करता है तव तक वह व्यक्ति वीतराग नहीं कहला सकता। यह हो सकता है कि–उसके अन्दर वड़ी-वड़ी शक्तियों का उदय हो गया हो, वह यशस्वी हो,

संसार में वहुत अधिक मान-सम्मान प्राप्त किया हो किन्तु वीतराग वाली वात नहीं कही जा सकती। रस-दर्शन तो परम श्रेय लाभ हो जाने के वाद ही दूर हो सकता है और जिसको रस की अनुभूति होती है वह वीतराग तो कहला ही नहीं जा सकता प्रत्युत वह सराग ही होता है, क्योंकि–उसके मन में राग की स्थिति है। वह अभी स्वरूपदर्शन को ठीक तरह प्राप्त ही नहीं हुआ। जिससे रसनिवृत्ति होती एवं राग के वन्धन से छूट जाता। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद्गीता में विल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है। पढ़िये :–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अर्थात्–एक आदमी यदि दस पाँच दिन भूखा पड़ा रहता है तो उसके मन से विषय-वासना की भावना हट सी जाती है किन्तु भूख के महान कष्ट को सहन करता हुआ भी वह विषयों में क्या सुख है इसको मन से जानता अवश्य है। इसी का नाम रस-भावना है। रस-भावना की निवृत्ति केवलमात्र स्वस्वरूप में स्थित हो जाने के वाद ही हुआ करती है। स्वस्वरूप-स्थिति हो जाने के वाद ही मनुष्य वीतराग वन पाता है। ऐसे व्यक्ति जो भी हों वे जहाँ जिस जाति में हों वे सभी वीतराग हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने स्वस्वरूप स्थिति प्राप्त करने के लिए वीतराग चित्त का आश्रय लेने का आदेश दिया है और उसका कारण केवलमात्र यह है कि जहाँ पर जिन वस्तुओं का साधर्म्य होता है वे दोनों वस्तुएँ मिल सकती हैं उनकी एकता विल्कुल हो सकती है। वैधर्म्य वाली दो वस्तु नहीं मिला करती। जल में जल मिल सकता है। दूध में दूध मिल सकता है। दूध में जल भी मिल सकता है क्योंकि–जल उसमें पहले से मौजूद है। इसलिए मन में मन, चित्त में चित्त, बुद्धि में बुद्धि एवं अहंकार में अहंकार विलय हो सकता है। एक और नियम चलता है–वह यह कि छोटी शक्ति वड़ी शक्ति में विलय हुआ करती है। जहाँ पर वृत्तियों में अतिशयता रहती है वहाँ पर पारस्परिक विरोध एवं वैषम्य रहा करता है।

(रूपातिशया वृत्यातिशयाश्च परस्परं विरूध्यंत)

जहाँ पर दो रूपवान् होते है उनमें पारस्परिक विरोधी भावना होती है। इसी प्रकार से वृत्यातिशय में होता है। इसी नियमानुसार जो व्यक्ति योग ध्यान एवं स्वस्वरूप-चिन्तन के द्वारा अपने चित्त को निर्मल करके वीतराग चित्त में लीन करना चाहेगा उसको जल्दी लयता प्राप्त हो जायेगी। क्योंकि–देहधारियों के लिए निर्गुण-चिन्तन का विषय कुछ कठिन ही रहता है। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से अर्जुन ने इस विषय का प्रश्न किया है :–

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
येचाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥

अर्थात्–हे जगदात्मा ! जो भक्तजन निरंतर आपकी उपासना करते हैं एवं जो लोग अव्यक्त अक्षर निस्त्रैगुण्य प्रणव के उपासक हैं उनमें से कौन श्रेष्ठ हैं और कौन योग को जानने वाला है ? अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर निम्नांकित श्लोकों में इस प्रकार से दिया है ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्व भूत हिते रताः ॥
क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥

जो लोग मेरे मन में मन को लगातार नित्याभियुक्त वड़ी भारी श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे लिए परम श्रेष्ठ हैं । इसके अतिरिक्त जो लोग सब प्रकार से इन्द्रिय ग्रामों को नियन्त्रण करके एवं सर्वत्र समबुद्धि हो करके सर्व व्यापक, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और ध्रुव-अनिर्देश्य अक्षय ब्रह्म की उपासना करते हैं, प्रणिमात्र के हित में रहने वाले वे लोग भी मुझे ही प्राप्त करते हैं किन्तु इतनी वात अवश्य है कि–अव्यक्तासक्त चित्त वाले उन लोगों को क्लेश अधिक होता है । क्योंकि–देहधारी प्राणियों को अव्यक्त गति का प्राप्त करना वहुत ही कठिन है । अतः निर्गुण चिन्तन की अपेक्षा सगुण चिन्तन ही देहधारियों के लिए परमात्मा प्राप्ति का सरल उपाय है और सगुण चिन्तन के विविध प्रकारों में वीतराग पुरुषों के चिन्तन में मन लगाना अधिकाधिक श्रेयस्कर है ।

हम ऊपर लिख आये हैं कि–वीतराग पुरुषों के विरक्त चित्त का अवलम्ब लेने लेने के लिए वीतराग पुरुषों का ध्यान करना ही अधिकाधिक श्रेयस्कर है । उनकी प्रख्याति प्राप्त आत्मा को मन में रखकर साधक को चाहिए कि–उस आकृति को ही

अपनी धारणा का लक्ष्य वनायें। धारणा का लक्षण भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन में इस प्रकार कहा है :—

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा ।

इसका भाष्य इस प्रकार है :—

अर्थात्—नाभि चक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण वन्ध इति धारणा ।

अर्थात्—नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र, जिह्वाग्र आदि-आदि देशों वाह्य या आभ्यन्तर प्रदेश में चित्त का इकट्ठा करना धारणा कहलाती है। इस प्रकार की धारणा यदि हृदय कमल में वीतराग पुरुषों की आकृति पर की जाय तो उनका विरक्त चित्त ही हमारे चिन्तन का लक्षीभूत विषय वन जायगा। शनैः शनैः उनका वरावर चिन्तन करते रहने से व चित्त का तैलधारावत् निरंतर जारी रहने पर वे अनुभव में आने लगेंगे और इस प्रकार का निरन्तर ध्यान करने पर वड़ी ही सरलता के साथ हमारा चित्त उनके वीतराग चित्त में लय हो जायेगा। इसका परिणाम यह निकलेगा कि—हमारे अनुरागी चित्त में भी उनके वीतराग चित्त का प्रभाव अनायास ही हो जायेगा जिसके फलस्वरूप साधक के मन में भी उसी प्रकार की शक्तियों का स्वाभाविक उदय हो जायेगा कि जो शक्तियाँ वीतराग चित्त वाले पुरुष में विद्यमान हैं। अतः शीघ्रातिशीघ्र मन की एकाग्रता चाहने वाले साधकों के लिए वीतराग पुरुषों का ध्यान करना परम लाभदायक है। जिससे वह जल्दी समाधि को प्राप्त हो जाय। इसलिए समाधि प्राप्ति के उपायों में :—

वीतराग विषयं वा चित्तम् ।

कहकर वीतराग पुरुषों के ध्यान का आदेश दिया गया जिससे संसार के अन्दर व्यस्त रहने वाले प्राणी भी सरलता के साथ समाधि को प्राप्त कर सकें और सूक्ष्म-चिन्तन विषय की कठिनता से वचते हुए सुगमता एवं सरलता से परम श्रेय के भागी वन सकें।

पच्चीसवां परिच्छेद

समाधि की परिभाषा

योगदर्शन के प्रारम्भ में समाधिपाद के सूत्र संख्या दो में भगवान पतंजलिदेव ने योग की परिभाषा का उल्लेख करते हुए कहा है :-

योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः ।

अर्थात्–चित्त वृत्ति निरोधः योगः। निरोध शब्द का अर्थ है–नितरांरोधः निरोधः चित्तवृत्तियों का किनारे तक पहुँच करके अपने स्वरूप में रुक जाना ही निरोध शब्द का शुद्धार्थ है। जब मनुष्य की चित्तवृत्तियाँ स्वकीय गुणात्मक स्वरूप में अवस्थित हो जाती हैं। और आत्मा गुणात्मिका बुद्धि के बोध को छोड़ करके अपने निजी स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तभी समझना चाहिए कि यह आत्मा का कैवली भाव है। इसी भाव को योग दर्शन के कैवल्य पाद में भगवान पतंजलिदेव ने बुद्धि साम्य कहा है।

सत्त्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति।

अर्थात्–प्रकृति और पुरुष की जब बराबर शुद्धि हो जाती है, गुणात्मिका चित्त-वृत्तियों का गुणों में अवस्थान हो जाता है और आत्मा बौध्येय धर्मों को छोड़कर पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाता है तभी वह केवली भाव को प्राप्त होता है। उसी केवली भाव को केवली मोक्ष कहा गया है। युक्त योगी का लक्षण बताते हुए जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट रूप से कहा है :–

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा, कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्टाश्म काञ्चनः ॥

अर्थात्–जिसका आत्मा, ज्ञान और विज्ञान से पूर्णरूपेण तृप्त हो गया है और विकार रहित स्थिति में पहुँच गया है तथा जिसने इन्द्रियों पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। जिसकी दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर, मिट्टी सब बराबर हैं ऐसे योगी को युक्तयोगी कहा गया है। जो योगी संयम के आधार पर विषयों को प्रत्यक्ष करके उसके सारे तत्व को समझ लेता है और प्रकृति पर विजय प्राप्त करके अपने को शुद्ध स्वरूप में स्थित कर लेता है वही युक्तयोगी कहलाया करता है। जिस समय योगी पूर्णरूपेण आत्मसाक्षात्कार के पास पहुँचता है तब उसको प्रातिभ श्रावण वेदनादर्श

आदिक सिद्धियाँ अनायास ही प्राप्त हो जाया करती हैं। आत्मसाक्षात्कार हो जाने के वाद ये सभी सिद्धियाँ हस्तामलकवत उपस्थित रहा करती हैं। जिसमें जाकर योगी को दूरदर्शन, दूर-श्रवण आदि स्वाभाविक बोध होता है।

आजकल के समाज में योग के प्रचारकों का वहुत वड़ा अभाव हो गया है। मुझे कई एक अखिल भारतीय योग सम्मेलनों में भाग लेने का अवसर मिला है। कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली में आयोजित 'वैज्ञानिक विश्व योग सम्मेलन' में भी मैंने भाग लिया। वक्ताओं के भाषण भी सुने किन्तु खेद और आश्चर्य की वात यह थी कि हमारे अपने समुदाय के अतिरिक्त दूसरे वक्ताओं ने योग-समाधियाँ, यौगिक परिभाषायें या प्राचीन योग-विज्ञान का नाम भी भली प्रकार अपने प्रवचनों में नहीं आने दिया। मुझे दिल्ली में होने वाले एक अन्य अखिल भारतीय योग-सम्मेलन के एक अत्युच्च कोटि के एवं योग-सम्मेलन के सम्मानित सभापति के भाषण की याद आ रही है। सभापति महोदय महामहिम महामण्डलेश्वर योग वेदान्त, न्याय आदि षट् दर्शनों के आचार्य थे। उनकी विद्वत्ता में किसी प्रकार की कमी नहीं थी, किन्तु इतना होने पर भी योग-सम्मेलन के मंच के सभापति होने के नाते उन्होंने लाखों जिज्ञासुओं की भारी भीड़ में योगियों की समाधि का मजाक उड़ाया और वतलाया कि समाधि एक वाजीगर का खेल है। उन्होंने भरी सभा में एक कहानी सुनाई जो इस प्रकार की थी, जिस प्रकार की कहानियाँ गीदड़, कुत्तों के नाम से मनोरंजनार्थ वालक स्वयं दूसरे वालकों को सुनाया करते हैं। श्री महामण्डलेश्वर जी ने अपने व्याख्यान में वह कहानी वताते हुए कहा—एक वार एक तमाशा दिखाने वाला वाजीगर राजा के राजभवन में जाकर तमाशा दिखाने की प्रार्थना करने लगा। राजा ने उससे कहा—भाई हम तमाशा देखना चाहते हैं किन्तु साधारण तमाशे से हमारे मन की तृप्ति नहीं हो सकती। हमारी अभिलाषा है कि यदि तुम तमाशा दिखला सकते हो तो हमें योगियों की समाधि का तमाशा दिखलाओ, ताकि हम जान सकें कि योगियों का समाधि-विज्ञान क्या है और उससे दुनिया को क्या लाभ हो सकता है? वाजीगर ने राजा से विनम्र निवेदन करके समाधि का तमाशा दिखाने के लिए छः महीने का अवकाश प्राप्त किया और उस छः महीने की अवधि में कहीं जाकर उसने समाधि लगाने का अभ्यास आरम्भ कर दिया। छः महीने में उसकी समाधि का अभ्यास अच्छा वन गया था। इस अभ्यास के वाद वह अपने वायदे के अनुसार राजा के पास पहुँचा और जाकर प्रार्थना की कि हे राजन्! अव मैं योगियों की समाधि का तमाशा दिखा सकता हूँ। अगर आप आज्ञा दें तो मैं अभी इसी समय दिखला दूँगा। राजा ने उसको 'समाधि का तमाशा' दिखलाने की आज्ञा प्रदान कर दी। वाजीगर ने अपनी अभ्यस्त विद्या के अनुसार समाधि का प्रदर्शन करने के लिए अपने प्राणकोश को ब्रह्माण्ड में चढ़ा लिया। इसके फलस्वरूप वह वर्षों

तक समाधि में बैठा रहा उसकी समाधि इतनी लम्बी थी कि इस बीच में वह राजा काल की गोद में चला गया। उसके बच्चे और उसके पौत्र आदि कई पीढ़ियों तक के लोग यमराज के अतिथि वन चुके थे। जब वह बाजीगर समाधि से उठा तो उसने देखा–न वह महल है, न वह राजा है न मन्त्री है न और कोई इष्ट मित्र उस समय के वहाँ दिखलाई दे रहे हैं फिर भी समाधि से उठकर वह राज भवन में पहुँचा और हाथ जोड़कर उसने कहा–महाराजा ! मैंने समाधि का तमाशा दिखा दिया, अब मुझे इस समाधि के खेल का इनाम मिलना चाहिए, किन्तु जिस राजा के सामने समाधि का तमाशा दिखाने की प्रतिज्ञा की थी अब वह राजा ही नहीं था जिससे वह इनाम प्राप्त करता। इतनी कहानी सुनाकर योग सम्मेलन के सभापति महामंडलेश्वर ने भाषण देते हुए कहा यही योगियों की समाधि है, जिसके लगाने से सर्वसाधारण को कोई लाभ नहीं हो सकता। महामण्डलेश्वर के मुख से इस कहानी को सुनकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। योग सम्मेलन का महत्वपूर्ण मंच और उसमें भी सभा के सभापति महामहिम मण्डलेश्वर ने स्वयं अपने मुख से निराधार कहानी सुनाकर योगियों की समाधि का मजाक उड़ाया। इस घटना का स्मरण करके ही मेरे मन में यह विचार बना कि मैं समाधि की परिभाषा और विभिन्न स्थितियों में होने वाले उनके नाम और लक्षणों का वर्णन करके इस लेख में समाधि की परिभाषा समझाऊं जिससे हर व्यक्ति जान सके कि योगियों की समाधि कितनी महत्वशाली होती है और समाधि विज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले मनुष्य की कितनी ऊंची स्थिति हुआ करती है। भगवान पतंजलिदेव जी ने योग की परिभाषा देते हुए लिखा है :–

योगश्चित वृत्ति निरोधः ।

अर्थात्–चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं और निरोध नाम ही समाधि का है। उपनिषदों में समाधि की परिभाषा वताते हुए हमारे आचार्यों ने–

"समाधिः समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः"

कहकर जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान को समाधि वतलाया है। भगवान पतंजलिदेव जी ने योग को समाधि की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नाम से दो प्रकार का माना है। सम्प्रज्ञात समाधि वह कहलाती है जिसमें विपर्यय मिथ्याज्ञान आदि को छोड़कर सत्य-सत्य ज्ञान हो जाय। भगवान पतंजलिदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण वताते हुए अपने योगदर्शन में यह सूत्र लिखा है :–

वितर्क विचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः ॥

इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी भाष्य इस प्रकार करते हैं :–

वितर्कः चित्तस्यालम्वने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मोविचारः। आनन्द ह्लादः। एकात्मिका संविद् अस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः स वितर्कः, द्वितीयो वितर्क विकलः स विचारः। तृतीयो विचार विकलः सानन्दः। चतुर्थं स्तद्विकलोऽस्मितामात्र इति। सर्वं एते सालम्वनाः समाधयः ॥

अर्थात्–सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कानुगत विचारानुगत आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेदों से चार प्रकार की है। असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण और है इसको हम आगे वतलायेंगे। सम्प्रज्ञात समाधि में योगी प्रकृति पर पूर्णरूपेण विजय प्राप्त करता है और इसके निरन्तर अभ्यास के वाद वह आत्मसाक्षात्कार रूप असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त करता है। सम्प्रज्ञात समाधि के जितने भेद हैं वे सव के सव सावलम्व हैं। असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त करता हुआ मनुष्य निरावलम्वता को पा जाता है। सम्प्रज्ञात योग में मनुष्य किन-किन विषयों का किस-किस प्रकार साक्षात्कार करता है इन सव वातों को निम्नांकित पंक्तियों में समझ लीजिए।

सम्प्रज्ञात योग की पहली समाधि का नाम वितर्कानुगत योग है।

वितर्कानुगत समाधिः।

भगवान व्यासदेव जी कहते हैं :–

वितर्कः चित्तस्यालम्वने स्थूल आभोगः ॥

अर्थात्–योगी अपनी धारणा के वल से अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा जव चिन्तन आरम्भ करता है तो उसको वितर्कानुगत समाधि का विद्यार्थी ही वनना पड़ता है। एक वात और ध्यान में रख लेनी चाहिए। कठोपनिषद में यमराज ने नचिकेता को जहाँ ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया है वहाँ स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया है :–

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू,
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

अर्थात्–परमात्मा ने हमारी इन्द्रियों को वाहर की ओर देखने वाला वनाया है अतः ये वाहरी दृश्यों को ही देखा करती हैं। किन्तु :–

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मातमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन ॥

कोई धीर पुरुष ही उस प्रत्यगात्मा को देख पाता है जो आवृत्त चक्षु हो गया है। अर्थात्–जिसने वाहर की आँखों को वन्द करके आत्म-प्रकाश को धारण करने वाली

दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर लिया है वही इस आत्मिक जगत में प्रवेश किया करता है। भगवान व्यासदेव जी आज्ञा देते हैं कि :—

वितर्कः चित्तस्यालम्वने स्थूलाभोगः।

अर्थात्—वितर्क चित्त को ठहराने के लिए स्थूल विषय को कहते हैं। इस स्थूल विषय का अवलोकन अपनी आँखें खोलकर करता रहे यह इसका अर्थ नहीं। प्रत्युत आँखें वन्द कर लेने के वाद अपनी भावनामय दृष्टि से स्थूल विषयों का प्रत्यक्ष करे। जिस प्रकार निशाना लगाने वाला निशानची पहले किसी अपने स्थूल लक्ष्य में निशाना लगाता है और उसके वाद उससे सूक्ष्म का और उसके वाद उससे भी सूक्ष्म में। इसी प्रकार अभ्यास करता-करता वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम निशाने को बेधने की आदत डाल लेता है और इससे भी आगे शब्दमात्र से लक्ष्य भेदन की ताकत उसके अन्दर आ जाती है। इसी प्रकार से समाधि योग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति अपनी भावनामयी दृष्टि से अपनी साधना का विषय पहले-पहल वितर्कानुगत समाधि में स्थूल आभोगः को ही बढ़ाता है। प्रकृति का साक्षात्कार करने और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए स्थूल साक्षात्कार में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह पंच महाभूतों के स्थूल रूप हैं जिनको योगी वितर्कानुगत समाधि में अपने ध्यान योग के अभ्यास से प्रत्यक्ष करेगा। इसी प्रकार से इन्द्रियों के स्थूल रूप को भी इसी वितर्कानुगत समाधि के अन्दर योगी प्रत्यक्ष कर डालेगा। जिस समय योगी किसी भी स्थूल धारणा को अपना लक्ष्य वनाकर महाभूतों के साक्षात्कार की भावना करता है, तव उसको महाभूतों का साक्षात्कार होने लगता है या यों कहना चाहिए कि वह महाभूतों की विकृति रूप पहाड़, नदी, नाले, जंगल आदि-आदि स्वरूपों का अवलोकन करता है और आन्तरिक भावना के साथ इन विषयों का प्रत्यक्ष करने के वाद इनसे भी सूक्ष्म जगत की ओर उसकी प्रवृत्ति स्वतः ही होने लगती है। अभ्यासी को यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि उसके अभ्यास में इससे आगे क्या वस्तु प्रगट होनी है। इस वात को तो वह सर्वशक्तिमान प्रभु ही जानते हैं कि साधक आगे की भूमिका का अधिकारी वन गया है या नहीं। यदि स्थूल महाभूतों का या इन्द्रियों के स्थूलरूप का योगी ने पूर्णरूपेण साक्षात्कार कर लिया है तो उसके वाद वह अपने आप ही विचारानुगत योग का विद्यार्थी वन जाता है। इस वितर्कानुगत समाधि के दो भेद और हैं जिनको भगवान पतंजलिदेव ने सवितर्का और निर्वितर्का सम्प्रज्ञात समाधि कह करके वर्णन किया है। हम सवितर्का और निर्वितर्का के भेद यहाँ वतलायें, इससे पहले समाधि का रूपक समझा देना आवश्यक है। भगवान पतंजलिदेव ने सम्प्रज्ञात समाधि क्या होती है इसको समझाने के लिए और चित्त की उस समय कैसी स्थिति होती है यह सव ज्ञान कराने के लिए समाधि की परिभाषा में एक सूत्र का उल्लेख किया है वह सूत्र इस प्रकार है:—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्ति इस प्रकार है :-

क्षीणवृत्तेरिति प्रत्यस्तमिति प्रत्ययस्येत्यर्थः । अभिजातस्येव मणेरिति दृष्टान्तोपादानं, यथा स्फटिक उपाश्रय भेदात् तत्तद्रूपोरक्त उपाश्रयरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्राह्यालम्वनोपरक्तं चित्तं ग्राह्य समापन्नं ग्राह्यरूपाकारेण निर्भासते । तथा भूतसूक्ष्मोपरक्तं भूतसूक्ष्म समापन्नं भूतसूक्ष्मस्वरूपाभासं भवति । तथा स्थूलालम्वनोपरक्तं स्थूलरूपसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति । तथा विश्वभेदोपरक्तं विश्वभेदसमापन्नं विश्वरूपाभासं भवति । तथा ग्रहणेष्वतीन्द्रियेष्वपि द्रष्टव्यम् । ग्रहणालम्वनोपरक्तं ग्रहण समापन्नं ग्रहणस्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा ग्रहीतृ पुरुषालम्वनोपरक्तं ग्रहीतृ पुरुष समापन्नं ग्रहीतृ पुरुष स्वरूपाकारेण निर्भासते । तथा मुक्तपुरुषालम्वनोपरक्तं मुक्तपुरुषसमापन्नं मुक्तपुरुषस्वरूपाकारेण निर्भासते इति । तदेवमभि जातमणि कल्पस्य चेतसो ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु पुरुषेन्द्रिय भूतेषु या तत्स्थतदञ्जनता तेषु स्थितस्य तदा कारापत्तिः सा समापत्तिरित्युच्यते ।

जिस समय योगी का चित्त स्वाध्याय तप आदि के द्वारा अत्यन्त निर्मल हो जाता है, उसके अन्दर से रज और तम के भाव विल्कुल क्षीण हो जाते हैं तव उसके चित्त का स्वरूप परम निर्मल स्फटिक मणि की तरह हो जाया करता है और वह चित्त ग्रहीता (अस्मिता) ग्रहण (इन्द्रियाँ) ग्राह्य (स्थूल सूक्ष्म आदि विषय) जिनको भी सामने करता है, उसी समय उसका चित्त उनके आकार वाला वन करके भासने लगता है, इसी का नाम तद्‌रूपता है ।

व्यास भाष्य में तदाकाराकारित को समझाने के लिए भगवान व्यासदेव ने यह विल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि ग्राह्य में लग करके ग्राह्य रूप से भाषित होता है और किसी स्थूल रूप में लगा हुआ चित्त स्थूल रूपाकारित होकर स्थूल रूपाकार से ही भाषित होने लगता है । इसी प्रकार से हम उस चित्त को जहाँ-जहाँ लगाते हैं उसके आकार में मिल करके वह तदाकाराकारित होकर उसी प्रकार भाषने लगता है । इसी का नाम –

"तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"

है । इस सूत्र को और इसके अर्थ को पढ़ करके पाठक साधकों को यह भली प्रकार से समझ में आ गया होगा कि चित्त का तदाकाराकारित होना ही सम्प्रज्ञात योग की विशेषता है । जहाँ भी चित्त पररूपता को प्राप्त होता है वहाँ ही बिल्कुल ध्येयाकार

में परिवर्तित हो जाया करता है। समाधि के सवितर्का एवं निर्वितर्का नाम से दो भेद भगवान पतंजलिदेव ने माने हैं।

सवितर्का समापत्ति क्या ?

सवितर्का समापत्ति का लक्षण भगवान पतंजलिदेव इस सूत्र में इस प्रकार लिखते हैं :–

तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णसवितर्का समापत्तिः ।

इस सूत्र पर भगवान व्यासदेव जी भाष्य करते हैं :–

तद् यथा गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानमित्यविभागेन विभक्तानामपि ग्रहणं दृष्टम् । विभज्यमानाश्चान्ये शब्द धर्माः अन्येऽर्थ धर्मा अन्ये विज्ञान धर्मा इत्येतेषां विभक्तः पन्थाः, तत्र समापन्नस्य योगिनो योगवाद्यर्थः समाधि प्रज्ञायां समारूढ़ः स चेच्छब्दार्थ ज्ञान विकल्पानुविद्ध उपावर्तते सा संकीर्ण समापत्तिः सवितर्केत्युच्यते ॥

अर्थात्–चित्र की इस तद्रूपता में शब्द अर्थ और ज्ञान तीनों एक मिले से भाषित हों उसी का नाम सवितर्का समापत्ति है। इस वात को खोलकर इस प्रकार समझ लेना चाहिए।

जैसे :– उच्चारण करने के लिए 'गाय' एक शब्द है। जो व्यक्ति गाय नामक पशु को नहीं जानता और वह गाय-गाय कहता है तो उसकी जिह्वा से ही केवलमात्र गाय शब्द निकलता है ऐसा समझना चाहिए और गाय शब्द केवल ध्वन्यात्मक है। अर्थात्–आकाश में से पैदा होने वाला एक शब्द है, शब्द को बोलने वाला वक्ता 'गाय' शब्द को अर्थ ज्ञान के विना केवलमात्र बोल रहा है। इसलिए अर्थ और ज्ञान के विना 'गाय' एक शब्द मात्र ही है। इसी प्रकार से कहीं हम जंगल में घूमते हुए किसी सींग-पूँछ सफेद रंग के दूध देने वाले पशु को देखते हैं तो अपने मन में कहा करते हैं यह जानवर वड़ा सुन्दर है। इसके सिर पर दो सींग हैं, चमड़ी पर सुन्दर छोटे-छोटे वाल हैं। चार पैरों वाला है अव देखने वाले को अर्थ और ज्ञान इन दोनों का आभास तो हो गया किन्तु इस प्रकार के पशु को किस नाम से पुकारा जाता है उसको क्या कहते हैं इसका ज्ञान कोई दूसरा व्यक्ति जो उस पशु का नाम जानता है वही करायेगा और कहेगा कि भाई पशु का नाम गाय है। जव वह इस प्रकार समझा देगा कि तुम जिस चार पैर वाले पशु को देख रहे हो जिसके दो सींग भी हैं इस पशु का नाम 'गाय' है ऐसा ज्ञान होगा। विना इस नाम के ज्ञान से वह पशु ही है जिसको नाम शब्द के विना श्रोता केवलमात्र एक चतुष्पाद पशु जानता है। शब्द और गौरव का ज्ञान

उसको समझाने से ही हुआ। इस प्रकार से शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों अलग-अलग वस्तुएं हैं इनके अलग-अलग विकल्प हैं। किन्तु अलग-अलग विकल्पों के रहते हुए भी एकत्वेन भाषित होती रहें, यह वितर्क समाधि की सवितर्का समापत्ति है। वितर्क समाधि का अर्थ है जिसमें तर्क की उत्कृष्टता है जिसमें शब्द अर्थ और ज्ञान अलग-अलग होने पर भी एकत्वेन भाषित होते रहें। वह समाधि शब्द ज्ञान और अर्थ से संकीर्णा अर्थात् मिली हुई सी सवितर्का समापत्ति कहलाती है। इसी प्रकार निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण भी भगवान पतंजलिदेव ने एक अलग सूत्र में किया है जो इस प्रकार है :—

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थमात्र निर्भासा निर्वितर्का ॥

इस सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी लिखते हैं :—

या शब्द सङ्केत श्रुतानुमान ज्ञान विकल्पस्मृति परिशुद्धौ ग्राह्यस्वरूपोपरक्ता प्रज्ञा स्वमिव प्रज्ञारूपं ग्रहणात्मकं त्यक्त्वा पदार्थ मात्र स्वरूपा ग्राह्य स्वरूपान्नेव भवति सा निर्वितर्का समापत्तिः। तथा च व्याख्यातम् :—तस्य एक बुद्धयुपक्रमो ह्यर्थात्माऽणु प्रचय विशेषात्मा गवादिर्घटादिर्वा लोकः स च संस्थान विशेषो भूतसूक्ष्माणां साधारणो धर्म आत्मभूतः फलेन व्यक्तेनानुमितः स्व व्यंजकांजनः प्रादुर्भवति। धर्मान्तरोदये च तिरो-भवति, स एष धर्मोऽवयवीत्युच्यते। योऽसावेकश्च महांश्चाणीयांश्च स्पर्शवांश्च क्रिया धर्मकश्चा नित्यश्च तेनावयविना व्यवहाराः क्रियन्ते, यस्य पुनरवस्तुकः स प्रचय-विशेषः सूक्ष्मं च कारणमनुपलभ्यमविकल्पस्य तस्यावयव्य भावाद्तद्—रूप प्रतिष्ठं मिथ्या ज्ञानमिति प्रायेण सर्वमेव प्राप्तं मिथ्या ज्ञानमिति, तदा च सम्यग् ज्ञानमपि किं स्याद्विषया भावात्। यद्यदुपलभ्यते तत्तदवयवित्वेनाघ्रातम्, तस्मादस्त्यवयवी यो महत्त्वादिव्य-व्यवहारापन्नः समापत्ते निर्वितर्काया विषयो भवति।

सवितर्का समापत्ति में योगी को शब्द, अर्थ और ज्ञान, तीनों अलग-अलग भाषित होते रहें। यथा वह 'गाय' शब्द को भी जानता था और गाय है यह ज्ञान भी उसको था। इस सवितर्का समापत्ति में शब्द, अर्थ और ज्ञान का वितर्क बरावर वना हुआ था, किन्तु निर्वितर्का समापत्ति में स्मृति के बरावर शुद्ध हो जाने के बाद चित्त अपने गृहणात्मक स्वरूप को भी भूल जाता है ओर उस ध्येयाकार में ही भाषित होने लगता है। यद्यपि इस समाधि में ही चित्त का गुणात्मक ज्ञान पूरा समाप्त तो नहीं हुआ किन्तु वह अपनी ग्रहण शक्ति को भुला करके अर्थमात्र से भाषित हो रहा है। अपने आपको विल्कुल भुला सा दिया है। इसलिए स्मृति में बरावर शुद्ध हो जाने के वाद साधक का अपना स्वरूप भी जिसमें खत्म जैसा दिखाई दे और बरावर

ध्येयाकारित भाषित होता रहे इसी को निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। इसी सवितर्का समाधि को सविकल्प और निर्विकल्प नाम से भी कहा गया है।

विचारानुगत समाधि

भगवान व्यासदेव ने सूक्ष्म विचार कह करके महाभूतों के सूक्ष्म तत्व में होने वाली समाधि का महाभूतों के सूक्ष्म तत्व एवं इन्द्रियों की अव्यक्त शक्ति के ज्ञान में जो समाधि लगाई जाती है उसको विचारानुगत समाधि वताया है।

इस विचारानुगत समाधि के भी सवितर्क और निर्वितर्क की तरह दो भेद माने गये हैं। जिसमें एक का नाम सविचार समाधि और दूसरी का नाम निर्विचार समाधि होता है। भगवान पतंजलिदेव जी कहते हैं :-

एतयैव सविचार निर्विचार च सूक्ष्म विषया व्याख्याता।

ऊपर जो सवितर्क और निर्वितर्क समाधि का विषय कहा गया है उसके द्वारा सविचार और निर्विचार सूक्ष्म विषयों को भी समझ लेना चाहिए। अर्थात् जव तक सूक्ष्म विषय गन्ध तन्मात्रा आदि पंच तन्मात्राओं या इन्द्रियों की शक्ति देशकाल और निमित्त के प्रायः प्रतीत होती रहे तथा शब्द अर्थ और ज्ञान का पूरा-पूरा आभास रहे तव तक इस समाधि का नाम सविचार समापत्ति कहा जाएगा और जव देशकाल और निमित्त के ज्ञान से शून्य हो करके अर्थमात्र भाषित होता रहे तव इसी समापत्ति को सूक्ष्मता की हद मूल प्रकृति पर्यन्त ही अव्यक्त प्रकृति से आगे विकृति से सभी भेदों को योगी पूर्णरूपेण साक्षात्कार कर लेता है। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने कहा :-

सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्ग पर्य्यवसानम्।

सविचार समाधि में मनुष्य देशकाल और ज्ञान की प्रतीति युक्त समाधि लगाता है तो वह सविचार समाधि और जिसमें देशकाल का ज्ञान न होकर अर्थ मात्र भाषित होता रहे वह निर्विचार समाधि कहलाती है। इसी निर्विचार समाधि की उत्तरोत्तर पुष्टि होती रहती है। इन्द्रियों की ग्रहण शक्ति का जिसमें विकास होता है और जिसका मूल कारण अहंकार रहता है उसको आनन्दानुगत समाधि कहते हैं ओर इससे आगे महत्तत्व से सम्वन्ध रखने वाली अस्मितागत समाधि है जिसमें योगी 'अस्मि' प्रत्यय का अनुभव करता रहता है। ये सब समाधियाँ सबीज समाधियाँ हैं। जिस समय योगी की निरन्तर अभ्यास करने के वाद निर्विचार समाधि की पूर्ण निर्मलता हो जाती है और उसी में सतोगुण वृत्ति आत्मरूपेण भाषित होती रहती है उसी का नाम अध्यात्म प्रसाद है। जिसका लक्षण भगवान पतंजलिदेव जी ने इस प्रकार लिखा है :-

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मक प्रसादः ।।

यहाँ तक प्रकृति का बीज समाप्त हो करके साधक निर्बीज समाधि का अधिकारी वन जाता है। इस सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर इसके सभी भेदों को जानने वाले योगी शनैः शनैः तीव्र वैराग्य होने पर इस समाधि के आगे पहुँच जाता है। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाता है। अस्मितानुगत योग में योगी को अस्मि, अस्मि इस प्रकार के प्रत्यय का बोध हो रहा था वह सव हट करके आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आ जाता है। गुणों से उसका कोई सम्वन्ध नहीं रहता। 'अस्मि' प्रत्यय भी अपने गुण प्रभाव में विलीन हो जाता है तभी उस समाधि का नाम निर्बीज समाधि हो जाता है। केवल मात्र जव तक पूर्ण विलीनता नहीं होती तव तक वह सम्प्रज्ञात योग की भूमिकाओं में घूमा करता है। उसके वाद सव वृत्तियों का उपशमन हो जाने पर आत्मा केवली भाव को प्राप्त हो जाया करता है यही उसकी स्वरूप प्रतिष्ठा है।

छब्बीसवां परिच्छेद

चित्त के तीन परिणाम एवं समाधि

हमारे पूर्वजों का सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं है वह है ही नहीं एवं जिस वस्तु का अस्तित्व है वह रहेगी ही रहेगी, केवल मात्र उसमें एक परिणाम विशेष अवश्य उत्पन्न हो सकता है इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए योगेश्वर जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के १६ श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है :—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्त स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।

अर्थात्—जिस वस्तु का अस्तित्व नहीं है उसका अस्तित्व कहीं से वनता नहीं और जिसका अस्तित्व है वह कभी विगड़ता नहीं । प्रत्युत उस वस्तु के परिणामान्तर होते रहा करते हैं, धर्मी का लक्षण करते हुए योग-दर्शन-कार भगवान पतंजलिदेव ने यह सूत्र लिखा है :—

शान्तोदिता व्यपदेश्य धर्मानुपाती धर्मी ।।

अर्थात्—धर्मी वह कहलाता है जो परिणाम समाप्त हो चुका है, उदित जो परिणाम इस समय हो रहा है और व्यपदेश अर्थात् जो परिणाम वाद में होगा । इन तीनों में से जिसकी सत्ता वरावर होती चली जाए, किन्तु विभिन्न प्रकार के परिणामों से उसमें अन्यत्व का दर्शन होता रहे वह धर्मी कहलाता है । उस धर्मी के हर स्थान में तीन-तीन परिणाम विभिन्न रूप से प्रकट होते रहा करते हैं किन्तु धर्मी उन तीनों प्रकार के परिणामों में वरावर वना रहता है ।

धर्मी के तीन परिणाम

(१) धर्म परिणाम, (२) लक्षण परिणाम एवं (३) अवस्था परिणाम । यह तीनों हर एक धर्मी में वरावर होते रहते हैं उदाहरण के रूप में इस वात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए जिस प्रकार मिट्टी एक धर्मी है । उस मिट्टी को पानी से आटे की तरह गोंद करके उसका एक गोला वना लिया, यह उस साधारण मिट्टी का गोला रूप धर्म परिणाम है । और उस गोले के अन्दर गोले को सावित करने वाले जो लक्षण

हैं वे उस धर्मी मिट्टी के वने हुए गोला रूप लक्षण परिणाम हैं। इसी प्रकार जव वह गोला कुछ दिन रक्खा रहेगा, सूख जायेगा और उसको वहुत देर रखे रहने से उसमें पुरातनता आ जायगी, तो सुनने वाला या देखने वाला यह कहेगा कि यह गोला मालूम पड़ता है कई महीने का वना हुआ है, इसलिए यह पुराना गोला है। यह उस मिट्टी के गोलारूप धर्म परिणाम का अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार ये तीनों परिणाम हर तत्व में वरावर होते रहा करते हैं। वस्तुतः उस वस्तु की सत्ता कहीं नष्ट होती नहीं, केवल मात्र उसमें विकृति आती रहती है और वह विकृति जहाँ-जहाँ भी गुण धर्म लागू हैं तहाँ-तहाँ होगी ही। क्योंकि हमारे शास्त्र का सिद्धान्त हैः—

चलम् हि गुणवृत्तम्।

अर्थात्—प्रकृति संभव तीनों गुण हर समय चल हैं। इसलिए गुण वृत्त में प्रतिक्षण परिणामान्तर होता रहता है, जिस समय मनुष्य जन्म लेता है और छोटा वच्चा वनकर माता के पेट से वाहर आता है उसकी उस समय की आकृति वहुत छोटी होती है अधिकाँश में एक मोटे चूहे की तरह होती है, किन्तु ज्यों-ज्यों प्रकृति उसकी मदद करती है और विभिन्न प्रकार के रस, पेय, खुराक के रूप में उसको मिलते रहते हैं। त्यों-त्यों उसकी आकृति में भी परिणामान्तर होता रहता है और वह उत्तरोत्तर वढ़ता रहता है। उसका वह स्वरूप जो पैदा होने के समय अधिक से अधिक आधा सेर तीन पाव वजन का होगा कुछ समय वाद परिणाम पाकर वह युवावस्था को धारण कर लेता है और उसका शरीर कई-कई मन वजन की आकृति को धारण कर वृहदाकार में दिखलाई देता है। यह उसके शरीर में प्रतिक्षण होने वाले विभिन्न परिणामों का फल है। इसी प्रकार हमारा चित्त भी गुणात्मक है और इसमें हर क्षण परिणाम होते रहा करते हैं। इससे पूर्व हमने अष्टाङ्गयोग का स्वरूप दर्शाने का पूरा-पूरा प्रयास किया है उन आठ अंगों में से यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार—ये वहिरंग अंग माने जाते हैं क्योंकि इनकी साधना चित्त की वहिर्मुखी वृत्ति होने पर भी की जा सकती है सर्वाधिक चित्त होते हुए भी अष्टाँग योग के इन पाँच अंगों की साधना की साधना की जा सकती है किन्तु धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों इन पहले अंगों की अपेक्षा अन्तरंग हैं इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने विल्कुल स्पष्ट शब्दों में यह सूत्र कह दिया हैः—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

इस पर भगवान व्यास देव जी भाष्य करते हैंः—

तदेतद् धारणा ध्यान समाधि त्रयम् अन्तरंग सम्प्रज्ञातस्य समाधेः पूर्वेभ्यो यमादि साधनेभ्य इति।

अर्थात्–धारणा ध्यान और समाधि के तीनों अंग सम्प्रनात समाधि के लिए यम-नियम आदि की अपेक्षा अंतरंग हैं। इन्हीं के द्वारा सवर्थिक चित्त में एकाग्रता रूप एक नया परिणाम होना आरम्भ हो जाता है। सर्वार्थता रूप में रहने वाले धर्मी चित्त का एकाग्रता रूप में वदल जाना यह उसका धर्म परिणाम है इस परिणाम को व्यक्त करते हुए भगवान पतंजलिदेव ने लिखा है:–

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।

इस पर भगवान व्यासदेव भाष्य करते हैं:–

समाहित चित्तस्य पूर्व प्रत्ययः शान्तः, उत्तर स्तत्सदृश उदितः समाधि चित्त मुभयोरनुगतं पुनस्तथैव आसमाधि भ्रेषादिति स खल्वयं धर्मिणश्चित्तस्यैकाग्रता परिणामः॥

अर्थात्–सर्वार्थिक चित्त के अन्दर सव विषयों को ग्रहण करना रूप एक स्वभाव वना हुआ था। उसके अन्दर धारणा का अभ्यास करने पर एक नया धर्म परिणाम पैदा हुआ। अभी तक कहने में यह आता था कि यह हमारा चित्त वड़ा चंचल है सभी विषयों में घूमता है ये उस चंचल चित्त के लक्षण थे किन्तु ज्यों ही उन सव विषयों में घूमने वाले धर्मी चित्त के अन्दर एकाग्रता परिणाम पैदा हुआ तो उसके अन्दर एकाग्रता के लक्षण भी आ गये। उस चित्त के धर्म और लक्षण परिणाम दोनों हो गये। इसी प्रकार से ज्यों-ज्यों उस चित्त की एकाग्रता पुरातन की ओर वढ़ती चली जायेगी तो कहने और देखने वाले यहीं कहेंगे कि भाई देखा कि उसका चित्त तो वहुत समय से एकाग्र चला आ रहा है। यह उस चित्त का अवस्था परिणाम हो गया। इसी प्रकार एकाग्र होने पर यह चित्त ज्यों-ज्यों समाधि के दृढ़ अभ्यास की ओर बढ़ता चला जायेगा तो उसका यह एकाग्रता परिणाम भी कालान्तर में अवश्य वढ़ जायेगा। सम्प्रज्ञात समाधि का एकाग्रता परिणाम वाला यह चित्त सर्वार्थिक चित्त की अपेक्षा समाधि के लिए अपेक्षाकृत अन्तरंग हो गया है किन्तु अभी तक यह अपने चरम लक्ष को नहीं पा सका है। अपने चरम लक्ष को वह तभी प्राप्त करेगा जबकि वह अपने आने वाले परिणामों से निकलता हुआ निरोधास्थिति को प्राप्त हो जायेगा। ज्यों-ज्यों साधक की एकाग्रता स्थिति ऊँची वढ़ेगी त्यों-त्यों उसके धर्मी चित्त के अन्दर आगे के नये परिणामों के भाव सामने आने आरम्भ हो जायेंगे। इस एकाग्रता परिणाम में चित्त के सर्वार्थिकता रूप धर्म शान्त हुए अर्थात् दव गये एवं एकाग्रता रूप धर्मों का उदय हो गया। चित्त पहले की अपेक्षा सूक्ष्म वन गया और उसने सम्प्रज्ञात योग में प्रवेश पा लिया। इसके वाद क्योंकि अभी भी इसकी सर्वार्थिकता पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है इसलिए साधक के दृढ़ अभ्यास के वाद ही इसके अन्दर समाधि के धर्मों का प्रादुर्भाव

होना शुरू हो जाएगा, उसको समझाते हुए भगवान पतंजलिदेव ने निम्नांकित सूत्र में स्पष्टीकरण के साथ-साथ वतला दिया है कि :–

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चितस्य समाधि परिणामः ।

भगवान व्यासदेव भाष्य कहते हैं :–

सर्वार्थता चित्तधर्मः एकाग्रताऽपि चित्तधर्मः सर्वार्थतायाः क्षयः = तिरोभाव इत्यर्थः एकाग्रताया उदयः = आविर्भाव इत्यर्थः । तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं । तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोः धर्मंयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधि परिणामः ।

अर्थात्–सर्वार्थता भी चित्त का धर्म है और एकाग्रता भी चित्त का ही धर्म है । इससे ज्यों ही चित्त की एकाग्रता उत्कृष्टता को प्राप्त होने लगती है तो सर्वार्थता रूप चित्त धर्म का क्षय और एकाग्रता रूप चित्त धर्म का उदय होने पर चित्त के अन्दर समाधि परिणाम आ जाता है । इसमें पहला धर्म दव गया है और दूसरे धर्म का उदय हो गया है । इस परिणाम के अन्दर भी क्रमशः तीनों परिणामों का उदय हो गया है । सर्वार्थता को चित्त ने छोड़ दिया और एकाग्रता की रूढ़ावस्था को प्राप्त करके समाधि की ओर आगे वढ़ गया, इस प्रकार उस धर्मी चित्त का सर्वार्थता रूप धर्म का परित्याग करके एकाग्रता रूप धर्म के साथ-साथ उसका एकाग्रता रूप लक्षण परिणाम भी साथ के साथ उदय हो गया है । इस समाधि को नयी समाधि कहेंगे । कहने वाले लोग इस समाधिस्थ व्यक्ति का परिचय देने के लिए यह कह करके ही उसका परिचय देंगे कि अरे भाई उसकी तो समाधि अभी नयी-नयी है । उसका चित्त अभी-अभी समाधि परिणाम की ओर आया है । समाधि के लक्षण तो उसमें प्रगट हो गये हैं किन्तु फिर भी उसकी यह समाधि है तो अभी नई ही है । समाधि को नयी कहना ही समाधिस्थ धर्मी चित्त का यह अवस्था परिणाम है इसी प्रकार ज्यों-ज्यों साधक का चित्त समाधि का दृढ़तर अभ्यास करते हुए निरोधाभिमुख होगा तो उस धर्मी चित्त के अन्दर निरोध रूप एक नया परिणाम पैदा हो जायेगा । उसका परिचय देते हुए भगवान पतंजलिदेव ने निम्नलिखित सूत्र में स्पष्टीकरण किया है :–

व्युत्थाननिरोध संस्कारयोरभिभव
प्रादुर्भावौ निरोधक्षय चित्तान्क्षयौनिरोध परिणामः ।।

इस सूत्र का भगवान व्यास देव भाष्य करते हैं :–व्युत्थान संस्काराश्चितधर्माः न ते प्रत्यायका इति प्रत्ययनिरोधे न निरूद्धाः निरोध संस्कारा अपि चित्त धर्मा,

तयोरभिभव प्रादुर्भावौ व्युत्यान संस्कारा हीयन्ते, निरोध संस्कारा अधीयन्ते, निरोध क्षणं चित्त मन्वेति तदेकस्य चित्तस्य प्रतिक्षणमिदं संस्कारान्यथात्वनिरोध परिणामः। तदासंस्कार शेष चित्तमिति निरोध समाधौ व्याख्यातम्।

अर्थात्–व्युत्थान भी चित्त धर्म है और निरोध भी चित्त धर्म है। सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर होने वाले चित्त के धर्म व्युत्थानात्मक थे। यद्यपि वह चित्त एकाग्रथा और समाहित था। उसके अन्दर सिद्ध शक्तियों का वास हो चुका था, शक्तिशाली था किन्तु फिर भी सम्प्रज्ञात समाधि की यह स्थिति निरोध स्थिति की अपेक्षा व्युत्थानावस्था ही है। इस स्थिति में चित्त के एकाग्रता रूप समाहित स्थिति में जो सिद्धियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं निरोध के लिए उन्हें भगवान पतंजलिदेव ने उपसर्ग रूप माना है।

ते समाधाव्र्युपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

भगवान व्यासदेव जी भाष्य करते हैं:–

ते प्रातिभादयः समाहितचित्तस्योत्पद्यमाना उपसर्गाः, तददर्शन प्रत्यनीकत्वाद् व्युत्थितचित्तस्योत्पद्यमानाः सिद्धयः॥

अर्थात्–सम्प्रज्ञात योग में होने वाली सिद्धियाँ उसी स्थिति में अर्थात् व्युत्थानावस्था में वह सिद्धियाँ हैं। निरोध स्थिति के लिए तो वह भी उपसर्ग भूत है। अर्थात् निरुद्धावस्था के लिए वे सिद्धियाँ एक प्रकार की अन्तराय हैं समाहित चित्त के निरोध परिणाम के लिए निरोधात्मक संस्कारों का प्रादुर्भाव होगा और व्युत्थानात्मक संस्कारों का तिरोभाव होगा तो इस प्रकार धर्मी चित्त के व्युत्थानात्मक संस्कार दव जायेंगे और निरोधात्मक संस्कार प्रादुर्भूत हो जायगा। निरोध स्थिति के अन्दर चित्त वृत्ति संस्कार मात्र से शेष रहती है। अर्थात् विरुद्धावस्था साधक की निर्जीव समाधि है। इनमें चित्त की वृत्तियाँ सव प्रकार से शान्त हो जाती हैं फिर भी क्योंकि निरुद्धावस्था भी चित्त के धर्म हैं और व्युत्थानावस्था भी चित्त के धर्म हैं और इसलिए व्युत्थानावस्था के धर्म दव जाते हैं। निरोधात्मक प्रादुर्भूत हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में चित्त का प्रवाह वहुत शान्ति के साथ वहने लगता है। क्योंकि उसके व्युत्थानात्मक धर्म समाप्त हो चुके हैं और निरोधात्मक का जन्म हो चुका है। यहाँ आकर के चित्त की वृत्ति केवल वृत्तिरूपेण अवशेष ही मानी जाएगी। और निरुद्ध हो जाने के पश्चात् वह भी संस्कारवश अपने कारण में लय हो जायेगी। गुणों का गुणों में अवस्थान हो जायगा। यहाँ तक ये समाधियाँ सबीज समाधि कहलाती है क्योंकि यहाँ तक संस्कारों का बीज वना रहता है। उपरोक्त समाधियों को ही सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। सम्प्रज्ञात

योग की चार श्रेणियाँ वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत क्रमशः प्रगट होती हैं। शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिली हुई समाधि सावितर्क समाधि कहलाती है। यह सम्प्रज्ञात योग की पहली स्थिति है। ज्यों-ज्यों इसका अभ्यास योगी दृढ़ मन से वढ़ाता चला जाता है और अपने अभ्यास में कोई अन्तराय नहीं पैदा होने देता और उसके निरन्तर अभ्यास से समाधि उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होती चली जाती है। जिसमें जाकर योगी को अपने नाम सत्तारूप स्वरूप का आभास नहीं होता उनको निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। इस समाधि का लक्षण भगवान पतंजलिदेव ने इन शब्दों में किया है।

स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ मात्र निर्भासा निर्वितर्का।

अर्थात्–स्मृति की निर्मलता वढ़ जाने के वाद जिसमें केवल अर्थमात्र निर्भासित होता रहे उसको निर्वितर्का समापत्ति कहते हैं। जव तक उसमें शब्द की प्रतीति होती रहती है तव तक वह समाधि निर्वितर्का नहीं कहला सकती। जब स्मृति को दूर हो जाने पर केवल मात्र अर्थ ही भाषित होता रहे, तभी वह समाधि निर्वितर्का कही जा सकती है। यद्यपि इस अवस्था में ज्ञान अवश्य बना रहता है किन्तु वह नहीं के बरावर होता है, एक प्रकार से अपने ग्रहण स्वरूप को त्याग कर वह ग्रहणाकार हो जाता है। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने "स्वरूप शून्य इव" इस सूत्र का प्रयोग किया है। योग दर्शन के सत्रहवें सूत्र में जो स्थूल विषय में वितर्क योग कहा है उसी में ये सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद हैं। इन्हीं को योगियों की भाषा में निर्विकल्प और सविकल्प समाधि भी कहते हैं। इसी प्रकार से ये दोनों समाधियाँ स्थूल विषयात्मक ही हैं। इसी प्रकार से जव योगी का मन इससे आगे उठता है तो इससे सूक्ष्म विषयों में उसका चित्त समाहित हो जाता है जो सविचार और निर्विचार समाधिका स्वरूप हुआ करता है। जब तक सूक्ष्म विषय देशकाल और निमित्त के साथ आभाषित होता है और शब्द ज्ञानादि की उसमें अनुभूति वनी रहती है तब तक वह समाधि सविचार समाधि कहलाती है और उसमें जा करके लक्ष्य को साक्षात्कार करते-करते देशकाल निमित्त आदि भूल जाते हैं। इसी समाधि का नाम निर्विचार समाधि है। इस समाधि का विषय मूल प्रकृति तक पहुँच जाता है। महाभूतों का साक्षात्कार करना स्थूल विषय कहलाता है। उसमें सवितर्क और निर्वितर्क समाधि ही हो सकती हैं। उससे आगे जव सूक्ष्म विषयों में योगी प्रवेश करता है और महाभूतों की अपेक्षा गन्ध तन्मात्र, रस तन्मात्र, रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र एवं शब्द तन्मात्र आदि तनमात्राओं का ज्ञान उपलब्ध करता है तो ये पंच महाभूतों की अपेक्षा सूक्ष्म हैं इसमें ही चित्त का समाहित होने से सविचार और निर्विचार समाधि बनती हैं। किन्तु सूक्ष्मता का विषय और भी आगे वढ़ जाता है,

पंच तन्मात्राओं के वाद अहंकार, अहंकार के वाद महत्तत्व और महत्तत्व से प्रकृति सूक्ष्म है। यद्यपि प्रकृति से भी पुरुष और सूक्ष्म है, किन्तु यहाँ पर यह सूक्ष्मता मूल प्रकृति पर्यन्त ही पहुँचती है। पुरुष साक्षात्कार का विषय आगे चल करके स्पष्ट हो जायगा। यहीं पर सूक्ष्मता का अभिप्राय अपादान कारण तक है। क्योंकि प्रकृति ही पंच महाभूत, पंच तन्मात्रायें, अहंकार, महत्तत्व आदि सवको जन्म देने वाली है। एक प्रकार से वह प्रकृति ही रूपान्तरित होकर इनके अन्दर भाषित होती रहती है। पुरुष प्रकृति का उपादान कारण नहीं है। इसलिए ये समाधियाँ सवीज समाधि कहलाती हैं। ज्यों-ज्यों निर्विचार समाधि की निर्मलता वढ़ती है। त्यों-त्यों उसकी समाधि का प्रवाह भी निर्मल होता चला जाता है और उसकी समाधि प्रज्ञा अति निर्मलता को प्राप्त हो जाती है। अव उसको प्रकृति पर्यन्त सव पदार्थ इस प्रकार दिखलाई देने लगते हैं जिस प्रकार शीशे के अन्दर रखी वस्तुएं अभाषित होती रहा करती हैं। ऐसी स्थिति में आकर योगी प्रज्ञा प्रसाद पर आरुढ़ होकर सांसारिक लोगों को इस प्रकार देखा करता है। जिस प्रकार पर्वत शिखर पर खड़ा हुआ भूमि के प्राणी को देखा करता है।

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

अर्थात्—बुद्धि रूप ऊँचे महल पर खड़ा हुआ योगी स्वयं अशोच्य हो जाता है, उसको अपनी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती किन्तु दुःख द्वन्दों में तपे हुए मनुष्यों की उसको चिन्ता रहा करती है। जिस प्रकार पर्वत शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमिस्थ प्राणियों को साफ-साफ देख लिया करता है। उसी प्रकार जिस व्यक्ति ने बुद्धि की निर्मलता को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लिया है वह संसार के प्राणीमात्र को वे जिन स्थितियों में हों स्पष्ट देख लिया करते हैं।

एक उदाहरण

मेरे श्री गुरुदेव महाराज श्री योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जव नैपाल हिमालय से अधम लोगों के उद्धार के लिए उतर कर भूमि पर आये और उन्होंने संसार में आकर के योग की विशुद्ध परिभाषायें समझाकर योग-प्रचार करना आरम्भ किया, उस समय कोई-कोई लोग जव उनसे इस प्रकार के प्रश्न किया करते थे—उनका इस भूमण्डल पर आगमन किस प्रकार हो गया ? तो उसका उत्तर श्री गुरुदेव जी अपने शब्दों में इस प्रकार कहा करते थे कि—भाई ! क्या वतलायें हमने वहाँ बैठे हुए संसार के जीवों को तड़पते हुए देखा तो हृदय में दया भाव पैदा हुआ, परम पुरुष की इसी प्रकार की इच्छा थी। अतः हम वहाँ से चले आये और यहाँ आकर यह कार्य करना

शुरू किया। जिस मार्ग को पा करके संसार के अधम प्राणी भी उस पवित्र प्रकाश को देखने लगे और उस सामर्थ्य वाले वन गये कि उनके द्वारा और भी हजारों जीव उस पवित्र प्रकाश को पा करके कृतार्थ हुए। श्री आनन्द कन्द परम कृपा सागर श्री गुरुदेव जी की महिमा को स्पष्ट शब्दों में वतलाते हुए एक श्लोक लिखा गया है। मैं उस श्लोक को वार-२ पढ़ा करता हूँ। वह श्लोक उनकी परम करुणार्णवता का पूर्ण परिचायक हैं। श्लोक इस प्रकार है।

यस्य प्रसादात् पतितास्सुपावनाः।
भवन्ति संसार सुतारणाश्शिवाः॥
योगीश्वराणां परमेश्वरम् हरिं।
श्री रामलाल प्रभुमीशमाश्रये॥

अर्थात्–जिनकी कृपा के एक-एक कण को पाकर के अत्यन्त पतित भी परम पवित्र होकर संसार-सागर से तराने की सामर्थ्य वाला हो जाता है, मैं उन योगेश्वरों के ईश्वर प्रभु श्री रामलाल जी को वार-वार नमस्कार करता हूँ। यहाँ तक कि समाधियाँ जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, जो चित्त के उत्तरोत्तर परिणामों के साथ प्राप्त होती हैं सबीज समाधियाँ हैं। जिस समय निर्विचार समाधि निर्मल होती है तो मनुष्य को अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। भगवान पतंजलिदेव ने लिखा है :–

निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसादः।

इस सूत्र का भगवान व्यासदेव भाष्य करते हुए लिखते हैं :–

अशुद्धया वरणमलोपेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धि सत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूनः स्वच्छः स्थिति प्रवाहो वैशारद्यम्। यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवत्यध्यात्मप्रसादः भूतार्थ विषयः क्रमानतुरोधी स्फुटप्रज्ञाऽऽलोकः।

अर्थात्–अशुद्धि का आवरण जिसका समाप्त हो चुका है, रज, तम के प्रवाह से निष्फल हुआ, प्रकाशात्मक पवित्रतम, बुद्धि सत्व का जब पूर्ण पवित्र प्रवाह बहने लगता है। तो मनुष्य को स्फुट प्रज्ञा लोक हो जाता है। योगियों की परिभाषा में इसी का नाम अध्यात्म प्रसाद है। इसे ही प्रज्ञा प्रसाद स्फुट प्रज्ञालोक, ऋतम्भरा प्रज्ञा, सत्व पुरुषान्यताख्याति–आदि-आदि नामों में कहा गया है निर्विचार समाधि की निर्मलता में मनुष्य को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञाः

यह ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्वर्था है। अर्थात् उस समाहित चित्त में जो बुद्धि पैदा होती है। उसी का नाम ऋतम्भरा है और क्योंकि यह सत्य को ही धारण करती है इसलिए इसका नाम ऋतम्भरा है।

ऋतम् सत्यमेव विर्भति

अर्थात्–इसमें किसी भी प्रकार का मिथ्या ज्ञान नहीं होता। इस बुद्धि का विषय आगम और अनुमान से भिन्न होता है क्योंकि वेद शास्त्रों में उपदिष्ट बातें प्रत्यक्षानुभूति में नहीं होती। इसी के अनुमानित विषय भी प्रत्यक्ष पूर्वकता होते हैं किन्तु उनका प्रत्यक्ष उस समय का यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए उनके यथा दर्शन के विना मानव की बुद्धि में भ्रम भी हो जाता है किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा के अन्दर उस भ्रम का लवलेश भी नहीं होता। इसलिए भगवान पतंजलिदेव ने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है :–

श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्यविषया–विशेषार्थत्वात्।

अर्थात्–ऋत और अनुमान वाली जो बुद्धि होती है उससे ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय कुछ और ही होता है। क्योंकि ये विशेष अर्थ वाले हैं अन्य समाधियों में पंचभूत और तन्मात्राओं का योगी पूर्णरूपेण साक्षात्कार नहीं कर पाता किन्तु निर्विचार समाधि की निर्मलता में यह हस्तामलकवत् स्पष्ट ज्ञान कराने वाली ऋतुम्भरा प्रज्ञा ही उसका बल है, जिस समय यह बुद्धि पैदा हो जाती है, अन्य सब संस्कारों को रोक देती है। इसके अपने ही संस्कार कायम रहते हैं और इसके संस्कार उन सब संस्कारों से बलवान होते हैं। ऋतुम्भरा प्रज्ञा के अन्दर योगी के मन में जो संकल्प बनेगा वह सत्य बनेगा जो देखेगा, सत्य देखेगा। यहाँ आकर ही मनुष्य सिद्धान्तों का निर्णायक बन जाता है। इस प्रकार के बहुत से महात्मा देखने में आते हैं जिनको हर वस्तु का यथार्थ ज्ञान तत्काल हुआ करता है वे जो कुछ देखते हैं सत्य देखते हैं जो कुछ सुनते हैं सत्य सुनते हैं, जो कुछ करते हैं सत्य करते हैं। आजकल के अभ्यासी इस चरम स्थिति तक पहुँच नहीं पाते। थोड़ी बहुत अनुभूतियाँ ही साधारण अभ्यास से हो पाती हैं और उन अनुभूतियों का आधार लेकर ही वे अपने आपको सत्यदृष्टा कहने की चेष्टा किया करते हैं और उसके परिणाम स्वरूप बहुत सी गलत बातों का प्रचार हुआ करता है। वे लोग हित की अपेक्षा लोगों के अनिष्ट का कारण बन जाते हैं। पिछले दिनों लोगों ने कई एक भविष्य-वाणियाँ की, किन्तु परिणाम में वे असत्य ही रहीं। उसका कारण केवल इतना ही था कि अभी उनकी बुद्धि ऋत को धारण करने वाली बन नहीं पायी थी पर वे मान सम्मान की भूख में भूत-भविष्य की बातें कहने लगे। परिणाम में वे असत्य निकलती हैं जैसे कुछ वर्ष पहले इटली के किसी योगी ने १४

अगस्त को प्रलय घोषणा की थी और उसका काफी प्रचार हुआ किन्तु वे सभी वातें अयथार्थ थीं। ऋतुम्भरा प्रज्ञा के विना मनुष्य को समाधि स्थिति में भी सभी अनुभव सत्य नहीं होते, क्योंकि उन अन्य समाधियों में रज और तम की मात्रायें अवशेष रहती हैं। एक प्रकार से साधक के आगे उसका अपना मन ही ऋत जैसा रूप धारण करके खड़ा हो जाता है, किन्तु उसके अन्दर ऋत का लवलेश भी नहीं रहता और अपने ही मन की अनुभूति से वह दुःख को खरीद लेता है। यह अवश्य होता है कि समाधि की पहली भूमिका में भी कभी-कभी उत्तर भूमिकाओं का ज्ञान होने लगता है उसका कारण केवल मात्र हृदय में निवास करने वाले सर्वशक्तिमान प्रभु की प्रेरणा ही होती है जो साधक की छोटी भूमिकाओं में भी अवान्तर भूमिकाओं का बोध होने लगता है और कितनी ही वातें सत्य अनुभव में आने लगती है। यह उस पुरुष विशेष परमात्मा की अहैतुकी कृपा का परिणाम होता है। जो साधक को आगे वढ़ने के लिए उत्साहित करता है। अन्यथा ऋतम्भरा प्रज्ञा तो निर्विचार समाधि की निर्मलता में ही मनुष्य को प्राप्त हो पाती है :—

एक उदाहरण

एक स्थान पर एक अच्छे योगाभ्यासी साधक निवास करते थे, उनको अपने ध्यानाभास की स्थिति में वढ़े-२ दिव्य अनुभव होते रहते थे, लोक-लोकान्तरों का दर्शन होता था, उनके गुरुदेव उनके निर्माण चित्त का आश्रय लेकर कई प्रकार के उपदेश किया करते थे, क्योंकि उस साधक की समाधि उत्तरोत्तर निर्मलता की ओर वढ़ रही थी, इसलिए वह अपनी स्थिति में हर स्थिति को ही सत्य समझने लगे। वे अपने ही समाधिज्ञान को सत्य ही समझ वैठे थे, किन्तु कुछ समय के वाद एकाएक ऐसा हुआ कि उन्होंने ध्यान योग में अपने गुरुदेव से उपदेश सुना और उनकी कही हुई वात पर अमल करने लगे। जव उनके गुरुदेव उनको मिले तो उन्होंने वतलाया कि यह तुम्हारी यथार्थतानुभूति नहीं है। तुमने अपना यह कदम गलत उठा लिया है। साधक को आश्चर्य हुआ। कारण उसका केवल मात्र इतना ही था क्योंकि अभी उसको निर्विचार वैशारद्य प्राप्त नहीं हुआ था इसीलिए प्रज्ञा विवेक निर्मल नहीं था और उसने अपनी गलत अनुभूति को सत्य समझ लिया।

निर्विचार वैशारद्य का एक और उदाहरण

उपरोक्त घटना में निर्विचार वैशारद्य को भली प्रकार समझाने का प्रयत्न किया गया है। ज्यों-ज्यों साधक के प्रयत्न से निर्विचार समाधि निर्मलता को प्राप्त होती है त्यों-त्यों उसका बुद्धि विवेक भी उत्तरोत्तर निर्मल होता जाता है और बुद्धि ऋत

को धारण करने वाली वन जाती हैं। ऐसी स्थिति में योगी विल्कुल सत्य संकल्प होता है, सत्य दृष्टा होता है, वह जो कुछ देखता है सत्य देखता है जो कुछ सुनता है सत्य सुनता है। उसके अनुभव में कभी भी मिथ्यात्व नहीं होता। ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाने के वाद योगियों के संकल्प में ही पूर्णतया सिद्धियों का वास हो जाया करता है। उसके संकल्प कभी भी मिथ्या नहीं होते। इसलिए उसको सिद्धि उपयोग की आवश्यकता नहीं रहती। उसका संकल्प स्वयं ही महा शक्तिशाली होता है। एक स्थान पर एक अच्छे उच्चकोटि के महात्मा निवास करते थे, उनका प्रज्ञा विवेक इतना निर्मल था कि जो होनहार होती, वह उनके मन में पहले से ही आभास होने लगती और थोड़ी देर के पश्चात् वह घटना यथार्थरूप में घटित हो जाती। वे स्थान-स्थान पर वनों और नगरों के अन्दर घूमा करते थे। एक वार श्री मथुरा जी से श्री गोवर्धन की यात्रा कर रहे थे एक और ब्रह्मचारी उनके साथ थे। थोड़ी दूर चलने पर अपने साथ के ब्रह्मचारी से पूछा कि भाई! क्या तुम्हें भूख लगी है? उनके साथी ने जवाव दिया—हाँ! मुझे भूख लगी है। पर इस जंगल में क्या हो सकता है। उस महात्मा जी ने वहाँ एक जड़ी उखाड़ कर पानी में मिलाई थोड़ी देर के पश्चात् वह दही की तरह जम गयी, वह उन्होंने अपने साथी ब्रह्मचारी को खिला दी व स्वयं भी खा ली। जड़ी में अतिवल था उसके खाने से ब्रह्मचारी ने अनुभव किया कि शरीर में नयी स्फूर्ति पैदा हो गई है। थोड़ी दूरी और आगे वढ़े, महात्मा ने अपने अर्धोन्मीलित नेत्रों से ध्यानमग्न रहते हुए अपने साथी ब्रह्मचारी से कहा भाई! हमारे मन में ऐसा विचार आ रहा है कि यहाँ आगे आने वाले गाँव में एक पटवारी रहता है वह हमारे लिए भोजन तैयार करा रहा है। क्योंकि हमारे मन में यह विचार आये हैं। इसलिए यह सत्य ही है। वह हमें रास्ते पर मिलेगा। पटवारी की आकृति उस महात्मा ने पहले ही से वता दी। थोड़ी देर के वाद जव वह आगे वढ़े तो पटवारी गाँव के वाहर खड़ा था। जव ये दोनों महात्मा आगे वढ़े तो उस पटवारी ने नमस्कार किया और आदर पूर्वक प्रार्थना की—महाराज मैं वहुत देर से यह सोच ही रहा था कि कहीं से दो महात्मा आ जाएं तो भोजन कराऊँ, मेरे मन में था कि कोई दो महात्मा आ रहे होंगे, मेरे वड़े भाग्य से आप दोनों आ गये हैं। कृपा करके मेरे घर में भोजन करो। उस पटवारी ने कहा मैं जैसा चाहता था उसी प्रकार के दो महात्मा मुझे मिल गये। वह दोनों को आदर पूर्वक अपने घर ले गया और वहाँ जाकर उसने वहुत शुद्धि के साथ वनाया हुआ भोजन कराया। पटवारी वैष्णव था। शुद्ध घी से पक्वान्न तैयार कराया था। भोजन करने के उपरान्त महात्मा और उनके साथी ब्रह्मचारी राधाकुण्ड चले गये। ब्रह्मचारी ने अनुभव किया कि उनके साथी महात्मा को प्रज्ञा विवेक है और निर्विचार वैशारद्य स्थिति पूर्णरूपेण प्राप्त है। जो व्यक्ति मन के तीनों परिणामों को भली प्रकार समझते हुए संयम को उपलब्ध करते हैं वे

अपने उच्चतम लक्ष को पूर्णरूपेण प्राप्त कर लेते हैं। निर्विचार वैशारद्य में जो ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रगट होती है उसके संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देते हैं।

तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कारप्रतिवन्धी

अर्थात्–उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के उत्पन्न हो जाने के वाद अन्य सभी संस्कार रुक जाते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के सामने सभी संस्कारों का रुकना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। केवल मात्र यह ऋतम्भरा प्रज्ञा ही 'अस्मि' प्रत्यय का रूप धारण करके निर्माणोन्मुखी वृत्ति के रूप में शेष रह जाया करती है। ऐसी स्थिति में ही जाकर योगी अपने आपको सर्वव्यापक आत्मा से अभिन्न देखता है और 'अस्मि' अहमेवास्मि उसकी वृत्ति अहमेव अस्मि, "मय्येव मिदं सर्वं" इसका अनुभव करती है किन्तु जब चितशक्ति अपने स्वरूप में स्थान ग्रहण करती है। तब यह वृत्ति भी स्वमेव शान्त हो जाया करती है। जैसे अग्नि रुई के ढ़ेर को जला करके अपने आप ही शान्त हो जाती है वैसा ही इस वृत्ति का स्वरूप होता है। यह भी अन्य सभी संस्कारों को विलीन करके अपने आप भी अपने कारण में लय हो जाती है। ऐसी स्थिति को ही निर्बीज समाधि कहा करते हैं।

भगवान पतंजलिदेव कहते हैं:–

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

भगवान व्यासदेव जी भाष्य करते हैं:–

स न केवलं समाधि प्रज्ञा विरोधी प्रज्ञाकृतानां संस्काराणामपि प्रतिबन्धी भवति कस्माद् ? निरोधजः संस्कारः समाधिजान् संस्कारान् वाधतं इति, निरोधस्थिति काले क्रमानुभवेन निरोधचित्तकृत संस्कारास्तित्वमनुमेयम्॥

अर्थात्–वह केवल समाधि प्रज्ञा की ही विरोधी नहीं है, प्रत्युत समाधि प्रज्ञा द्वारा होने वाले संस्कारों को भी रोकती है। क्योंकि निरोध के संस्कार समाधि के संस्कारों को रोकते हैं। निरोध संस्कार काल में निरोध चित्त के ही संस्कार रहते हैं। इसी प्रकार से मनुष्य अपने परम पुरुषार्थ को पा करके परम श्रेय का भागी बन जाता है एवं गुणों का अवसान हो जाने के पश्चात् कैवली भाव को प्राप्त होता है।

[भाग - २]

।। साधन-योग ।।

पहला परिच्छेद

साधन योग

योग की परिभाषा हम पिछले प्रकरणों में भली प्रकार वतला चुके हैं। भगवान पतंजलिदेव ने योग दर्शन का आरम्भ करते ही दूसरे सूत्र में योग की परिभाषा वतलायी है। उन्होंने लिखा है, "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध को ही योग कहते हैं। भगवान व्यासदेव इस सूत्र का भाष्य लिखते हैं।

सर्वशब्दाग्रहणात् संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याऽऽख्यायते चितं हि प्रख्याप्रवृतिस्थिति-शीलत्वात्त्रिगुणम्। प्रख्या–रूपं हि चित्त सत्वंरजस्तमोभ्याम् संसृष्टमैश्वर्यं विषय प्रियं भवति, तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्मा ज्ञानावैराग्यानैश्वर्य्योपगं भवति तदेवप्रक्षीणं मोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य्योपगं भवति, तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्व पुरुषान्यताख्याति मात्रं धर्म मेघध्यानोपगं भवति, तत्परं प्रसंङ्ख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः चितिशक्ति परिणामिन्य प्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति, अतस्तस्यां विरक्तंचित्तं तामपिख्यातिं निरुगद्धि, तदवस्थं चित्तं संस्कारोपगं भवति स निर्बीज समाधिः, नतत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायत इत्यसम्प्रज्ञातः। द्विविधः सयोगश्चित्त-वृत्ति निरोध इति ॥२॥

भाष्य की इन पंक्तियों का भावार्थ केवल मात्र इतना ही है क्योंकि सूत्र में सर्व शब्द का ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए सम्प्रज्ञात योग भी योग ही है और वह चित्त के त्रिगुणात्मक होने से सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा विवेक ख्याति तक ले जाता है। विवेक ख्याति भी क्योंकि सत्वगुणात्मिका है, इसलिए निर्बीज समाधि तक पहुँचने वाले योगी के लिए वह भी निरोध का ही विषय है। जिस समय योगी विवेक ख्याति का निरोध करके निर्बीज समाधि की ओर चलता है उसका चित्त-संस्कार शेषमात्र रहता है। अतः योग सम्प्रज्ञात दो प्रकार का है। भगवान पतंजलि-देव ने योगी को योग साधना की पराकाष्ठा तक पहुंचाने के लिए अपने योगदर्शन के अन्दर अष्टांग योग का वर्णन किया है। अष्टांग योग में :–

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टांवङ्गनि ॥

इस सूत्र को कह करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये सव के सब अंग साधना के विषय बतलाये हैं। मनुष्य गुरुदेव से

पूर्णरूपेण शिक्षा प्राप्त करके अष्टांग योग की पूर्णतया साधना करता हुआ अपने ज्ञान प्रकाश को बढ़ाकर सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है। भगवान पतंजलिदेव नें स्पष्ट शब्दों में लिखा है :–

योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

अर्थात्–योगागों का अनुष्ठान करने से जब तक पूर्णरूपेण विवेक ख्याति का उदय नहीं होता तब तक उत्तरोत्तर ज्ञान बढ़ता रहता है और ज्यों ही योगी की अविप्लवा विवेक ख्याति पैदा हो जाती है। त्यों ही उसकी यह साधना पूरी हो जाती है और वह निर्बीज समाधि की ओर चला जाया करता है। वैसे आचार्य पतंजलि देव के बताये हुए अष्टांग योग की साधना करता हुआ व्यक्ति यदि पूर्ण रूपेण किसी एक अंग-उपांग का भी पालन करता है तो भी वह समाधि द्वार पर पहुँच ही सकता है। उदाहरण रूप से इस बात को यों समझ लेना चाहिए जैसे एक व्यक्ति यमों की साधना प्रारंभ करता है और उनमें से सबसे पहला यम 'अहिंसा' है। अहिंसा की पराकाष्ठा को मनुष्य तभी पहुँच सकता है। जबकि वह योग मुक्त हो जाय। वह प्राणी मात्र के अन्दर अपने आपको व प्राणी मात्र को अपने अन्दर देखता रहे। जब तक द्वैत देखता रहेगा तब तक उसकी अहिंसा वृत्ति व्यक्ति चित्त बनी रहेगी। अतः अहिंसा रूपी यम का पालन पूर्ण रूपेण समाहित होकर ही योगी कर सकता है। क्योंकि उसको द्वैत का आभास नहीं रहता। समाधि की परिभाषा हमारे आचार्यों ने, "समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः" कहकर जीवात्मा परमात्मा की बिल्कुल एकता की सूचना दी है। साधक को यम नियमों की साधना अवश्य करनी चाहिए ताकि उसकी चित्त शुद्धि होकर वह समाधि द्वार तक पहुँच जाए। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता जैसा कि आज कल बहुत से लोगों के मन में भरा रहता है कि मनुष्य पहले यम नियमों की साधना करे और उनकी पूर्णता प्राप्त करके बाद में प्राणायाम प्रत्याहार की ओर चले और उसके बाद वह धारणा, ध्यान और समाधि का अभ्यास करे।

इसका तो अर्थ यह हुआ कि पहले यमों की साधना करने वाला साधक पहिले 'अहिंसा' की साधना करे और सत्य, अस्तेय आदि को छोड़ रखे। जब अहिंसा की साधना पूर्ण हो जाय उसके बाद वह सत्य की साधना को ग्रहण करे और सत्य के बाद अस्तेय और अस्तेय के बाद ब्रह्मचर्य आदि का पालन करे। यह बिल्कुल गलत नियम है। यदि मनुष्य यमों की साधना में लगता है। तो उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि यम और उसके साथ-साथ शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान आदि नियम सभी को अपनी साधना का विषय बनाकर चले। उसके

साथ जहां पर वह यम नियमों की साधना में लगा हुआ है वहां पर आसन, वन्ध, मुद्रा का साथ ही अभ्यास करे तो उसका मन एकाग्रता की ओर जल्दी अग्रसर हो जायेगा। योगी का लक्ष्य तो मन की एकाग्रता से है। चाहे वह यम-नियमों के पालन से उपलब्ध हो जाय या आसन प्राणायाम, वन्ध मुद्रायें आदि के करने से हो। अतः अष्टांग साधन के अन्दर योगी सभी अंगों-उपांगों की साधना का वरावर अभ्यास रखे। अष्टांग योग के अन्दर यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये वहिरंग अंग माने जाते हैं। अर्थात् इनकी साधना वृत्ति के वहिर्मुख रहते हुए भी साधक कर सकता है। जैसेः—अहिंसा वृत्ति का पालन करने वाला योगी मनसा, वाचा कर्मणा किसी को कष्ट न दे। अपने मन पर नियंत्रण रखे, किसी से कड़वी वाणी न बोले, किसी का मन दुःखाने वाला कोई भी कार्य न करे, तो सभी कार्य व्यवहार करते हुए थोड़ा विचार रखने से वह अहिंसा वृत्ति का पालन कर ही सकता है। इसी प्रकार जो मनुष्य वाणी पर नियंत्रण रखेगा वह सभी कार्य व्यवहार करता हुआ सत्य रूप यम की साधना कर ही सकता है। सभी संसार के रंग राग में रहता हुआ मनुष्य यदि यह समझता रहे कि विषयोपभोग मनुष्य मात्र के घोर पतन का कारण है, तो वह वाह्य जगत में काम करता हुआ भी अपनी इन्द्रियों पर कन्ट्रोल रख ही सकता है। इसी प्रका रसे अपने दैनिक कार्य-क्रम को निभाने वाला योगी नियमानुसार आसन, प्राणायाम, वन्ध और मुद्रा आदि कर ही सकता है। अतः यह यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार अष्टांग योग में वहिरंग अंग माने जाते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि ये अंतरंग हैं। जिनकी साधना मन की एकाग्रता से आरम्भ होती है वे अन्तरंग साधन हैं। भगवान पतंजलि देव ने या अन्य सभी योगाचार्यों ने योग के अमर सिद्धान्त को सार्वभौम सिद्धान्त रखा है। ये सारी साधनायें इस प्रकार की हैं जिनको भूमण्डल में जन्म लेने वाला अपने अधिकार भेद से प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अन्तर्मुख साधन हैं। जिनका क्रमशः पालन करता हुआ योगी ब्रह्म-एक्य रूप समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच सकता है। भगवान पतंजलि देव धारणा का लक्षण लिखते हुए लिखते हैं:—

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान व्यासदेव जी महाराज ने लिखा है :—

नाभि चक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्निज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु, वाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्तिमात्रेण वन्ध इति धारणा।

अर्थात्—नाभिचक्र, हृदय कमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र और जिह्वाग्र आदि-आदि स्थानों में मन को वृत्तिमात्र से एकाग्र करना धारणा कहलाती है। अभ्यास करने

वाला साधक धारणा के विषय को दो प्रकार से ग्रहण कर सकता है। वाह्य धारणा और आभ्यन्तर धारणा। वाह्य धारणा के अन्दर वाह्य कल्पना से वृत्ति वन्ध करना और आभ्यन्तर धारणा में हृत पुण्डरीक (हृदय कमल) आदि में मन की कल्पना से मन को रोकना आभ्यन्तर धारणा कहलाती है। जो मनुष्य दृढ़तर होकर के धारणा का अभ्यास करता है। बीच में कोई व्यवधान नहीं आने देता, अधिक से अधिक उसको तीन वर्ष के अभ्यास से धारणा अवश्य सिद्ध हो ही जायेगी। भगवान् पतंजलिदेव का आदेश है :–

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

अर्थात्–हम किसी भी साधना को पूर्ण करना चाहते हैं तो उसमें तीन वातों का ख्याल रखना निहायत आवश्यक हो जाता है। जिस भी साधना को हम करें उसको लम्बे समय तक करें यह न हो कि सकाम उपासना वालों की तरह से फल की लिप्सा में लगा हुआ साधक जल्दी कोई परिणाम न दिखाई देने पर साधना को छोड़ बैठे। इस प्रकार करने से वह कभी भी परिणाम की सीमा को नहीं पहुँच सकेगा। इसलिए साधक का पहला कर्तव्य है कि वह जिस भी साधना को करे लम्बे समय तक करे और लगातार करे। ऐसा न हो कि एक दिन कर ली दो दिन छोड़ दी। फिर एक दिन कर ली दो दिन छोड़ दी। प्रत्युत निरन्तर करता ही रहे। तीसरी वात उसको अपनी साधना में पूरा-पूरा विश्वास हो। सूत्र में वताये हुए तीनों नियमों का पालन करता हुआ यदि साधक साधना करता है तो वह जल्दी ही चरम लक्ष्य को पा जाता है। धारणा के स्थानों का संकेत श्री व्यासदेव जी ने नाभि-चक्र, हृदय-कमल, जिह्वाग्र, मूर्धा-ज्योति इन चार ही का संकेत किया है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी हमारे पूर्वजों ने धारणा के लक्ष्यीभूत अनेक स्थानों का स्पष्टीकरण किया है। जैसे–मूलाधार-कमल, स्वाधिष्ठान-चक्र, मणिपूरक, विशुद्ध आज्ञा कमल ये सव स्थान षट्चक्रों की साधना के स्थान हैं। सुषुम्ना के अन्तर्गत षट्चक्रों के अन्तर्गत जिन देवत्ताओं की धारणा की जायगी वे सभी के सभी प्रणवात्मक होंगे। षट्चक्रों के अन्दर किया जाने वाला ध्यान एक प्रकार से गुरुदेव का ही ध्यान है। कुछ भी हो, हमारे योगाचार्य भगवान पतंजलिदेव ने मजहव व सम्प्रदाय का ख्याल न करके योग सिद्धान्तों को सार्वभौम सिद्धान्त वनाया है। किसी लक्षस्थान में अपने चित्त को एकाग्र करना सार्वभौम मनुष्यों के लिए विल्कुल साध्य ही है। कोई भी मनुष्य अपने मन को एकाग्र करने का प्रयत्न कर ही सकता है और प्रयत्न करने पर अधिकारी भाव से सफलता मिलेगी ही। जो मनुष्य सिद्धासन, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन एवं स्वस्तिकासन आदि किसी आसन का अभ्यास करके और मेरुदण्ड सीधा रखता हुआ जगदात्मा श्रीकृष्ण के आदेशानुसार :–

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समकाय शिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

अर्थात्–अपने मन को एकाग्र करके और किसी एक आसन पर समकाय शिरोग्रीव हो करके अर्थात् काया, सिर और ग्रीवा तीनों को एक स्तर में करके आत्म-कल्याण के लिए अभ्यास में बैठे, दिशा प्रदिशाओं में अपने मन को कहीं भी न जाने दे, केवल मात्र नासिकाग्र का दर्शन करे अथवा श्री गुरुदेव ने जिस भी लक्ष्य को धारणा का विषय वताया हो, उसी पर अभ्यास करे, अपने चित्त पर इन्द्रियों पर व सभी क्रियाओं पर पूर्ण-पूर्ण नियन्त्रण रखे, अपनी धारणा को दृढ़ करते हैं और लगातार प्रातः ब्रह्म-मुहूर्त में उठ करके अनवरत दो या तीन घण्टे अभ्यास करते हैं उनको धारणा का विषय वहुत ही जल्दी स्पष्ट होने लगता है। यदि कराने वाले गुरु सामर्थ्य वाले हों तो ध्येयाकृति वहुत जल्दी स्पष्ट होकर दीखने लगती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है धारणा के स्थान नाभि-चक्र, हृदय कमल, नासिकाअग्र, जिह्वाग्र आदि हमारे पूर्वाचार्यों ने निश्चित किये हैं। किन्तु इन्हीं स्थानों पर योगी धारणा का लक्ष्य किस को वनाये इस विषय में कोई स्पष्ट विवरण नहीं दिया है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" प्राणी मात्र के मस्तिष्क में मतियें भिन्न-भिन्न होती हैं। इसी नियम को सामने रखते हुए साधक अपने विचारानुसार कोई अपने इष्टदेव का, कोई गुरुदेव का, अग्निशिखा का, प्रणव का व शुभ्र प्रकाश का ध्यान करते हैं। ये सभी ठीक हैं।

रुचि वैचित्र्य से मार्ग भिन्न-भिन्न हैं किन्तु गम्य स्थान सवका एक ही है। जैसे गंगा आदि समस्त नदियों का गम्य स्थान समुद्र ही है। इसी प्रकार धारणा के लिए निर्देशित स्थान यद्यपि सभी ठीक हैं, किन्तु आजकल कलिकाल के मन्दाधिकारियों के लिए भगवान पतंजलिदेव ने एक और संकेत किया है :–

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

अर्थात्–वीतराग पुरुषों के चित्तों को अविलम्व वना करके जो लोग विश्वास करते हैं उनको जल्दी स्थिति सुलभ हो जाती है। भृंगी कीट न्याय से जिसका भी हम ध्यान करें उसके गुणों का हमारे मन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक हो जाता है।

अतः वीतराग पुरुषों को यदि हम अपने ध्यान का विषय बनायें और उनके स्वरूप पर धारणा का अभ्यास करें तो जल्दी स्थिति लाभ होगी। धारणा के अभ्यास काल से पहले योगी योगांगों के अनुष्ठान से जितना अधिक अपने अन्तःकरण को शुद्ध

वना लेगा उतनी ही उसको सफलता प्राप्त होगी। दूसरी वात यह है कि जिस वीतराग पुरुष का हम चिन्तन करेंगे वह हमारे प्रयास को अवश्य ही देखेंगे और अवश्य ही सहायता करेंगे। क्योंकि योगी का मन सहज एकाग्र होता है और वह अपने चिन्तन करने वालों को तत्काल जान लेता है। कौरवों की भरी सभा में जगदात्मा श्रीकृष्ण को द्रोपदी ने वड़े आर्तभाव से याद किया और जब उनको पहुँचने में थोड़ी देर लग गई तो उसने पुकार कर कहा :—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन कृष्ण गोपीजनः प्रियः।
कौरवार्णव निमग्नां माम किन्न पश्यसि केशव ॥

अर्थात्—हे महायोगी श्रीकृष्ण ! आप महायोगी हैं। कौरवों के समुद्र में डूवती हुई मुझको क्या नहीं देख रहे ? जवकि एक साधारण योगी चिन्तन मात्र से अपने भक्तों के दुःखों को जान जाता है। द्रोपदी की वह आर्त पुकार जगदात्मा श्रीकृष्ण ने तत्काल द्वारिका में सुनी और उसकी पूर्ण-पूर्ण सहायता की। इस प्रकरण को सभी जानते हैं। अतः साधक जव वीतराग पुरुषों को अपने ध्यान का विषय वनायेगा तो वे लोग उसके अवश्य सहायक होंगे।

वीतराग पुरुषों का ध्यान करने से सूर्यदेव का ध्यान करने से भगवान विष्णु शिव आदि का ध्यान करने से योगी को एक और वल मिलेगा जिसको हर व्यक्ति नहीं जान सकता। साधारणतया संसार में एक मौलिक सिद्धान्त हर समय लगा रहता है और वह यह है कि छोटी शक्ति बड़ी शक्ति में स्वाभाविक लय हो जाती है। हर एक व्यक्ति की नासिका रन्ध्रों से तेज के परमाणु हर समय निकलते रहते हैं। वे उतने ही अधिक वड़े वलवान व तेजस्वी होते हैं जितना जिसका आत्म विकास वड़ा होता है जिस वीतराग पुरुष का हम ध्यान करेंगे वह जितना तेजस्वी होगा व जितना ऊँचा उसका विकास होगा उतने ही उस व्यक्ति के नासिका रन्ध्रों से निकलने वाले पर-माणु तेजस्वी व बलवान होंगे और वे ध्येयावृत्ति के स्पष्ट हो जाने के वाद उसके नासिक रन्ध्रों से निकलते रहेंगे। इधर ध्याता के परमाणु दुर्बल होने से व वीतराग पुरुष के सवल परमाणु उन परमाणुओं को अपने अन्दर विलीन कर लेंगे। परिणाम-स्वरूप उस वीतराग पुरुष के तेजस्वी परमाणु भी साधक के अन्दर संचालित होने शुरू हो जायेंगे। इसका परिणाम यह निकलेगा कि साधक को तदाकार वृत्ति वहुत ही जल्दी उपलब्ध हो जायेगी। भगवान पतंजलिदेव के वतलाये हुए तीन अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान, समाधि में से धारणा केवल मात्र ध्येय की कल्पना का ही विषय है। जिस समय ध्येय विल्कुल स्पष्ट दीखने लग जाये वह ध्यान कहलाता है और जिसमें

वृत्ति तदाकार बन जाये वही समाधि है। जिसके विषय में भगवान पतंजलिदेव ने स्पष्ट लिखा है :–

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधि ॥

जिसमें ध्येयमात्र भासित होता रहे और अपना स्वरूप न के मात्र बोध में आये उसी का नाम समाधि है। समाधि की ही उत्कृष्ट स्थिति को संयम कहते हैं। इस प्रकार जो लोग योगाङ्गों का पालन करते हुए अपने अभ्यास को परिपक्व बनाते जाते हैं वे अवश्य ही समाहित चित्त हो जाया करते हैं और थोड़े समय में ही मन की एकाग्रता की ताकतें उनके सामने आने लगती हैं। साधन योग की बहुत सी विधियाँ हमारे शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्थलों पर लिखी हैं। उनका प्रसंगानुसार आगे वर्णन किया जायेगा। आज संसार में कुछ इस प्रकार का प्रचार हो गया है कि लोग योग के कठिन साधनों को ही साधन श्रेणी के अन्तर्गत मानते हैं। इसके विपरीत जो साधन अत्यन्त सरल हैं और हर व्यक्ति के लिए सुलभ हैं उनको साधनहीन मानकर एवं उपेक्षा करके अमूल्य निधि को खो बैठते हैं। जिन साधनों के हम अधिकारी नहीं हैं उनमें पादप्रक्षेप करने से लाभ की अपेक्षा हानि उठानी पड़ती है। अधिकांश लोगों की यह धारणा है कि खेचरी, भूचरी, प्राणायाम या हठयोग से सम्पादित होने वाली कच्छपी आदि मुद्रायें ही समाधि द्वार तक पहुँचाने वाले प्रमुख साधन हैं, किन्तु ये साधन उत्तम अधिकारियों के लिए हैं। जो लोग पूर्ण ब्रह्मचारी हैं, संयमी है। सरल चित्त एवं परोपकार परायण हैं वही लोग इन कठिन साधनों के अधिकारी हैं। जो मन लगाकर वर्षों तक इनको करते रहें और परिणाम की कोई परवाह न करें। रास्ते पर चलने वाला मनुष्य अपने लक्ष्य पर तो पहुँचेगा ही किन्तु हो सकता है कि यदि उसकी गति मन्द है, तो समय कुछ लम्बा लग जायेगा। इसलिए हर साधक को चाहिए कि वह क्षिप्त फलदायी सिद्धि शक्तियों से चमत्कृत करने वाली हर विद्या की ओर अपना पैर न बढ़ाये किन्तु राजयोग के सरलतम साधन स्वाध्याय और आत्मचिन्तन आदि का अवलम्ब लेकर के अपने आपको परमश्रेय की ओर ले जाये। हमारे आचार्यों ने आज्ञा दी है :–

स्वाध्यायात् योगमासीत योगात्स्वाध्याय मामनेत्।
स्वाध्याययोग सम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ॥

अर्थात्–साधक को चाहिए कि स्वाध्याय से योग को प्राप्त हो और योग से स्वाध्याय का मनन करे अर्थात् ध्यान करे। इस प्रकार स्वाध्याय और योग दोनों की सम्पत्ति से परमात्मा का प्रकाश हो जाया करता है। स्वाध्याय की महिमा बतलाते हुए भगवान पतंजलिदेव ने अपने मुखारविन्द से योगदर्शन में बतलाया है कि :–

स्वाध्यायायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः ।

देवाऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं यच्छन्ति कार्य्ये चास्य वर्तन्त इति ॥

अर्थात्–स्वाध्यायशील व्यक्ति को इष्टदेवता के दर्शन होते हैं। देवता ऋषि एवं सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति के सामने जाया करते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। हमारे शास्त्रों में साधन योग के दो भिन्न-भिन्न अंग हैं। एक वह साधन है जो मनोलय करते हैं और दूसरा वह साधन है जो प्राण को लय करते हैं। प्राण और मन का विल्कुल अभिन्न सम्वन्ध है। शास्त्र कहता है :–

यत्र मनोलीयते तत्र प्राणोलीयते ।
यत्र प्राणोलीयते तत्र मनोलीयते ।

अर्थात्–जहाँ मन लय हो जाता है वहाँ प्राण लय हो जाता है और वहाँ पर मन लय हो जाया करता है। प्राण को लय करने वाले साधन प्राणायाम आदि कठिन साधनों का विषय है किन्तु मन को ही लय करने वाली साधनाओं का विषय वहुत ही सरलतम है जिसके करने से प्राण लय हो ही जाएगा। जिसमें से स्वाध्याय का विषय इतना उपयुक्त है कि उसके करने से मन्दाधिकारी भी जल्दी से जल्दी स्थिति को पा जाता है। स्वाध्याय के दो भिन्न-भिन्न अंग हैं और वे दोनों ही साधना को वड़ा वल देते हैं। पतंजलि योगदर्शन के व्यास भाष्य में भगवान व्यासदेव ने अपनी स्वाध्याय के दो रूप इस प्रकार वतलाये हैं :–

प्रणवादिपवित्रमन्त्राणां जपः स्वाध्यायः ।
अथवा मोक्षशास्त्राणामध्ययनंवा स्वाध्यायः ॥

अर्थात्–ओंकार आदि परमात्मा के पवित्र नामों का जप करना स्वाध्याय कहलाता है और दूसरा मुक्तिदाता शास्त्रों का पाठ करना स्वाध्याय है।

इस प्रकार उपनिषद, गीता, सहस्रनाम, रामायण आदि का पाठ करना भी स्वाध्याय कहलाता है। जो मनुष्य स्वाध्याय के अंगों को समझकर उनका अवलम्व लेते हैं और शास्त्रोक्त प्रणाली से चलने का प्रयत्न करते हैं उनको वहुत जल्दी समाधि लाभ हो जाया करता है। स्वाध्यायशील सन्तों का अनुभव है कि जो लोग किसी मन्त्र का जप ध्वनि को सुनते हुए करते हैं, कुछ दिन के वाद वही जप उपांशु रूप धारण कर लेता है। अर्थात्–होंठ फड़कते मालूम पड़ते हैं, किन्तु आवाज किसी को सुनायी नहीं देती है। इस प्रकार किसी मन्त्र का निरन्तर जाप करने के वाद वह मन्त्र मन में प्रवेश कर

जाता है और चार-छः महीने जाप हो जाने के वाद वह मन्त्र बुद्धि में प्रवेश कर जाता है। स्वाध्यायभ्यसन की इसी तीव्रतम साधना के वाद स्फुट प्रज्ञालोक होने लगता है और सम्प्रज्ञात समाधि में योगी अनायास प्रवेश कर जाता है और तव स्वाध्याय के अर्थ का मनन अपने आप होने लगता है। इसीलिए ऊपर के श्लोक में कहा गया है :—

स्वाध्यायद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याय से योग को प्राप्त हो अर्थात्—समाधि को प्राप्त हो और समाधि से स्वाध्याय का मनन करे। स्वाध्याय और समाधि दोनों के वल से परमात्मा का प्रकाश अवश्य होता है। हमारे वहुत से सन्तों का विल्कुल ठीक इसी प्रकार का अनुभव है। उन्होंने मन लगाकर स्वाध्याय को वढ़ाया और बीच-बीच में स्तोत्रों का पाठ करते रहे। स्तोत्रों के पाठ के वाद ध्यान लगाते रहे। अपनी साधना का क्रम दिन भर के लिए जिन्होंने वना लिया, उनको अवश्य अवश्य "इष्टदेवता सम्प्रयोग" होकर ही रहा। एक जगह पर एक महात्मा निवास करते थे और वे अजपा जाप किया करते थे। वे अजपा जाप प्रातःकाल लगभग ५ वजे से लेकर अनवरत करते रहते थे। उसका परिणाम उनके सामने यह हुआ, लगभग ६ मास के अनवरत अभ्यास के वाद स्वाभाविक दिव्य नाद श्रवण होने लगा और उनको जल्दी ही लीनता प्राप्त हो गयी।

नास्ति नाद सदृशोलयः

यह उनके अजपा जाप की साधना थी। इसके फलस्वरूप उनको नादानुभूति हुई। एक और महात्मा दूसरे स्थान में भगवान शिव की आराधना करते थे। पहले-पहले साधना में कई अन्तराय तो आते रहे किन्तु महात्मा तपस्वी थे उन सव को सहन कर गये और अन्त में उनको साधना के फलस्वरूप पहले तो भगवान शिव के दर्शन स्वप्न में होने लगे और कालान्तर मे स्वाध्याय का वल बढ़ जाने पर जप करते-करते उनका अनायास ही ध्यान लगने लग गया। अन्त में इस स्थिति तक वे पहुँचे कि उनको भगवान शिव के स्थूल दर्शन खुली आँखों से भी प्राप्त हुए, किन्तु साधना की उत्कृष्टता न होने से किसी प्रकार का वरदान व सम्भाषण आदि नहीं हो सका। इसी प्रकार से और भी वहुत से अन्य सन्तों के भी अनुभव हैं। उन्होंने अपनी विभिन्न प्रकार की साधनायें कीं। जिसका परिणाम उत्तमोत्तम रहा। किन्तु एक वात अवश्य है। हमें शास्त्र आज्ञा करता है :—

सः तु दीर्घकाल नैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढ़ भूमिः ॥

इस सूत्र पर व्यासदेव भाष्य करते हैं।

दीर्घकालासेवित:, निरन्तरासेवित: तपसा ब्रह्मचर्य्येण विद्ययाश्चद्धया च सम्पादित: सत्कारवान दृढ़भुमिर्भवतिव्युत्थान संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूत विषय इत्यर्थ: ।।

अर्थात्–मनुष्य कोई भी साधन करे उसको तीन वातों का ख्याल करके अभ्यास को वढ़ाना चाहिए ।

(१) सतु दीर्वकाल सेवितो दृढ़ भूमि: ।

अर्थात्–इस अभ्यास को हम तप और ब्रह्मचर्य पूर्वक लम्बे समय तक करें तो उसका परिणाम सामने अवश्य आयेगा ।

(२) सतु नैरन्तर्य्य सेवितो दृढ़ भूमि: ।

अर्थात्–तप और ब्रह्मचर्य पूर्वक उस अभ्यास को लगातार किया जाये तव वह जल्दी ही अपने शुभ परिणाम को दिखायेगा ।

(३) सतु सत्कारा सेवितो दृढ़ भूमि: ।

अर्थात्–वह अभ्यास तप ब्रह्मचर्य के साथ होते हुए भी आदर पूर्वक किया हुआ, निष्ठापूर्वक किया हुआ अपने शुभ परिणाम को जल्दी दिखायेगा । साधक के मन में यह निष्ठा होनी चाहिए कि मैं जो अभ्यास कर रहा हूँ । वह उत्तमोत्तम फल को देने वाला एवं परम श्रेयष्कर है । इस निष्ठा को रखते हुए अपने अभ्यास को लगातार करता रहे और लम्बे समय तक करता चला जाय । अव तक साधन योग का स्वरूप समझाते हुए कुछ समाधिजनक उपयुक्त साधनों का वर्णन किया गया है इससे आगे मन की एकाग्रता के साधन तथा अष्टांग योग के विविध अंगों का विस्तृत किया जायेगा ।

दूसरा परिच्छेद

क्रियायोग और उसकी साधना

भगवान पतंजलिदेव ने योगदर्शन के साधन-पाद के पहले ही सूत्र में क्रियायोग का वर्णन किया है। क्रियायोग की साधना भी उपाय प्रत्यय से सम्वन्ध रखने वाली ही साधना है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि क्रियायोग की साधना करने वाले साधु-सन्तों ने क्रियायोग के द्वारा अपने आपको समाहित चित्त वना लिया और इस अनुपम साधना के फलस्वरूप प्रयत्नशील साधक अपने लक्ष्य परम श्रेय को प्राप्त करके कृतकृत्य हो गये। योगदर्शन के साधन-पाद में भगवान् पतंजलिदेव ने क्रियायोग का वर्णन इस प्रकार किया है :-

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ।

इस सूत्र पर भाष्यकार श्री व्यासदेव जी निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं :-

नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादि कर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषय-जाला चाशुद्धिर्नान्तिरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसाद-नमवाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते॥ **स्वाध्यायः** प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्रा-ध्ययनं वा॥ **ईश्वरप्रणिधानं** सर्वकर्माणां परमगुरावर्पणं तत्फल सन्यासो वा॥

उपरोक्त भाष्य में श्री व्यासदेव जी लिखते हैं :-

नातपस्विनो योगः सिध्यति ।

योगसाधना के साथ-साथ यदि मनुष्य तप नहीं करता है तो उसको योगसिद्ध होता।

इसका कारण यह है कि अनादिकाल से कर्म-क्लेशादि के द्वारा उपार्जित किया हुआ विषयजाल और इन्द्रियों की महान अशुद्धि का बिना तप के कभी भेदन नहीं हो सकता। अतः योग साधक का तपस्वी होना आवश्यकीय है। मनुष्य को तप किस प्रकार करना चाहिए, इसका संकेत उपरोक्त भाष्य में किया गया है। तप करने वाले मनुष्य को अपने तप की सीमा इतनी बढ़ा लेनी चाहिए जिससे तप का कष्ट उसे परमश्रेय साधना से विचलित न कर सके। तप क्रियायोग की साधना का प्रथम अंग है।

दूसरे अंग में स्वाध्याय की साधना है। स्वाध्याय शब्द का अर्थ है :—परमात्मा के 'ओंकार' आदि पवित्र नामों का जप करना अथवा मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करना। मोक्षशास्त्र के अन्दर गीता, उपनिषद, रामायण, श्रीमद्भागवत्, विष्णुसहस्त्रनाम, शिवसहस्त्रनाम, दुर्गासिप्तशती आदि सद्ग्रन्थ हैं।

क्रियायोग का तीसरा अंग ईश्वरप्रणिधान है। "सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं" अर्थात् अपनी समस्त क्रियाओं को परम गुरु ईश्वर के अर्पण कर देना एवं कर्मफल को न चाहना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

क्रियायोग का फल वताते हुए श्री पतंजलिदेव ने इस सूत्र की रचना की है :—

समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनू करोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्धबीज कल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति, तेषां तनूकरणात्पुनः क्लैशैरपरामृष्टा सत्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति॥

क्रियायोग का अभ्यास क्लेशों का तन्वीकरण करता है और समाधि की पुष्टि करता है। क्लेशों का तन्वीकरण हो जाने के वाद विवेकख्याति के वल से उनकी बीज शक्ति को नष्ट करके साधक उन क्लेशों को अप्रसवधर्मी वना देता है। क्लेशों के तन्वीकरण के अनन्तर उनसे अपरामृष्ट सत्वपुरुषान्यता ख्याति मात्र होकर गुणों का गुणों में लय हो जाने के वाद विवेक ख्याति चमक उठती है और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

अव इन तीनों अंगों का पृथक्-पृथक् परिणाम शास्त्रीय पद्धति से समझने का प्रयत्न कीजिए। तप की परिभाषा क्या है? इस विषय में योगाचार्य वतलाते हैं :—

द्वन्दसहनं तपः।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। द्वन्द्व का क्रिया-कलाप पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन के अन्दर पूर्णरूपेण विद्यमान रहता है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है :—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे, रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौ, ह्यस्य परिपन्थनौ॥

इन्द्रियों के सामने उनके सुखदायक विषय रहा करते हैं। अतः साधक को चाहिए कि इन्द्रियों के उस वासनिक सुख को दृढ़ न करे, क्योंकि वह उसके रास्ते की रुकावट है। अच्छा अलाप सुनकर कर्णेन्द्रिय का सुखी होना तथा विलाप-प्रलाप आदि सुनकर दुःखी होना यह कर्णेन्द्रिय का द्वन्द है। इसी प्रकार अच्छे रूप को देखकर प्रसन्न होना और किसी कुरूप को देखकर अप्रसन्न होना यह नेत्रेन्द्रिय का द्वन्द है। किसी अच्छे स्पर्श को पाकर सुख मानना और कठोर स्पर्श को पाकर दुःख मानना यह त्वगेन्द्रिय का द्वन्द है। सुस्वाद पदार्थ को पाकर सुख मानना एवं स्वादरहित पदार्थ को पाकर दुःख मानना यह रसनेन्द्रिय का द्वन्द है। दिव्य सुगन्ध को पाकर सुख अनुभव करना और दुर्गन्ध को पाकर दुःखी होना यह घ्राणेन्द्रिय का द्वन्द है।

इन्द्रियों के द्वारा सुखद अनुकूल विषयों में प्रेम करके मन में आह्लाद पैदा होता होता है एवं विपरीत विषयों को प्राप्त करके दौर्मनस्य पैदा होता है। यह मानस द्वन्द है।

इन्द्रियों और मन से सम्बन्धित किसी प्रकार का द्वन्द यदि साधक के सामने उपस्थित होता है तो उसका परम कर्त्तव्य वन जाता है कि वह उस सुख-दुःखादि के जोड़े को सहन करने की आदत डाले। यदि वह अपनी आदत को परिपक्व कर लेगा तो उसको सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि का द्वन्द किसी भी प्रकार से पीड़ित नहीं कर सकेगा। थोड़े दिन की साधना के वाद वह यह अनुभव करेगा कि उसके शरीर या मन पर द्वन्दों का अच्छा या बुरा कोई भी प्रभाव नहीं पड़ रहा है और वह निर्द्वन्दता को प्राप्त हो गया है।

इन्द्रियों के द्वन्दों का मैंने उपरोक्त पंक्तियों में वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त मन में और भी अनेक प्रकार के वासनिक द्वन्द पैदा होते रहते हैं। स्त्री, अन्न-पान आदि का सेवन करना मन को सुखद आभासित होता है और इनका छूट जाना दुःखदायी होता है। इसलिए आनन्दकन्द विश्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने श्रीमद्भगवद्गीता के १७वें अध्याय में त्रिविध तपों का वर्णन किया है :–

शारीरिक तप

देवद्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

देवता, ब्राह्मण तथा गुरुदेव की पूजा करना, हर प्रकार की पवित्रता रखना, नम्रता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा व्रत का पालन करना यह शारीरिक तप कहलाता है।

इन सबके अन्दर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना महान से भी महान तप है। युवावस्था और उसमें कामोद्वेग, उसमें भी भोग सामग्री का सान्निध्य इन तीनों के उपस्थित होने पर भी जो पुण्यवान व्यक्ति कामोद्वेग को सहन कर जाता है वह सचमुच युक्त योगी है एवं सब प्रकार से सुखी है। भगवान् ने गीता में कहा है :–

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
काम क्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

अर्थात्–जो मनुष्य काम, क्रोधादि के वेग को देह त्याग करने से पहले ही सहन कर लेता है वह सब प्रकार से युक्त है एवं सुखी है। जो मनुष्य काम, क्रोधादि के वेग को सहन करता हुआ अपने मार्ग पर ठीक-ठीक चलता रहता है, वह मनुष्य महान तपस्वी है और मौत को जीतने वाला है। शास्त्र का कथन है :–

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।

ब्रह्मचर्य और तप की शक्ति से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया। यह शारीरिक तप का उत्कृष्ट परिणाम है।

वाङ्मय तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

जो मनुष्य अपने जीवन में किसी को दुःखदायी वचन नहीं बोलता है, प्राणिमात्र का हितचिन्तक रहता है और प्रतिक्षण स्वाध्याय का अभ्यास करता रहता है समझ लेना चाहिए कि उस मनुष्य ने वाङ्मय तप पर अपना पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया है।

वाङ्मय तप एवं वाक्सिद्धि

योगदर्शन में कहा गया है :–

सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति की वाणी क्रियाफल वाली हो जाती है। वह जो कुछ भी कहता है वही बात पूर्ण हो जाती है। इस सूत्र पर व्यासभाष्य की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :–

धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः, स्वर्गं प्राप्नुहीति स्वर्गं प्राप्नोति अमोघाऽस्य वाक् भवति।

इस प्रकार वाङ्मय तप का पारंगत योगी जिसके लिये जिस प्रकार की वाणी का उच्चारण करता है वह वैसी ही फलवती हो जाया करती है। यही वाक् सिद्धि है।

मानस तप

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।

मन का खुश रहना, सौम्य गुणों को धारण करना, मौन धारण करना, अपने आप पर नियन्त्रण करना, भावों का शुद्ध होना मानस तप कहलाता है। जो मनुष्य अपनी मानस निर्मलता को बढ़ा लेता है उसके मन में हर समय आह्लाद बना रहता है। उसे कभी भी क्लेश प्राप्त नहीं होता।

तप का उत्कृष्ट परिणाम बताते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने योगदर्शन में लिखा है :–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धि क्षयात्तपसः ।

तप द्वारा योग साधक को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धि उपलब्ध होती है।

क्रियायोग का दूसरा अंग स्वाध्याय है। स्वाध्याय का अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है।

परमात्मा के ओंकार आदि पवित्र नामों का जप करना एवं मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करना ये स्वाध्याय के विशेष अंग हैं।

स्वाध्याय की विधि एवं उसका फल

ऊँची ध्वनि से मन्त्र का जप करना। जिनका मन बिल्कुल एकाग्र नहीं होता है वे लोग यदि प्रणव या प्रणवात्मक किसी दूसरे मन्त्र का उच्च स्वर से बोल-बोलकर जप करते हैं तो थोडे समय के बाद ही वह जप उपांशु जप के रूप में परिवर्तित हो जाता है। साधक होठों को हिलाते हुए जीभ से मन्त्र का उच्चारण करता है, किन्तु आवाज बाहर नहीं निकल पाती।

यही जप कालान्तर में मानस जप के रूप में बदल जाया करता है। यह मानस जप भी निरन्तर करते रहने पर स्फुट प्रज्ञालोक का कारण बन जाता है और उसका अन्तिम परिणाम आत्म-दर्शन होता है। साधारण स्वाध्यायशील व्यक्ति के लिये स्वाध्याय का फल योगदर्शन में इस प्रकार बतलाया गया है :–

स्वाध्यायादिष्ट देवतासम्प्रयोगः ।

स्वाध्यायशील व्यक्ति को इष्टदेव का अनुग्रह प्राप्त होता है।

इसके पश्चात् क्रियायोग का तीसरा अंग ईश्वरप्रणिधान है । ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है :–

सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फल सन्यासोवा ।

मनुष्य अपनी समस्त क्रियाओं को परम गुरु परमात्मा के अर्पण करता रहे या उसके फल को छोड़ दे । यही ईश्वर प्रणिधान कहलाता है ।

अखिल लोक पावन जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने निम्नांकित श्लोक में ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप समझाते हुए आदेश किया है :–

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय, तत्कुरूष्व मदर्पणम् ॥

हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ खाता है और जो तप करता है वह सब मेरे अर्पण कर दे । इसी भाव की पुष्टि के लिए १८वें अध्याय के अन्त में अर्जुन को पुनः आदेश किया :–

सर्वधर्मान्यपरित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इस प्रकार से जो लोग ईश्वर प्रणिधान करते हैं उनको अवश्यमेव समाधि सिद्ध हो जाती है । ईश्वर प्रणिधान करने से, उनके नाम का जप करने से ईश्वर जीव के सम्मुख आ जाया करता है और उसको अभिमत वस्तु दे दिया करता है । योगदर्शन कहता है :–

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ।

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुग्रह्णात्यभिध्यानमात्रेण इदमस्याभिमतमस्तु इति ।

ईश्वर को आत्म निवेदन करने से ईश्वर साधक के सामने आ जाता है और उसे अनायास ही समाधि लाभ हो जाता है । समाधि सिद्धि ही परम श्रेय की प्राप्ति है ।

इस प्रकार जो लोग क्रियायोग की साधना करते रहते हैं वे क्रमशः उन्नति करते हुए अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं ।

जो लोग यथार्थ में उपाय प्रत्यय के अभ्यासी हैं और अपने आपको चरम लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए पूर्णरूपेण कटिवद्ध हैं वे भगवान पतंजलिदेव द्वारा वतलाये हुए इस क्रियायोग का अभ्यास करके अपने आपको अवश्य ही कृतार्थ कर सकते हैं।

यह क्रियायोग निम्न श्रेणी के साधकों को भी उच्चतम प्रगति का दाता है। इसकी यह विशेषता है कि यदि साधक इसके एक अंग की साधना करता हुआ चलता है तो दूसरे अंग का अधिकार उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

उपरोक्त नियमानुसार साधक ज्यों-ज्यों तपश्चर्या की ओर लगता है तो तप के द्वारा इन्द्रियों के मल जल जाने पर उसे दूरदर्शन, दूर-श्रवण आदि सिद्धियाँ तो उपलब्ध होती ही हैं साथ ही अन्तःकरण इतना शुद्ध हो जाता है कि विना प्रयास के ही स्वाध्याय होने लग जाता है। स्वाध्याय के निरन्तर अभ्यास से ईश्वरप्रणिधान की भावनायें पूर्णरूपेण जाग्रत हो जाती हैं। शनैः शनैः वह साधक ईश्वर को पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण कर देता है। परिणामस्वरूप उसे अनायास ही समाधि सिद्ध हो जाती है। समाधि ही योगियों का चरम लक्ष्य है। समाधि का अर्थ है :–

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनः।

जीवात्मा और परमात्मा की अभिन्नता ही समाधि है। इसी का नाम तत्वज्ञान है और इसी का नाम परागति है।

पाँच-क्लेश

पातंजलि योगदर्शन का सिद्धान्त है –

क्लेशैरपरामृष्टा सत्पुरूषान्यता ख्यातिः, सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधिकाराः प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति।

अर्थात्–क्लेशों से मुक्त हुई सत्पुरूषान्यता ख्यातिमात्र के बोध से प्राप्त हुई समाप्ताधिकार वाली सूक्ष्मा प्रज्ञा लय हो जाया करती है। इस वात को उदाहरणपूर्वक यूँ समझ लेना चाहिए :– जैसे लकड़ियों का वहुत वड़ा ढ़ेर पड़ा हो और उसमें कोई आग लगा दे। संरक्षक लोग उसमें से कुछ भाग को अग्नि से दूर कर दें तो वे लकड़ियाँ सुरक्षित रह सकती हैं। क्योंकि जलती हुई लकड़ियों से उनका स्पर्श नहीं रहा, इसलिए जलती हुई लकड़ियाँ समाप्ताधिकार हो गईं। दूर हटाये गये ढ़ेर से उनका कोई सम्वन्ध नहीं रहा। ढ़ेर जलकर राख हो चुका है वह ढ़ेर कुछ दिन में जमीन में ओतप्रोत हो जायेगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का विवेक-ज्ञान हो जाने के वाद क्योंकि वुद्धि गुणात्मिका है, इसलिए उसका गुणों में अवस्थान हो जायेगा और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जायेगा। इसी का नाम सत्पुरुषान्यता ख्यातिमात्र वोध है। यह तव तक संभव नहीं हो सकेगा जव तक क्लेशों का संयोग वना रहेगा।

अतः योगी को चाहिए कि वह क्लेशों का रूप समझ ले और उसके वाद क्लेश-निवृत्ति का उपाय करे।

क्लेश स्मृति ही सत्पुरुषान्यता ख्याति का मूल कारण वनेगी। क्लेशों का स्वरूप योग-दर्शन में इस प्रकार वतलाया गया है :–

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशा पंच क्लेशाः।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।

क्लेशा इति पंच विपर्य्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं दृढ़यन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति कार्यकारणस्रोतउन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्री भूत्वा कर्मविपाक चाभिनिर्हरन्ति इति।

ये पाँच क्लेश वढ़ते हुए गुणाधिकार को दृढ़ करते हैं और परिणाम दिखाते रहते हैं। कर्म-वासना आदि के संस्कारों को क्रमशः वढ़ाते रहते हैं तथा एक दूसरे के

सहकारी होकर कर्म-फल को तैयार करते हैं । अतः कर्माशय क्लेशमूलक है । क्लेश ही कर्माशय को जन्म देने वाले हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने योग-दर्शन में स्पष्ट कहा है–

क्लेश मूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः ।

दृष्ट-अदृष्ट जन्मों के कर्मफल का दाता हमारा क्लेशमूल कर्माशय ही है । किसी प्रकार से क्लेशों का नाश हो जाय तो मनुष्य को मुक्ति में कुछ भी विलम्ब नहीं। ऊपर हम वतला चुके हैं कि–क्लेश पाँच प्रकार के हैं।

उसमें सवसे पहला क्लेश अविद्या है। अविद्या का स्वरूप भगवान् पतंजलिदेव ने इस प्रकार वतलाया है :–

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।

अनित्य को नित्य समझना, अपवित्र वस्तु को पवित्र समझना, दुःखों को सुख समझना और अनात्म वस्तुओं को आत्मा समझना यह अविद्या कहलाती है । इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी अपना भाष्य इस प्रकार लिखते हैं :–

अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः । तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौवस इति ।

तथा अशुचौ परम बीभत्से काये शुचिख्यातिः । उक्तं च :–

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमोधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।।

इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते । नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृताव-यवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोच-नाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्वन्धः, भवति चैवमशुचौ शुचिविप-र्यास प्रत्यय इति । एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थ प्रत्ययो व्याख्यातः ।

तथा दुःखे सुखख्याति वक्ष्यति–परिणाम ताप संस्कार दुःखै र्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव विवेकिन इति । तत्र सुखख्यातिरविद्या ।

तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति । तथैतदत्रोक्तम्व्यक्तमव्यक्तं वा

सत्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दयत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापादमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्यमानः स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति ।

एषा चतुष्पदा भवत्यविद्यामूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति । तस्याश्चामित्रागोष्पदवस्तुसतत्वं विज्ञेयम् । यथानामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किं तु तद्विरूद्धः सपत्नः । तथाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो न गोष्पदमात्रं किंतु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम् । एवमविद्या न प्रमाणं न प्रमाणाभावः किं तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति ।

अनित्य पदार्थों में नित्यता का भान होना । जैसे जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति इन मूल उपादान कारण से भिन्न समस्त पदार्थ कारण रूप हैं । उनमें नित्यता का भास होना विल्कुल अविद्या है जैसे कोई कहे–(ध्रुवा पृथ्वी) पृथ्वी सदा रहने वाली है, (ध्रुवा सचन्द्र तारकाद्यौ) द्यौ लोक चन्द्र, तारागणों सहित नित्य है, (अमृता दिवौकसः इति) देवलोक में रहने वाले देवता लोग सदा अमर हैं । इन सवमें पृथ्वी न रहने वाली है किन्तु उसको सदा रहने वाली कहा गया है, इसी प्रकार समय आने पर नष्ट होने वाले तारागणोंसहित अन्तरिक्ष लोक को नित्य कहा गया है ।

वस्तुतः ये सव अनित्य हैं और इनमें नित्यत्व की अनुभूति ही अविद्या है । इसी प्रकार देवताओं को लोग अमर कहते हैं, किन्तु जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र जी गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं, कि –

ते तं भुक्त्वा स्वर्गं लोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति ।

स्वर्गीय देवता भी स्वकीय पुण्यफल के उपभोग के वाद पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः मनुष्यलोक में जन्म धारण करते हैं । अतः उनका देवत्व अमरत्व भी पुण्यविशेष का फल होने के कारण अनित्य रहा । जव तक पुण्य है तव तक वे लोग अमर हैं । ज्योंही पुण्य खत्म हुआ त्योंही उनका अमरत्व भी जाता रहा । यह है अनित्य वस्तुओं को नित्य समझना ।

इसी प्रकार अपवित्र वस्तु में पवित्र बुद्धि रखना । जैसे–हमारा शरीर अत्यन्त अपवित्र एवं अशुद्ध है उसमें शुद्धि की भावना का होना महान अविद्या है । जैसे :–

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निष्यदान्निधनादपि ।

हमारा शरीर माता के उदर से पैदा हुआ । वह स्थान ही मल-मूत्रादि से पूरित होने के कारण महा अशुद्ध था । इसी प्रकार माता का रज और पिता का वीर्य अशुद्ध

होने के कारण बीज की भी अशुद्धि ही थी। खान-पान का रस जो इसकी पुष्टि का कारण है वह भी अशुद्ध ही है। निष्यन्द (पसीना) तथा निधन (मृत्यु) आदि अपवित्रता इस अपवित्र शरीर के अन्दर रहती है, किन्तु हम लोग 'विषकुम्भं पयोमुखम्' के नियमानुसार वाहर से सुन्दर एवं अन्दर से अत्यन्त घृणित इस शरीर को पवित्र मानकर प्यार करते हैं, लिपटते हैं, सूँघते हैं, चिपटते हैं, उत्कृष्ट पवित्र की भावना करते हैं और समझते हैं कि यह शरीर चन्द्रकला के समान पवित्र है मानो इसे चन्द्रमा को तोड़कर वनाया गया हो। यह सव उस अपवित्र के अन्दर पवित्रता की भावना रूप अविद्या है। इसी प्रकार अपुण्य के अन्दर पुण्य की भावना, अर्थ के अन्दर अनर्थ की भावना तथा दुःखों के अन्दर सुख की भावना घोरतम अविद्या है।

योगदर्शन में चार प्रकार के दुःख वतलाये गये हैं:—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।

परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्ति विरोध के कारण विवेकी पुरुष के लिये सव कुछ दुःखरूप ही है। किन्तु मनुष्य उन दुःखों को भोगने का इतना आदी हो गया है कि—उसे उनमें दुःख महसूस नहीं होता।

जैसे प्रातःकाल उठ करके हम लोग मल-मूत्रोत्सर्ग के लिये वाहर जाते हैं एवं जव तक मल-मूत्रोत्सर्ग कर नहीं लेते तव तक दुःख की अनुभूति मन में होती रहती है। इसी प्रकार से भूख और प्यास की अनुभूति हमें नित्य होती है तथा उसकी निवृत्ति के लिये हम लोग अन्न-जलादि ग्रहण करते हैं। कदाचित् किसी दिन भूख न लगे तो समझदार व्यक्ति उसके लिये साधन करते हैं, दवाइयाँ खाते हैं, व्यायाम करते हैं। इस प्रकार मनुष्य भूख के उस दुःख को दुःख नहीं समझता प्रत्युत उसे वार-वार अपनाने का प्रयत्न करते हैं। इसका भी एकमात्र कारण अविद्या ही है।

इसी प्रकार अनात्म वस्तुओं को आत्मत्वेन देखना, जैसे कोई हमारा रिश्तेदार, कुटुम्बी यदि आह्लाद वढ़ाने वाली वात करता है तो हम उससे कह उठते हैं—अरे भाई! तुम तो मेरी आत्मा हो। वस्तुतः वह आत्मा नहीं है। क्योंकि आत्मा अव्यक्त वस्तु है और यहाँ अनात्म स्थूल शरीर को आत्मा कहकर पुकारा जा रहा है। इसी का नाम अनात्म वस्तुओं में आत्मानुभूति नाम की अविद्या है। यह अविद्या ही जड़ और चेतन में गांठ लगाये हुए है और सभी क्लेशों में महावलवती है।

इसके वाद अस्मिता नाम का दूसरा क्लेश है।

अस्मिता :— अस्मिता का लक्षण योगदर्शन में इस प्रकार किया गया है :—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।

दृग् शक्ति एवं दर्शन शक्ति का एकात्मत्वेन भाषित होना अस्मिता नाम का क्लेश कहलाता है।

व्यास भाष्य :–पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शन शक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता-क्लेश उच्यते, भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूप प्रतिलम्भेतु तयोः कैवल्यमेव भवति कुतो भोग इति।

तथा चोक्तम् :–बुद्धितः परं पुरुषाकार शीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्रात्म-बुद्धिमोहेन इति।

आत्मा की दृग्शक्ति और बुद्धि की दिखाने वाली शक्ति इन दोनों का एकत्वेन भाषित होना ही अस्मिता नाम का क्लेश है। इस बात को निम्नांकित उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है :–

आत्मा एक निर्मल ज्योति है। उसके सामने जड़ वस्तु दर्शन शक्ति आई तो खुद व खुद स्पन्दन होने लगा, वह स्पन्दन आत्मा के निजी तेज के कारण हुआ। आत्मा से शक्ति पाकर बुद्धि चेतन हो गई। यह बुद्धि का आत्मा ने उपकार किया। चेतनता को प्राप्त करके बुद्धि ने आत्मा का प्रत्युपकार करना चाहा तो उसने अपना स्वरूप आत्मा को सोंप दिया। ज्योंही बुद्धि ने आत्मा को अपना स्वरूप दिखाया त्योंही निर्मल ज्योति आत्मा अपने आपको सुखी, दुःखी, स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध आदि समझने लगा। यही वह अस्मिता नाम का क्लेश है जिससे जड़ और चेतन की गाँठ भाषित होने लगी।

राग :–तीसरे क्लेश का नाम राग है जिसका लक्षण इस प्रकार है :–

सुखानुशयी रागः।

सुख का अनुसरण करने वाली चित्त की वृत्ति को राग कहते हैं।

सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति।

सुख की स्मृतिपूर्वक जो चाह है और उसके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे राग कहते हैं। राग भी चित्त की एक वृत्ति है। इसका भी अविद्या से ही सम्वन्ध है।

द्वेष

दुःखानुशयी द्वेषः।

दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृति पूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिरोधोमन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति।

अर्थात् दुःख के अनुभव के पश्चात् जो द्वेषरूपी वासना चित्त में रहती है वह द्वेष नाम का क्लेश कहलाता है। जो व्यक्ति दुःख को जानता है उसको दुःख के चिन्तन-पूर्वक दुःख या उसके साधन में जो विरोध बुद्धि होती है उसी का नाम द्वेष है। यह द्वेष भी अविद्या का ही एक रूप है और कर्माशय का हेतु है।

अभिनिवेश

स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथारूढ़ोऽभिनिवेशः।

मृत्युभय को अभिनिवेश कहा जाता है। यह क्लेश मूर्ख से लेकर विद्वान् तक और कीड़ी से लेकर कुंजर तक सबमें समभाव से रहा करता है। यह भी अविद्या ही है।

सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूत-मरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः। एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभि-निवेशः क्लेशः स्वरसवाही क्रमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानुभूतं मरणदुःखमनुमापयति।

यथा चायमत्यन्तमूढ़ेषु दृश्यते क्लेशः तथा विदुषोऽपि विज्ञात पूर्वापरान्तस्य रूढ़ः। कस्मात् ? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरण दुःखानुभवादियं वासनेति।

मौत के इस भय में विद्वान और मूर्ख सब समान रहते हैं। सभी प्राणियों की यह भावना रहती है कि मैं सदा जीवित रहूँ। मौत के भय को यदि मनुष्य न जाने तो जीवित रहने की भावना भी उसके मन के अन्दर नहीं बन सकती। इस बात को यूँ समझ लेना चाहिए कि किसी अबोध बच्चे की तरफ हम अपना हाथ मारने को उठाते हैं तो बच्चा रोने और डरने लगता है। इसका अर्थ हुआ कि पूर्व जन्म की मृत्यु की स्मृति उसके मन में मौजूद है। इस वासना से ही पूर्व जन्म का बोध होता है। यह वासना पूर्व जन्म के मरने की स्मृति दिलाती है। इसलिए वह किसी आक्रामक प्रभाव को देखकर डरता है, कि मैं पहले भी मरा था, कहीं अब भी वैसे ही न मर जाऊँ। इसी से पूर्वजन्मानुभूत मौत के दुःख का अनुमान होता है। इसी का नाम अभिनिवेश क्लेश है। यह क्लेश जैसा अज्ञानियों में देखा जाता है वैसा ही पूर्वापर के वेत्ता विद्वानों में भी सामान्य रूप से देखा जाता है। क्योंकि उन ज्ञानी और अज्ञानी दोनों में मरण दुःख को अनुभव कराने वाली यह वासना रहती ही है।

इन सब क्लेशों का कारण अविद्या है। इसी को पंचपर्वा विद्या कहा गया है। कर्माशय में चार प्रकार से क्लेश छुपे रहा करते हैं। कुछ क्लेश प्रसुप्त होते हैं, कुछ तनु होते हैं, कुछ विच्छिन्न एवं कुछ उदार हुआ करते हैं। इन सभी का मूल कारण अविद्या ही है। पढ़िये योग-दर्शन के साधनपाद का चतुर्थ सूत्र एवं उस पर व्यास भाष्य :—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।

अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पानां प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम्।

तत्र का प्रसुप्तिः ? चेतसि शक्तिमात्र प्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः। तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पंचमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति। सतां क्लेशानां तदा बीज-सामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य संमुखीभावेऽपि सति न भवत्येषां प्रबोध इति उक्ता प्रसुप्तिः, दग्धबीजानामप्ररोहश्च।

तनुत्वमुच्यते—प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य तेन तेनात्मना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्ना कथम् ? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात्, न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिद् दृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चैत्रो रक्त इत्यन्यासु स्त्रीषु विरक्तः, किं तु तत्र लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति।

विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः। सर्व एवैते क्लेशविषयत्वं नातिक्रामन्ति।

कस्तर्हि विच्छिन्नः प्रसुप्ततनुरुदारो वा क्लेश इति ? उच्यते—सत्यमेवैतत्। किं तु विशिष्टानामेवैतेषां विच्छिन्नादित्वम्। यथैव प्रतिपक्षभावनातो निवृत्तस्तथैव स्वव्यञ्जकाञ्जनेनाभिव्यक्त इति। सर्व एवामी क्लेशा अविद्या भेदाः। कस्मात् ? सर्वेष्वविद्यैवाभिप्लवते। यदविद्यया वस्त्वाकार्यते तदेवानुशेरते क्लेशा विपर्यास प्रत्यय-काल उपलभ्यन्ते, क्षीयमाणां चाविद्यामनुक्षीयन्त इति।

ऊपर की संगति में हम बता चुके हैं कि क्लेशों की प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ये चार अवस्थायें होती हैं। अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश इन चारों की

बीजभूमि अविद्या है। अविद्या से ही चारों क्लेशों की उत्पत्ति होती है। क्योंकि भूमि के विना बीज की उत्पत्ति होती ही नहीं। इसलिए कहा गया है :–

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।

सूत्र के अर्थानुसार प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार स्वभाव वाले क्लेशों का उत्पत्तिस्थान अविद्या ही है।

प्रसुप्त :–जो क्लेश चित्त में बीजभाव से शक्तिरूप में छिपे रहते हैं और विषय के सन्मुख होने पर ही जिनकी जाग्रति होती है वे सव के सव प्रसुप्त क्लेश कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त विवेक ख्याति के वल से जिस योगी के क्लेश दग्धबीज हो गये हैं उनकी उत्पत्ति फिर नहीं होती, क्योंकि 'दग्धबीजस्य कुतः प्रारोहः ?' बीज जल जाने पर उसकी उत्पत्ति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती। इसलिये जिस योगी के क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं वह योगी चरम देह कहलाता है। यह दग्धबीजभावा क्लेशों की पाँचवीं अवस्था है। क्लेशों के रहते हुए भी इस अवस्था में उनका दग्धबीजभाव हो जाने से विषय के सम्मुख होने पर भी उनकी जाग्रति नहीं होती। अतः दग्धक्लेश-बीजों की उत्पत्ति विल्कुल नहीं होती।

तनु :–क्लेशों के तनुत्व को इस प्रकार समझना चाहिए।

प्रतिपक्षभावनोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति।

जैसे क्रोधकाल में मन में राग नहीं रहता ओर राग के समय क्रोध का दर्शन नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि रागी व्यक्ति के अन्दर क्रोध है ही नहीं। प्रत्युत रागकाल में नहीं हैं, रागकाल में क्रोध का तनुत्व है। इसी प्रकार क्रोधकाल में राग का तनुत्व है। अर्थात् रागकाल में क्रोध जाग्रत नहीं होता और क्रोधकाल में राग का स्थान नहीं होता। इसी अवस्था का नाम क्लेशों का तनुत्व है। इससे आगे विच्छिन्नावस्था के क्लेश रहते हैं।

विच्छिन्न :–क्लेशान्तर के द्वारा अभिभूत होकर अवसर पाकर पुनः जाग्रत होने वाले क्लेश विच्छिन्न क्लेश कहलाते हैं।

उदार :–जो क्लेश भोगावस्था में विराजमान रहता है उसको उदार कहते हैं।

उदाहरणार्थं :–कोई व्यक्ति संस्कारकाल के प्रकट होने पर किसी पुरुष या स्त्री में अनुरक्त होता है वह समय उसका उदार काल है, उसमें वह लब्धवृत्ति है। जवकि अन्य क्लेश उस समय क्षीणवृत्ति होते हैं। इन सव क्लेशों का मूल कारण अविद्या ही

एक महान क्लेश है। जब तक अविद्या की निवृत्ति नहीं हो जाती तब तक क्लेशों का अधिकार समाप्त नहीं होता और मोक्ष की साधना नहीं बन पाती। ईश्वर में अविद्यादि क्लेश नहीं हुआ करते और जीव में अविद्या होने के कारण ये सभी क्लेश विद्यमान रहा करते हैं। इसलिए विज्ञ पाठकों को चाहिए कि वे अविद्या निवारण के लिये पूरी तरह संलग्न हो जायें। ताकि मोक्षमार्ग प्रशस्त हो सके।

चौथा परिच्छेद

योगांगों का अनुष्ठान एवं क्लेशनिवृत्ति

महर्षि पतंजलिदेव ने योगाङ्गों के अनुष्ठान का फल पंचविध क्लेशों की निवृत्ति तथा विवेक ख्याति बतलाया है। विवेक ज्ञान उसी दशा में प्राप्त हो सकता है जबकि रज और तम का नाश होकर सत्व शुद्धि हो जाये और ज्ञान चमक उठे। यथा :–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।

अर्थात्–योगाङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश तब तक होता ही रहता है जब तक कि मनुष्य को पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्ति न हो जाय। इस पर भाष्यकार लिखते हैं :–

योगाङ्गानि अष्टावभिधामिष्यमाणानि। तेषामनुष्ठानात् पञ्चपर्वणो विपर्ययस्याशुद्धिरूपस्य क्षयो नाशः। तत्क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः। यथा यथा च साधनान्यनुष्ठीयन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते। यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्विवर्धते। सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्याविवेकख्यातेः। आगुण पुरुष स्वरूपविज्ञानादित्यर्थः।

योग के आठ अंग हैं। उनको अभ्यास में लाने से पंचपर्वाविद्या जनित अशुद्धि का नाश होता है और अविद्या के नाश हो जाने पर सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। जैसे-जैसे मनुष्य साधनों का अनुष्ठान करता है तैसे तैसे अशुद्धि क्षीण होती चली जाती है और ज्यों-ज्यों अविद्याजनित अशुद्धि क्षीण होती चली जाती है त्यों-त्यों क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञान दीप्ति बढ़ती चली जाती है। जितना-जितना अशुद्धि का नाश होता है उतना ही विवेक ज्ञान बढ़ता जाता है। गुणों से लेकर आत्म-दर्शन हो जाने तक इस विवेक ज्ञान की वृद्धि होती चली जाती है। पुरुष ज्ञान ही विवेक ज्ञान की सीमा है।

यम-नियमों का पालन विवेक ज्ञान का साधन है। यम-नियमों के बाद अष्टाङ्ग-योग में आसनों का स्थान आता है। आसनों के विषय में लोगों की धारणा है कि ये सब केवल शरीर शुद्धि के ही कारणभूत हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं हैं, शारीरिक आरोग्यता प्राप्त कराना तो आसनों का फल है ही, साथ ही उनसे साधक के मानस स्वास्थ्य को भी पूरा-पूरा लाभ पहुँचता है। आसन करने वाले साधक का शरीर

स्वस्थ एवं लम्बे समय तक रहने वाला वन ही जाता है, किन्तु उसके साथ-साथ ज्यों-ज्यों वह आसन-वन्ध मुद्राओं का अधिक अभ्यास करता है त्यों-त्यों उसके शरीर में वीर्य व्यापक हो जाने से मानस-शान्ति एवं आत्मतेज की अभिवृद्धि होती चली जाती है। हमारे आचार्यों ने आसनों का वर्णन करते हुए उनके फलादेश में पारमार्थिक लाभ का भी वहुत वड़ा परिचय दिया है।

देखिये सिद्धासन का फल, योगी आत्माराम ने हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार लिखा है :–

चतुरशीति पीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्त्राणां नाड़ीनां मलशोधनम्।।
आत्मध्यायी मिताहारी यावद् द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासात् योगी निष्पत्तिमाप्नुयात्।।

चौरासी आसनों में से सिद्धासन के अभ्यास को ही प्रमुखतः करना चाहिए जो बहत्तर हजार नाड़ियों के मल का शोधन करता है। इस आसन का वरावर सेवन करते रहने से मनुष्य वारह वर्ष में सिद्धि को पा जाता है।

इसी प्रकार पद्मासन का फल देखिए :–

पद्मासने स्थितो योगी नाड़ीद्वारेण पूरितम्।
मारूतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः।।

पद्मासन में बैठकर जो योगी प्राणायाम करता है उसकी मुक्ति में कोई शंका ही नहीं।

पश्चिमोत्तान का फल :–

इति पश्चिमोत्तानमासनाग्र्यं,
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे,
कार्श्यमरोगतां च पुंसाम्।।

पश्चिमोत्तन आसन प्राणवायु को पश्चिमवाही करता है अर्थात्–सुषुम्णा में पहुँचाता है, जठराग्नि को वढ़ाता है। उदर के मध्य में कृशता लाता है और वल देकर शरीर को आरोग्य प्रदान करता है।

शीर्षासन का फल :—

मुद्रेयं साध्येन्नित्यं जरा मृत्युं च नाशयेत् ।
स सिद्धः सर्वलोकेषु, प्रलयेऽपि न सीदति ।।

शीर्षासन को विपरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। इसके अभ्यास में मनुष्य को अधः शिरोर्ध्वपाद होना पड़ता है। जो मनुष्य इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय पा जाता है और पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है। अतः हमारे योगासन केवल शारीरिक स्वास्थ्य के ही नहीं प्रत्युत आत्मोत्कर्ष के भी दाता हैं। समस्त योगांगों में उत्कृष्ट होने से ये अभ्यास करने वाले को विवेक ख्याति की ओर ले जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अविद्याजनित अशुद्धि के नाश के लिये प्राणायाम सर्वोत्कृष्ट साधन है। योगदर्शन में कहा गया है कि तप द्वारा अशुद्धि नाश हो जाने पर योगी को कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती हैं। तप की व्याख्या करते हुए श्री पतंजलिदेव जी लिखते हैं :—

द्वन्दसहनं तपः ।

सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है। प्राणों पर नियन्त्रण करना भी इस द्वन्द सहन के अन्तर्गत आ जाता है। प्राणायाम को सबसे बड़ा तप कहा गया है। प्राण की महिमा का वर्णन करते हुए हमारे योगाचार्य लिखते हैं :—

प्राणोहि भगवानीशः प्राणो विष्णु पितामहः ।
प्राणेन धार्यते लोकः सर्वं प्राणमयं जगत् ।।

प्राण ही भगवान शिव हैं, प्राण ही विष्णु हैं और प्राण ही ब्रह्मा हैं। प्राण ही सारे संसार को धारण करता है, सारा संसार प्राणमय है। इसलिए प्राण पर नियन्त्रण करना तपों से भी महान तप है और विवेक ख्याति का मूल कारण है। अविद्याजनित क्लेशों की निवृत्ति के लिये प्राणायाम एक अनुपम साधन है।

मनु महाराज अपनी मनुस्मृति में लिखते हैं :—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां यथा मलाः ।
तथैन्द्रियाणां दह्यन्ते मला प्राणस्य निग्रहात् ।।

जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं के मल तपाने से जल जाया करते हैं, इसी प्रकार प्राणों पर नियन्त्रण करने से इन्द्रियों के मल जल जाते हैं।

पांचवां परिच्छेद

प्राणायाम एवं उसकी साधना विधि

हमारे आचार्यों ने अपने आर्षग्रन्थों में प्राणायाम की विविध विधियों का वर्णन किया है, जिन्हें जानकर मनुष्य प्राणायाम को विधिपूर्वक करता हुआ पूर्ण लाभ उठा सकता है। इस विषय में एक वात परमावश्यक है जिसका पालन प्रत्येक योगी साधक को करना चाहिए।

प्राणायाम करने वाले साधक को चाहिए कि– वह प्राणायाम आरम्भ करने से पूर्व योगासनों का पूरी तरह अभ्यास कर ले। योगासन जहां शरीर की आरोग्यता को वढ़ाते हैं वहां वे प्राणायाम की साधना में भी सहायक होते हैं।

अष्टाङ्गयोग में प्राणायाम से पूर्व आसन का निर्देश किया गया है। आसन ही एक ऐसा साधन है जिसके अभ्यास से मनुष्य प्राणायाम का पूरा लाभ उठा सकता है। आसनों के अभ्यासी मनुष्य को आसन-सिद्धि के लिये प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। जव तक आसन पूरी तरह सिद्ध नहीं हो जाता तव तक प्राणायाम की साधना में अन्तरायों की संभावना वनी रहती है भगवान पतंजलिदेव आदेश देते हैं कि आसन सिद्धि सर्वव्यापी अनन्त ब्रह्म में मन लगाने से हुआ करती है। यथा:–

प्रयत्नशैथिल्यादनन्त समापत्तिभ्याम्।

ज्यों-ज्यों साधक का मन भगवान अनन्त में लय होता जायेगा, त्यों-त्यों आसन सिद्धि होती चली जायेगी और उसका परिणाम यह निकलेगा कि योगी के अन्दर द्वन्द-सहन की योग्यता पूर्णरूपेण आ जायेगी। यथा:–

ततो द्वन्दानाभिधात:।

शीतोष्णादिभिर्द्वन्दैरासनजयन्नाभिभूयते।

आसन जय हो जाने के बाद योगी सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि के आघात से प्रभावित नही होता, तभी वह प्राणायाम का अधिकारी वन पाता है। इसीलिए भगवान पतंजलिदेव ने प्राणायाम से पूर्व आसन सिद्धि का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है। देखिए योग-दर्शन साधनपाद का उनचालीसवाँ सूत्र:–

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेद प्राणायामः।

सत्यासनजये वाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः, कोष्ट्यस्य वायोर्निःसरणं प्रश्वासः, तयोः गतिविच्छेदः उभयाभावः प्राणायामः ।

आसन सिद्ध हो जाने के वाद श्वास-प्रश्वास की गति-विच्छेद को प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम को वतलाते हुए महर्षि पतंजलिदेव जी कहते हैं:–

वाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिःपरिदृष्टो दीर्घ सूक्ष्मः ।

इस सूत्र पर व्यासभाष्य :–

यत्र प्रश्वास पूर्वको गत्याभावः स वाह्यः । यत्र श्वासपूर्वको गत्याभावः स आभ्यान्तरः । तृतीयः स्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद् भवति । यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा द्वयोर्युगपद् गत्यभाव इति । त्रयोप्येते देशेन परिदृष्टा इयानस्य विषयो देश इति । कालेन परिदृष्टाः क्षणानामियत्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः । संख्याभिः परिदृष्टा एतावद्भिः प्रश्वाप्रश्वासैः प्रथम उद्घातस्तद्वन्निगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीय उद्घात एवं तृतीयः एवं मृदुरेवं मध्य एवं तीव्र इति संख्यापरिदृष्टः । स खल्वयमेवभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः ।

अर्थात् यह प्राणायाम वाह्यान्तर स्तम्भ वृत्ति भेद से तीन प्रकार का है ।

वाह्य वृत्ति :–नासिकारन्ध्र द्वारा जो प्राण वाहर निकाला जाता है उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद करके शनैः शनैः वाहर निकालना रेचक प्राणायाम कहलाता है । इसी प्राणायाम का नाम वाह्यवृत्ति है ।

आभ्यन्तर वृत्ति :–जो श्वास बाहर आकाश मण्डल से खींचकर अन्दर ले जाया जाता है उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद कर देने से उसे पूरक एवं आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम कहते हैं ।

स्तम्भ वृत्ति :– वाहर की वायु को अन्तर कोष्ठ में ले जा करके उसकी स्वाभाविक गति का विच्छेद कर देना एवं उसे अन्दर रोके रहना कुम्भक या स्तम्भवृत्ति प्राणायाम कहलाता है । ये तीनों प्रकार के प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा वढ़ाये हुए दीर्घ एवं सूक्ष्म हो जाया करते हैं । अर्थात् इनकी गति बहुत लम्बी और अत्यन्त सूक्ष्म हो जाया करती है । ये तीनों प्राणायाम देश, काल और संख्या के द्वारा तीन-तीन प्रकार के हैं ।

प्रथम देश परिदृष्ट रेचक प्राणायाम

जिस समय साधक प्राणायाम का अभ्यास करता है उस समय वह नासिकारन्ध्र से निकली हुई वायु को गौर के साथ देखता रहे कि वह कहाँ तक लम्बी

जाती है। यदि पहले-पहल साधक अपने स्वाभाविक श्वास को देखे कि वह कितनी दूर तक गति करता है तो वह अनुभव करेगा कि उसका साधारण श्वास नासिकाग्र भाग तक ही पहुँच रहा है। ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास वढ़ता चला जायेगा त्यों-त्यों उसके श्वास की गति भी लम्बी होती चली जायेगी।

यदि साधक यह जानना चाहे कि— मेरे रेचक प्राणायाम की गति कितनी लम्बी हो गई है तो वह अभ्यास के प्रथम दिन नासिका रन्ध्र के सामने धुनी हुई रूई रखे तो वह श्वास की रेचन क्रिया से हिल जायेगी। दूसरे दिन जव वह अपने अभ्यास को और ऊँचा उठायेगा तो उससे आगे रखी हुई रूई हिलने लगेगी। रेचक प्राणायाम की गति जव तक वारह अंगुल लम्बी न हो जाये तव तक उसे हल्का समझना चाहिए। जव वारह अंगुल पर रखी हुई रूई श्वास की रेचन क्रिया से हिलने लग जाये तो समझना चाहिए कि योगी का रेचक प्राणायाम दीर्घ-सूक्ष्म अर्थात् लम्वा एवं हल्का वन गया है। यह रेचक प्राणायाम की देश-परिदृष्टता हुई।

आभ्यन्तर वृत्ति प्राणायाम की देशपरिदृष्टता

जिस समय साधक रेचक प्राणायाम के वाद पूरक प्राणायाम करना आरम्भ करता है तो वह देखता है कि भीतर जाने वाले प्राण की गति कहाँ तक होती है। योगी को अपने अभ्यास-काल में श्वास के स्पर्श का ज्ञान स्वाभाविक होता रहता है। यह ज्ञान हर मनुष्य को स्वाभाविक होते रहना चाहिए किन्तु हर व्यक्ति इस ओर ध्यान नहीं देता। अतः वह समझ नहीं पाता है कि उसके श्वास-प्रश्वास की गति शरीर में कहाँ तक पहुंच रही है। योगी साधक जव अपने श्वास-प्रश्वास की गति को देखने लगता है तो उसे अपने साधारण श्वास-प्रश्वास की गति हृदय तक जाती मालूम पड़ेगी। ज्यों-ज्यों वह पूरक प्राणायाम को बढ़ायेगा त्यों-त्यों श्वास की गति को मूलाधार तक जाता देखेगा। यही आभ्यन्तर प्राणायाम की देशपरिदृष्टता है।

स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की देशपरिदृष्टता

जिस समय योगी अपने स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम अर्थात् कुम्भक को वढ़ाता है तो उस समय श्वास की गति का अवरोध हो जाने से रूके हुए प्राण का फैलाव देखता है तो उसको अनुभव होता है कि उसका प्राण नाभिचक्र तक रूका हुआ है। प्रथमाभ्यास में वही प्राण हृदय तक रुका हुआ होता है। इस अभ्यास से योगी जान लेता है कि उसका कुम्भक कहाँ तक और कितना है। यही स्तम्भवृत्ति प्राणायाम की देशपरि-दृष्टता है।

काल परिदृष्टता

काल परिदृष्टता का अर्थ है–समय की अवधि तक प्राण की गति को समझना। जैसे साधक ने प्राण का रेचन आरम्भ किया और वह घड़ी पर देखता रहा कि रेचन कितने मिनट और कितने सैकेण्ड हुआ है, उसके वाद पूरक कितने अधिक समय तक किया गया है और कुम्भक कितने समय तक किया गया है। इस प्रकार के ज्ञान को काल-परिदृष्टता कहते हैं।

संख्या परिदृष्टता

योगी जिस समय अपना अभ्यास प्रारम्भ करे वह मात्राओं को गिनता रहे। १० मात्रा से रेचन किया है तो १५ मात्राओं से पूरक करे और ३० मात्राओं से कुम्भक करे। इस प्रकार अभ्यास की उत्कृष्टता के साथ ज्यों-ज्यों प्राण की गति वढ़ती जायेगी त्यों-त्यों संख्यायें भी वढ़ती चली जायेंगी। इसी का नाम संख्यापरिदृष्टता है।

इसी अभ्यास के क्रम से योगी अपने प्राणायाम को वढ़ाता चला जाये। हमारे योगाचार्यों ने प्राण-वायु के पाँच भेद वतलाये हैं और वे पाँचों प्राण शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में रहा करते हैं। यथाः–

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कंठदेशेच व्यानः सर्वं शरीरगः ॥

हृदय में प्राण का निवास रहता है, गुदा देश में अपान वायु का, नाभिमण्डल में समान वायु का, कण्ठदेश में उदान का और समस्त शरीर में व्यान वायु का निवास रहता है।

जिस समय योगी पूरक प्राणायाम करता है तो प्राण मूलाधार तक जाकर अपान में मिल जाता है और जिस समय योगी रेचन करता है तो अपान-समान के साथ मिलता हुआ प्राण में मिल जाता है। प्राणापान गति रोधन करने से ही प्राणायाम कहलाता है। जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र ने गीता के चौथे अध्याय में अपने मुखारविन्द से कहा है :–

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापान गती रूद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ॥

योगी लोग अपान के अन्दर प्राण का हवन करते हैं और अपान का प्राण के

अन्दर हवन करते हैं। इस प्रकार वे लोग प्राणायाम परायण रहा करते हैं। याज्ञवल्क्य मुनि ने प्राणायाम की परिभाषा इस प्रकार लिखी है :–

प्राणापान समोयोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरक कुम्भकैः ॥

प्राणापान संयोग को ही प्राणायाम कहा गया है। प्राणायाम में रेचक, पूरक कुम्भक में तीन-तीन मात्रायें हैं। जिस प्रकार अकार-उकार-मकार ये तीन मात्रायें मिलकर प्रणव ओंकार वन जाता है, उसी प्रकार रेचक-पूरक-कुम्भक मिलकर प्राणा-याम वन जाता है। प्राणायाम प्रणवमय है। याज्ञवल्क्य महाराज कहते हैं:–

वर्ण त्रयात्मका ह्येते रेचक-पूरक-कुम्भकाः ।
स एव प्रणवः प्रोक्त, प्राणायामश्च तन्मयः ॥

रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीनों वर्णरूप हैं। अर्थात् तीनों में तीन-तीन वर्ण आते हैं, इसलिए यह प्राणायाम प्रणवरूप है। प्राणायाम करने वाले को प्रणव का ही प्रकाश होता है। प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को चाहिए कि वे विधि विधान पूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करें।

यह शास्त्रीय सिद्धान्त सदा ध्यान में रहना चाहिए, कि–

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।

दीर्घकाल सेवितः, निरन्तरासेवितः, तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान दृढ़भूमिर्भवति, व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ।

चाहे किसी प्रकार का अभ्यास क्यों न हों उसमें नियमानुवर्तिता का पालन जरूरी है। लम्बे समय तक किया हुआ, लगातार किया हुआ और विश्वासपूर्वक किया हुआ अभ्यास शीघ्र फलदायी होता है।

प्राणायाम का अभ्यासी यदि धैर्य को छोड़कर शीघ्र फल की कामना करता है तो वह उसके उत्तम फल को नहीं पा सकता। उत्तम फल की प्राप्ति के लिये कर्मठता एवं धैर्य की वड़ी आवश्यकता रहती है। जो लोग फल के लिप्सु वने रहते हैं वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाते। साधक को चाहिए कि वह कर्त्तव्य परायण वना रहे और फल की इच्छा छोड़ दे। भगवान श्रीकृष्ण का आदेश है :–

कर्मण्येवाधिकारस्ते
मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूः,
मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।

कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है, उसके फल में नहीं है। अतः कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और यह भी नहीं होना चाहिए कि– कर्मफल की इच्छा न होने पर मनुष्य कर्म-प्रवृत्ति को ही हटा दे। इसलिए साधक को चाहिए कि– वह कर्मफल की इच्छा को छोड़कर कर्त्तव्य परायण वना रहे। इसी में ही कल्याण है।

प्राणायाम एवं त्रिबन्ध

प्राणायाम के अभ्यासी साधकों को तीनों बन्धों को लगाने की विधि का पूरा ज्ञान होना चाहिए और बन्धों को लगाते हुए ही उन्हें प्राणों पर नियन्त्रण करने का अभ्यास करना चाहिए। हठयोग प्रदीपिका के रचयिता योगी आत्माराम ने तीनों बन्धों का उत्कृष्टता के साथ वर्णन किया है। जिनका ज्ञान प्राणायाम के साधकों के लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। पढ़िये मूलबन्ध का स्वरूप और उसका फल–

पार्ष्णि भागेन संपीड्य, योनिमाकुंचयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य, मूलबन्धोऽभिधीयते ।।
अधोगतिमपानं वा, ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ।।

अर्थात्–पैर की एड़ी के भाग से गुदा और लिंग के मध्य भाग को दबावें और गुदा का ऊर्ध्वाकर्षण करे। इसके साथ ही अपानवायु का मन के दृढ़ संकल्प के साथ ऊर्ध्वाकर्षण करे इसी को मूलबन्ध कहते हैं। यह अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी बनाता है इसलिए योगाचार्यों ने इसको मूलबन्ध कहा है–

गुदं पाष्ठर्या तु संपीड्य, वायुमाकुंचयेब्दलात्।
बारं-बारं यथा चोर्ध्वम्, समायाति समीरणः ।।
प्राणापानौ नाद बिन्दू, मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वायोगस्य संसिद्धि, यत्छतो नात्र संशयः ।।

अर्थात्–पैरं की एड़ी से गुदा द्वार को दबाकर अपान वायु का बलात् ऊर्ध्वाकर्षण करे बार-बार ऐसा करने से वायु का ऊर्ध्वगमन हो जाता है। प्राण और अपान, नाद और बिन्दु दोनों मूलबन्ध के लगाने से एकता को प्राप्त होते हैं। योग की निश्चय सिद्धि प्राप्त होती है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

अपान प्राणयोरैक्यं, क्षयो मूत्र पुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि, सततं मूल बंधनात् ।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते, प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदाऽनल शिखा दीर्घा, जायते वायुनाऽहनना ।।

ततो यातो वह्नयपानौ, प्राणमुष्ण स्वरूपपकम् ।
तेनात्यन्त प्रदीप्तस्तु, ज्वलनो देहजस्तथा ।।
तेन कुंडलिनी सुप्ता, संतप्ता सप्तबुध्यते ।
दण्डा भुजंगीव निश्वस्य, ऋजुतां व्रजेत् ।।

अर्थात्–मूलवन्ध के लग जाने के वाद प्राण अपान की एकता हो जाने पर शरीर में संचित मल-मूत्र का क्षय हो जाता है। अर्थात् प्राणायान के घर्षण से अन्न का रस भाग जल्दी से व्याप्त होने लगता है और प्राणायाम के अभ्यासी को मल-मूत्र वहुत ही थोड़ी मात्रा में होने लगते हैं। इसका परिणाम यह निकलता है कि जीर्ण शरीर वाला अतिवृद्ध भी पुनः यौवन प्राप्त कर लेता है। यह मूलवन्ध का विशेष परिणाम है। क्योंकि ज्योंही प्राण ऊर्ध्व गति करता है त्योंही वायु से ताड़ित हुआ वह्नि मण्डल पूर्णरूपेण प्रदीप्त हो जाता है एवं उससे अग्नि की लाट तीव्रता से निकलने लगती है, फिर वह अग्नि अपान के बल से ऊर्ध्वगति करके प्राण में मिल जाती है एवं प्राणवायु के समागम से देह में प्राप्त हुई जठराग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाती है। इसी के फलस्वरूप महाशक्ति कुंडलिनी जग जाती है जिस प्रकार दण्डे के मारने से कोई सर्पिणी जगकर भागती है।

विलं प्रविष्टेव ततो, ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूल बंधः, कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ।।

अर्थात्–कुंडलिनी जग करके सुषुम्णा विवर में प्रवेश कर जाती है इसलिए योगियों को चाहिए कि इस मूलवन्ध का अवश्य और नित्य अभ्यास करें।

उड्डीयान बन्ध

मूलवन्ध के बाद उड्डीयान बन्ध लगाना चाहिए उड्डीयान वन्ध लगाने की विधि :–

वद्धोयेन सुषुम्नायां, प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं, योगिभिः समुदाहृतः ।।
उड्डीनं कुरुते यस्माद्, विश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र, बंधो विधीयते ।।

उड्डीयान के द्वारा प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है और ब्रह्म रन्ध्र की ओर उड़ान करता है इसलिए योगियों ने इसको उड्डीयान कहा है। जिस प्रकार

से पक्षी आकाश में उड़ान किया करता है उसी प्रकार प्राण भी उड़ान किया करता है इसीलिए इसको उड्डियान कहते हैं।

उड्डियान वन्ध की विधि :–

उदरे पश्चिमोतानं, नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ वन्धो, मृत्युमातंग केसरी ॥
उड्डीयानं तु सहजं, गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत्सततं यस्तु, वृद्धोऽपि तरुणायते ॥

इसमें पेट को पीठ की ओर तनाव दिया जाता है और नाभि से ऊपर की ओर खींच दिया जाता है यह बंध मृत्यु रूपी हाथी के ऊपर केशरी अर्थात् सिंह के समान है। मृत्यु से जिताने वाला है। यह उड्डियान बंध वहुत सरल तरीके से गुरू-पदिष्ट है। जो इसका अभ्यास करते हैं। वे जराजीर्ण हो जाने पर भी यौवन प्राप्त कर लिया करते हैं।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि, तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं, जयत्येव न संशयः ॥
सर्वेषामेव वन्धाना–मुत्तमो ह्युड्डीयानकः।
उड्डीयान दृढ़े वन्धे, मुक्ति स्वाभाविकी भवेत् ॥

अर्थात्–जो योगाभ्यासी प्रयत्न करके नाभि से ऊर्ध्व उत्तान करता है। ऐसा व्यक्ति छः महीने के अन्दर मृत्यु को जीत लेता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। हमारे योगाचार्यों ने इस उड्डीयान बंध को सव वन्धों में उत्तम कहा है। इस योगी साधक ने उड्डियान वन्ध का अभ्यास दृढ़ कर लिया है उसकी मुक्ति स्वाभाविक हो जाती है। मूलवन्ध के वाद में उड्डियान वन्ध लगाने से प्राणायाम ऐक्य होकर प्राण की ऊर्ध्वगति हो जाती है एवं वायु पश्चिम वहन करता है। उड्डियान वन्ध वाह्य कुम्भक में वल देता है इसलिए मूल वन्ध के वाद इसका अभ्यास करना चाहिए। उड्डियान वन्ध के वाद जालन्धर वन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर वन्ध का लक्षण :–

कंठमाकुंच्य हृदये, स्थापयेच्चिवुकं दृढ़म्।
वन्धो जालंधराख्योऽयं जरा मृत्यु विनाशकः ॥
वध्नाति हि शिराजाल मधोगामि नभो जलम्।
ततो जालन्धरो वन्धकंठ–दुखौघनाशनम् ॥

कंठ का संकोचन करके ठोड़ी को छाती में लगा दें जरामृत्यु का विनाशक जालन्धर वन्ध योगियों ने कहा है। यह वन्ध शिर के नाड़ी समूह को वाँधता है और अधोगामी अमृत को रोकता है सारे दु:खों का नाश करने वाला जालन्धर वन्ध नाम का वन्ध कहा जाता है।

जालन्धरे कृते वन्धे, कंठ संकोच लक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ, न च वायु प्रकुप्यति॥
कंठ संकोचनेनैव द्वे, नाड्यो स्तम्भयेद्दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं, षोऽशाधार वन्धनम्॥

जलन्धर वन्ध कर लेने पर ऊपर से गिरने वाला अमृत अग्नि में नहीं गिरता और वायु कुपित नहीं होता। इस जलन्धर वन्ध के कर लेने पर दो नाड़ियों का स्तम्भन स्वभाविक हो जाता है षोऽशाधार को वन्धन करने वाला इसको मध्य चक्र कहा गया है।

मूल स्थानं समाकुञ्च्य, उड्डीयानं कारयेत्।
इडां च पिंगलां वद्ध्वा, वाह्येत्पश्चिमे पथे॥
अनेनैव विधानेन, प्रयाति पवनालयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥
बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं, महासिद्धेश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठ तंत्राणा, साधनं योगिनो विदु:॥

अर्थात्–साधक को चाहिए कि पहले मूल वन्ध लगाये फिर उड्डियान करे। इडा पिंगला को बांधकर वायु को पश्चिम मार्ग से चलावे। इस अभ्यास से वायु लयता को प्राप्त हो जाएगा। इस स्थिति को प्राप्त करने के वाद साधक को जरा मृत्यु का भय कदापि नहीं होता। ये ही तीनों वन्ध महासिद्ध योगी राजों के अनुभूत हैं। यह महा-वन्ध और हठयोग की प्राथमिक ऊँची साधना है। इन वन्धों का वेत्ता योगी कभी भी मौत को प्राप्त नहीं होता। इस प्राणायाम के अभ्यासी को इन तीन वन्धों का अभ्यास अवश्य-अवश्य करना चाहिए। साधक को चाहिए कि प्राणायाम जव करे मूलवन्ध को पहले से लगा लें और वायु का रेचन करते हुए उड्डियान लगाये और आभ्यन्तर कुम्भक कर लेने के वाद जालन्धर वन्ध लगाकर बैठ जाय। इस प्रकार प्राणायाम करने वाले साधक यदि वन्ध के साथ प्राणायाम का अभ्यास करेंगे तो अवश्य मृत्यु को जीत लेंगे और अमरत्व को प्राप्त कर लेंगे।

अष्टविधि प्राणायाम

प्राणायाम के वेत्ता आचार्यों ने अपने अनुभव के आधार पर विविध प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख किया है। वे सभी एक कुम्भक के ही अनेक भेद हैं। प्राणायाम के साथ-साथ हर व्यक्ति को तीनों वन्धों का ज्ञान हो जाना भी वहुत आवश्यक है। जो लोग प्राणायाम करते समय तीनों वन्धों को विधिपूर्वक लगाते हैं उनको ही प्राणायाम सिद्ध हो पाता है। हठयोग प्रदीपिका में वन्ध लगाने की विधि का वर्णन निम्नांकित श्लोकों में किया गया है :–

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बंधो जालन्धराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डियानकः ॥

पूरक प्राणायाम करने के वाद जालन्धर वन्ध लगाना चाहिए तथा कुम्भक के वाद एवं रेचक से पहले उड्डियान बंध लगाना चाहिए।

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाड़िग ॥

उड्डियान बंध के साथ ही मूलवन्ध लगा लेना चाहिए। मूलबंध और जलन्धर लग जाने के वाद जव मध्य भाग में पश्चिमत्तान अर्थात् उड्डियान बंध लगाया जाता है तव प्राण वायु ब्रह्म नाड़ी में प्रवेश करता है। इन तीनों बंधों के वाकायदा अभ्यास कर लेने पर योगी युवा वना रहता है। हठयोग के आचार्यों ने कुम्भक प्राणायाम के आठ विशेष भेद कहे हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं :–

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली यथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥

सूर्यभेदन, उच्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक कहे गये हैं।

सूर्यभेदन प्राणायाम

आसने सुखदे योगी, वद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य, वहिस्थं पवनं शनैः ॥

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड़्या रेचयेत् पवनं शनैः ।।

योगी को चाहिए कि सुखासन पर बैठकर दक्षिण नासापुट से शनैः शनैः आवाज करते हुये वायु का आकर्षण करे। कुम्भक करके अपनी धारणा शक्ति से सिर से लेकर पैर तक उस वायु को फैलाकर रोके और यथा शक्ति कुम्भक का अभ्यास वढ़ा लेने के बाद शनैः शनैः वामनासापुट से आवाज करते हुए उस वायु को छोड़ दे। यही सूर्यभेदन प्राणायाम कहलाता है। इस प्राणायाम के करने से योगी के शरीर में अग्नि-तत्व की वृद्धि होती है। वायु और कफ के रोगों का नाश होता है। रक्तविकार, चर्म रोग, उदर विकार, कृमि रोग आदि सव वायु एवं वादी के रोग इस प्राणायाम को करने से अवश्य-अवश्य नष्ट हो जाते हैं। तथा :—

कपाल शोधनं वात दोषघ्नं कृमिदोष हृत् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदन मुत्तमम् ।।

यह सूर्यभेदन प्राणायाम कपाल शोधन करने वाला, वात रोग दूर करने वाला एवं कृमिरोग नाशक है। अतः इसे वार-वार करना चाहिए।

उज्जायी प्राणायाम

मुखं संयम्य नाड़ीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि संवनम् ।।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं, रेचयेदिडयाततः ।
श्लेष्म दोषहरं कण्ठे, देहानलविवर्धनम् ।।
नाड़ी जलोदरा धातु गत दोष विनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जयाख्यं तु कुम्भकम् ।।

मुख को वन्द करके दोनों नासापुटों से शनैः शनैः इस प्रकार से प्राणवायु का आकर्षण करे जिससे वह प्राण शब्द करता हुआ हृदय तक पहुँच जाये। यह प्राणवायु हृदय से नीचे नहीं आना चाहिए। रेचक में जितना भी हो सके प्राण को शनैः शनैः ही छोड़ना चाहिए। इस प्राणायाम में मनुष्य जिस समय भी कुम्भक करना प्रारम्भ करे उस समय प्राणवायु को दोनों नासापुटों से खींचकर मुख में लाये। उसी प्रकार से रेचन में कंठ में फिर मुख में लाकर वाम नासापुट से शनैः शनैः रेचन करना चाहिए।

उज्जायी प्राणायाम का फल

यह प्राणायाम भी कफ दोष का निवारक, उदर-रोग मन्दाग्नि आदि का हटाने वाला है, धातुगत रोगों एवं जलोदरादि रोगों को नष्ट करने वाला है। इस प्राणायाम को योगी साधारण-विधि से चलते-फिरते भी कर सकता है।

सीत्कारी प्राणायाम

सीत्का कुर्यात्तथावक्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥

सीत्कारी प्राणायाम करते हुए साधक को चाहिए कि अपनी जिह्वा को दाँतों के बीच रखकर वायु को सीत्कार करते हुए अन्दर को खींचें। फिर शनैः शनैः दोनों नासापुटों से रेचन कर दे। इस प्राणायाम को करने से साधक का सौन्दर्य बढ़ता है और निरन्तर अभ्यास से वह कामदेव सम हो जाता है।

योगिनी चक्र सामान्यः सृष्टि संहार कारकः।
न क्षुधा न तृषा निद्रा, नैवालस्यं प्रजायते॥
भवेत्सत्वं च देहस्य, सर्वोपद्रव वर्जितः।
अनेन विधिना सत्यं, योगीन्द्रो भूमि मण्डले॥

इस प्राणायाम का अभ्यास करने वाला योगी योगिनी चक्र को वश में करके सृष्टि-संहार करने वाला हो जाता है और उसके शरीर में क्षुधा, तृषा एवं आलस्य बिल्कुल नहीं रहता है। इस प्राणायाम के अभ्यास से योगी के शरीर में उत्तरोत्तर बल बढ़ता है और वह सब प्रकार से ख्याति को प्राप्त करता है।

शीतली प्राणायाम

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम्।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः॥

इस प्राणायाम में जिह्वा को काकचञ्चु की तरह गोल मोड़कर वायु का आकर्षण करना चाहिए और फिर पूर्वोक्त विधि के अनुसार कुम्भक करके शनैः शनैः दोनों नासारन्ध्रों से वायु को निकाल देना चाहिए। इसी को शीतली प्राणायाम कहते हैं।

शीतली प्राणायाम का फल

गुलम्प्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरंपित्तं क्षुधांतृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहन्ति हि ।।

शीतली प्राणायाम के करने से गुल्म, प्लीहा, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और अनेक प्रकार के विघ्नों का नाश करता है।

भस्त्रिका प्राणायाम

उर्वोरूपरि संस्थाप्य शुभे पाद तले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वं पापप्रणाशनम् ।।
सम्यक् पद्मासनं वद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन, घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।।
यथा लगति हृत्कण्ठे कपाल वधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारूतम् ।।
पुर्नविरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहाकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।।

भस्त्रिका प्राणायाम को करने के लिये साधक को चाहिए कि वह अपनी जंघाओं में पाद्तलों को स्थापित करके सभी प्रकार के पापकर्मों को नष्ट करने वाले पद्मासन को लगाये। पद्मासन में बैठकर गर्दन, पेट आदि शरीर के सव भागों को सम रख कर और मुख को वन्द करके नासिका रन्ध्र द्वारा प्राणवायु का रेचन करे। साधक ऐसा प्रयत्न करे कि वह प्राणवायु हृदय, कंठ और कपाल पर्यन्त आवाज करती हुई हृदय कमल तक वार-वार जाय। इस प्रकार एक नासिका रन्ध्र से पूरक करे और दूसरे से छोड़ दे। वार-वार वेग के साथ अभ्यास करे।

तथैव स्वशरीरस्थं, चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे, तदा सूर्येण पूरयेत् ।।
यथोदरं भवेत्पूर्णमलिनेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्य तर्जनीभ्यां बिना दृढं ।।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ।।

शरीरस्थ पवन को इसी भस्त्रिका विधि से चालन करे। जव शरीर में थकावट मालूम पड़े तव सूर्य नाड़ी से पूरक करे। प्रयत्नपूर्वक अपनी मध्यमा और तर्जनी के

विना अवलम्व के अभ्यास करे। इस प्रकार वार-वार कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से पवन को छोड़ दे।

यह भस्त्रिका प्राणायाम वाल, कफ का नाश करने वाला, शरीराग्नि को वढ़ाने वाला, कुण्डलिनी शक्ति का बोधक तथा हृदय के आवरण को दूर करने वाला है। हठाभ्यासी लोग इस भस्त्रिका प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करते हैं। जिससे उनके शरीर में पाँचों प्राण वायु शनैः शनैः इकट्ठे होने लगते हैं और पाँचों प्राण वायु के इकट्ठे होने पर उन सबकी मिली हुई शक्ति कुण्डलिनी बोध के लिये लाभदायक होती है। शक्तिचालिनी मुद्रा वाँधकर हठाभ्यासी लोग इसी प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी जागरण के दृढ़तर अभ्यास किया करते हैं।

भ्रामरी प्राणायाम

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गीनादं, रेचकं मन्द मन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगात्, चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥

भ्रामरी प्राणायाम करने की यह विधि है—भ्रमर की मानिन्द आवाज करते हुए वेग के साथ वायु का आकर्षण करे, यथाशक्ति कुम्भक करे और रेचक करे। ऐसा करने से नाद के प्रभाव से योगी को एक विशेष आने लगता है। नाद का उत्पन्न होना लयता का एक उत्कृष्ट साधन है।

मूर्छा प्राणायाम

पूरकान्ते गाढ़तरं वद्ध्वा, जलंधरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं, मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥

मूर्छा कुम्भक के अन्दर मनुष्य प्राणायाम की विधि से हृदय में प्राण को पूरक करे और वाद में दृढ़ता के साथ जलंधर बंध लगातार रेचन कर दे। ऐसा करने से स्वभाव से ही मनोमूर्च्छा होने लगती है और योगी का मन एकाग्र होने लगता है। इस कुम्भक को मूर्च्छा कुम्भक इसलिए कहा गया है कि इसमें मूर्च्छा स्वभाव से ही होने लगती है और वह योगी के लिए सुखप्रद है।

प्लाविनी प्राणायाम

अन्तप्रर्वर्तितो दारमारूतापूरितोदरः।
पयस्य गाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥

योगी प्राणायाम के वल से अपने पेट में वायु को पूरित करे। ज्यों-ज्यों यह अभ्यास वढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों योगी पद्मपत्रवत् जल में तैरने लगेगा।

इस अष्टविधि प्राणायाम का उल्लेख योगियों ने अपने ग्रन्थों में अपने निजी अनुभवों के आधार पर किया है। प्राणायाम के अभ्यासी लोग इनका विधिपूर्वक पालन करें। किन्तु यह वात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अनुभवी गुरू की देखरेख में ही ये सव क्रियायें करनी चाहिए। अन्यथा इससे हानि भी हो सकती है। जो लोग पुस्तकों में पढ़कर इन क्रियाओं को आरम्भ कर देते हैं उन्हें वाद में पश्चाताप की अग्नि में जलना पड़ता है।

अतः प्राणायाम के अभ्यासी को वड़ी सावधानता के साथ इस मार्ग में चलना चाहिए।

प्राणायाम का फल

प्राणायाम करने वाला योगी शरीर में रहने वाले विभिन्न प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ प्राणायाम सिद्ध करता है। वैसे तो सारा शरीर ही प्राण के द्वारा चलाया जाता है। शरीर का कोई अंग-प्रत्यंग ऐसा नहीं हैं जहाँ प्राण की गति न हो। जब शरीर का कोई अंग प्राण की गति से खाली हो जाता है तो वह मृत कहलाता है।

यदि शरीर में व्यापक प्राण अपनी गति को ठीक रखे और अभ्यासी योगी युक्ताहार-विहार होकर अपनी प्राणवायु पर नियन्त्रण रखता है तो-वह अजर-अमर हो जाता है। इस सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है :—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

प्राणायाम का अभ्यासी योगी जब प्राणों पर नियन्त्रण करता हुआ कुम्भक का अच्छा अभ्यास वढ़ा लेता है तो वह अपने संकल्प से प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहेगा अवश्य ही रोक लेगा। जिस प्रकार एक निशाना लगाने वाला निशानची लक्ष्यभेदन का परिपक्व अभ्यास वन जाने के वाद अपने वाञ्छित लक्ष्य को भेद डालता है, इसी प्रकार से प्राणायाम का अभ्यासी कुम्भक जय कर लेने के बाद अपने प्राण को जहाँ जिस नाड़ी में रोकना चाहे रोक लेता है। मनुष्य ज्यों-ज्यों कुम्भक का अभ्यास बढ़ाता है त्यों-त्यों रजोगुण का और तमोगुण का प्रभाव नष्ट होकर सतोगुण चमकने लगता है और ज्यों-ज्यों सत्व का प्रकाश वढ़ता है त्यों-त्यों प्रकाशावरण क्षय होने लगता है। इसलिए प्राणायाम का फल बतलाते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने कहा है :—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाष्यकर श्री व्यासदेव जी लिखते हैं :—

प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलंसत्वमावृत्य तदेवाकार्ये नियुक्त इति। तदस्य प्रकाशावरणं कर्मसंस्कारनिवन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते तथा चोक्तम्—तपो न परं प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।

प्राणायाम का अभ्यास करने वाले योगी के लिये विवेक ज्ञान के रास्ते में आवरण रूप जो कर्म है वह नष्ट हो जाता है। उस आवरण के नष्ट न होने तक सत्व और तम रूप कर्मजाल प्रकाश शील सत्व को ढ़के रखता है। प्राणायाम का अभ्यासी और अभ्यास के वल से उस सवको क्षय कर डालता है और उसकी ज्ञानदीप्ति वढ़ती जाती है।

इसीलिए हमारे शास्त्रों में प्राणायाम से वढ़कर किसी और तप को प्रधानता नहीं दी गई है। योगियों ने प्राणायाम को ही महान तप माना है। प्राणायाम करने से प्रकाशावरण क्षय होकर विशुद्ध ज्ञान की दीप्ति होती है। ज्ञानदीप्ति हो जाने पर योगी को दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन आदि-आदि क्रियायें स्वभाव से ही होने लग जाती हैं। उस योगी के अन्दर यह शक्ति आ जाती है कि यदि वह चाहे तो यहाँ बैठा ही चन्द्रमण्डल का स्पर्श कर ले एवं यहाँ बैठा ही हजारों कोषों की वातें सुन ले और वहाँ की सारी स्थिति को देख ले। ये सव सिद्धियाँ योगी को आत्म साक्षात्कार से पहले ही होने लगती हैं।

योगदर्शन में तप के फलस्वरूप कायिक और ऐन्द्रिय सिद्धियों का स्वभाव से उपलब्ध हो जाना वताया गया है। यथा :—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

इस सूत्र पर भाष्यकार ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं :—

निवर्त्यमानमेव मलो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या। तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्वणदर्शनाद्येति।

तप के प्रभाव से इन्द्रियों के मल जल जाने पर योगी को अणिमादि अष्टविधि ऐश्वर्य एवं ऐन्द्रियसिद्धि दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि प्राप्त हो जाया करते हैं। प्राणायाम के निर्मल फल को पाकर योगी अपने आपको कृतकृत्य वना लेता है। कुम्भक सिद्ध हो जाने पर योगी जहाँ के प्राणवायु पर जय प्राप्त करता है, उसका फल उसे तत्काल ही अनुभूति में आने लगता है। आवश्यकता इस वात की है कि—योगी अपनी प्राणशक्ति पर इतना नियन्त्रण प्राप्त कर ले कि किसी भी स्थान पर वह अपने संकल्पमात्र से संयम कर सके। ज्योंही वह अपने मन को किसी स्थान विशेष में एकाग्र करना चाहे वह तत्काल ही वहाँ एकाग्र हो जाये। हम पहले भी वता चुके हैं कि प्राण का स्थान हृदय देश है, उदान का कंठ, समान का नाभिमण्डल और अपान का स्थान गुदा भाग है।

उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेने पर योगी जल-पंक-कण्टकादि में असंग हो जाता है। यथा :—

उदानजयाज्जल पंक कंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।

देखिये इस सूत्र पर व्यासभाष्य :—

समस्तेन्द्रियवृत्तिः प्राणादिलक्षणा जीवनम्। तस्य क्रिया पञ्चतयी प्राणो मुख-नासिकागतिहृदयवृत्तिः, समं नयनात्समानः आनाभिवृत्तिः, अपनयनादपान आपादतल-वृत्तिः, उन्नयनादुदान आशिरोवृत्तिः, व्यापी व्यान इति। एवां प्रधानः प्राणः। उदान जयाज्जल पङ्ककंटकादिष्वसङ्गः उत्क्रान्तिश्च भवति, तां वशित्वेन प्रतिपद्यते।

अर्थात्–समस्त इन्द्रियों में शक्ति रूप से व्याप्त रहने वाली प्राण की पाँच विभिन्न वृत्तियाँ हैं। प्राण वायु की मुख-नासिका से लेकर हृदय तक गति रहा करती है, इसलिए उसे हृदयवृत्ति कहते हैं। समान वायु नाभिवृत्त है, अर्थात् वह नाभि तक गति करता है, अपान वायु का अधिकार गुदा से लेकर पैरों तक रहता है, उदान वायु आशिरोवृत्ति है–कण्ठदेश से लेकर सिर भाग तक उदान वायु का अधिकार रहता है तथा व्यान वायु सारे शरीर में व्याप्त रहा करता है।

जो योगी प्राणायाम के अभ्यास से उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल, पङ्क, तथा कण्टकादि में बिल्कुल असंग हो जाता है और प्रयाणकाल में ऊर्ध्व-गति को प्राप्त करता है। प्राणायाम के बल से योगी का ऊर्ध्वगति को प्राप्त होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि प्राणायाम करने से रज और तम का नाश हो जाने पर योगी सत्वस्थ हो जाता है। सत्वस्थ हो जाने पर उसके ऊर्ध्वगति को प्राप्त होने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता, जगदात्मा श्रीकृष्ण के शब्दों में :—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः, मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः, अधो गच्छन्ति तामसाः॥

जो व्यक्ति अपने जीवनकाल में सत्वस्थ हो जाते हैं वे मरणोपरान्त ऊपर के दिव्य लोकों में वास किया करते हैं। रजप्रधान व्यक्ति मनुष्य लोक तथा तम प्रधान व्यक्ति नीचे के निकृष्ट लोकों को प्राप्त होते हैं।

जो योगी उदान वायु पर जय प्राप्त कर लेता है वह जल पंक कध्टकादि में तो असंग हो ही जाता है साथ ही प्रयाणकाल में ऊर्ध्वगामी भी अवश्य हो जाता है।

पुण्य भूमि भारत में ऐसी घटनायें प्रायः घटती ही रहती हैं जिनके देखने और सुनने में अनायास ही शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुष्टि हो जाया करती है।

अभी कुछ वर्ष पहले ऋषीकेश में एक इस प्रकार की घटना घटित हुई, जिसे देखकर वहाँ के लोगों को वड़ा आश्चर्य हुआ। चन्द्रभागा नदी में श्री गंगा जी के तट से लगभग आधे फर्लांग की दूरी पर श्री चन्द्रेश्वर महादेव का एक मन्दिर है। श्री चन्द्रेश्वर महादेव के मन्दिर के विल्कुल सामने श्री गंगा जी के उत्तरी तट पर पहाड़ों की श्रृंखला है, जिसे वहाँ के वासी वसुधारा का पहाड़ कहते हैं। गंगा जी के इस पार से यदि कोई व्यक्ति ऊँचे स्वर से ध्वनि करता है तो वह ध्वनि प्रतिध्वनित होकर आकाश में गूँजती हुई सुनाई देती है। मालूम पड़ता है कि किसी ने पहाड़ से उस ध्वनि का उत्तर दिया हो। श्री चन्द्रेश्वर भगवान के पूजनार्थ आये हुए एवं गंगा-तट पर स्नान करने वाले व्यक्तियों ने वहाँ एक वड़ा भारी आश्चर्य देखा कि गंगा जी के उत्तरी तट से एक एक पवित्रात्मा महात्मा गंगाजल पर इस प्रकार चले आ रहे हैं मानो कि वे पृथ्वी पर चल रहे हों। महात्मा जी शनैः शनैः गंगा जी के इधर वाले तट पर आ पहुँचे किन्तु ज्योंही लोग उनके चरण स्पर्श के लिये दौड़े त्योंही वे जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार गंगा जी पर चलते हुए वापिस पहाड़ में चले गये। यह "उदानजयाज्जलपङ्क कण्टकादिष्वसंगः" का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

इसी प्रकार समान वायु पर जय का फल योग-दर्शन में इस प्रकार बताया गया है:–

समानजयाज्ज्वलनम्।

जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति।

संयम द्वारा समान वायु पर जय प्राप्त कर लेने से योगी अग्नि के समान दीप्तिमान हो उठता है इसके उदाहरण भी समय-समय पर साधकों के शरीरों में घटित होते रहते हैं।

अभी कुछ वर्ष पहले की वात है कि–उत्तर प्रदेश में जिला एटा के गंजड़वाड़ा नामक एक कस्बे में एक पवित्र सन्त गुरूद्वारा में निवास करते थे। वे सिक्ख थे और गुरू नानकदेव जी की उपासना विधि से अपने आपको ध्यान-योग परायण रखते थे। सभी के शरीर नश्वर हैं। यद्यपि तत्वविजयी योगी लोग कल्पों तक शरीर धारण किये रहते हैं किन्तु जिन्होंने तत्वों पर विजय प्राप्त नहीं की उन्हें समय आने पर अपना नश्वर देह त्यागना ही पड़ता है। उन महात्मा जी के भी प्रयाण का समय आ

गया। उन्होंने लोगों के सामने विलक्षण-विधि से देह का त्याग किया। उनके संकल्प मात्र से ही उनके नाभिमण्डल से अग्नि की एक ज्वाला प्रकट हुई जो उनके शरीर के आस-पास घूमती रही। अग्नि की उस लपट ने थोड़ी देर में ही उनके शरीर को भस्मावशेष कर डाला। साधक अपनी तीव्रतम साधना के फलस्वरूप प्राणायाम के उत्कृष्ट फल को प्राप्त कर सकता है। संयम राजयोग से भी प्राप्त किया जा सकता है। प्राणों पर नियन्त्रण करके अद्‌भुत कर्मों वाला योगी "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्" की ताकत वाला हो ही जाता है इसमें यत्किञ्चित् भी शंका की बात नहीं है। प्राणायाम की इस कठिन विद्या को अनुभवी गुरू के सान्निध्य में ही करना चाहिए।

नवां परिच्छेद

प्राणायाम का अधिकारी एवं उसकी साधना-स्थली

प्राणायाम हठयोग का एक अंग है। अतः प्राणायाम के साधक को हठोपयोगी नियमों का पालन करना चाहिए। प्राणायाम के अभ्यासी को अत्यन्त उत्साही, वीर्यवान्, संयमी एवं एकान्तसेवी होना चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है :–

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता॥

जिस प्रकार से योग साधक अपने संयम-नियमादि का पूर्णरूपेण पालन करता है, इसी प्रकार हठ विद्या के अभ्यासी को अपनी साधना गुप्त रखनी चाहिए। गुप्तरूप से की हुई साधना वल की दात्री होती है। जो लोग इस विद्या को बाजार में प्रदर्शित करते रहते हैं और इसे व्यापार का एक साधन वना चुके हैं, वे इस विद्या के अधिकारी नहीं हैं। क्योंकि उनका उद्देश्य उदर-पालन मात्र ही है, उनको किसी प्रकार का वैराग्य नहीं है। श्री याज्ञवल्क्य मुनि अपनी स्मृति में लिखते हैं–

विध्युक्त कर्म संयुक्तः, काम संकल्प वर्जितः।
यमैश्चनियमैर्युक्तः, सर्व संग विवर्जितः॥
कृतविद्यो जितक्रोधः, सत्यधर्म परायणः।
गुरू शुश्रूषणरतः, पितृमातृपरायणः॥
स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥

विधियुक्त कर्म करने वाला, काम संकल्प से रहित, यम-नियमों का पालन करने वाला, सब प्रकार के संगदोषों से दूर रहने वाला, विद्वान, क्रोधरहित, सत्य धर्म परायण, श्री गुरूचरणारविन्द का सेवक एवं माता-पिता का सेवक, ब्रह्मचर्य गृहस्थ आदि किसी भी आश्रम का सेवन करने वाला तथा जिसने विद्वानों से शिक्षा प्राप्त की हो ऐसा व्यक्ति हठ विद्या का अधिकारी होता है।

हठयोगी की साधना-स्थली

हठयोग प्रदीपिका के रचयिता योगी आत्माराम ने हठयोग साधन के लिये स्थान का निर्देश इस प्रकार किया है :–

सुराज्ये धार्मिके देशे, सुभिक्षे निरूपद्रवे ।
धनुः प्रमाण पर्यन्तम् शिलाग्नि जल वर्जिते ।।
एकान्ते मठिका मध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।।

हठयोगी को ऐसे देश में अपने हठाभ्यास का स्थान बनाना चाहिए जहाँ के शासक धर्म-परायण हों एवं वह देश सब प्रकार से धन-धान्य से पूर्ण हो, जहाँ किसी प्रकार के उपद्रव न होते हों, जहाँ पर साधु अपनी भिक्षावृत्ति सुविधा से कर सके, जहाँ दीर्घकाल तक साधना की जा सके, जो स्थान तुषारपात, जल एवं अग्नि से वर्जित हो ऐसे स्थान पर चार हाथ चौकोर भूमि को शुद्ध करके उसमें हठाभ्यास के उपयुक्त मठकी वनाये और उसमें निवास करे। दृढ़तापूर्वक अपना अभ्यास करता चला जाय।

योगी का साधना मन्दिर कैसा हो ?

योगी को कैसे मठ में साधना करनी चाहिए इसका भी वर्णन श्री योगी आत्माराम ने हठयोग प्रदीपिका में इस प्रकार किया है :–

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं, नात्युच्चनीचायतम् ।
सम्यग्गोमय सांद्रलिप्तममलं निश्शेष जन्तूज्झितम् ।।
वाह्ये मंडप वेदि कूप रूचिर प्राकार संवेष्टितम् ।
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।।

मठ का मुख्य द्वार वहुत छोटा सा हो और उसमें किसी प्रकार की खिड़की आदि नहीं होनी चाहिए। क्योंकि प्राणायाम करने वाले योगी का शरीर अग्नि में तपाये गये सोना, चाँदी आदि धातुओं के समान वहुत ही तरल एवं निर्मल रहता है, कदाचित् खिड़की, जंगले आदि रखने से एकाएक वायु लगने से योगी के शरीर में पक्षाघात आदि हो सकता है। अतः हठाभ्यासोपयोगी मठ में किसी भी प्रकार के छिद्र नहीं रखने चाहिए। ताकि किसी भी प्रकार के उपद्रव का भय न रहे। उस मठ में किसी प्रकार के गड्ढे विवर आदि भी नहीं होने चाहिए। हठाभ्यास की भूमि विल्कुल समतल होना ही उपयुक्त है। घरों के अन्दर जिस प्रकार चूहे अपना विल खोद लिया करते हैं, इस प्रकार के विवर हठमठ में अन्तराय के जनक हैं। वह मठ न तो वहुत ऊँचा होना चाहिए और न वहुत नीचा ही होना चाहिए। क्योंकि यदि ऊँचा होगा तो चढ़ने में कष्ट रहेगा और नीचा होगा तो उतरने में कष्ट होगा। हठयोगी का वह स्थान गोवर से भली प्रकार लिपा हुआ और छोटे जन्तुओं मच्छर, खटमल आदि से रहित होना चाहिए। मठ के वाहर चारों ओर दीवाल रहनी चाहिए और दीवाल के अन्तर्गत

वेदी, मण्डप तथा कुआँ आदि होने चाहिए। इस प्रकार मठ का वर्णन हठाभ्यासी सिद्धों ने अपने ग्रन्थों में किया है। नन्दिकेश्वर पुराण में हठमठ का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

मन्दिरं रम्यविन्यासं, मनोज्ञं गन्ध वासितम्।
धूपामोदादि सुरभि कुसुमोत्करमण्डितम्॥

मुनि तीर्थ नदी वृक्ष पद्मिनी शैल शोभितम्।
चित्र कर्म निवद्धं च चित्र भेद विचित्रितम्॥

कुर्याद्योगग्रहं धीमान्सुरम्यं शुभ वर्त्मना।
दृष्ट्वा चित्रगतांश्छान्तान्मुनीन् याति मनः शमम्॥

सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युघते भवेत्॥

योग मन्दिर की रचना अत्यन्त रमणीय एवं मनोहारी होनी चाहिए। उसमें दिव्य सुगन्धि का हर समय वास होना चाहिए। योगमण्डप पर सुगन्धित पुष्पों की लतायें हर समय फैली हुई हों, जिससे दिव्य सुगन्ध हर समय आती रहे। वह भूमि तपस्वियों एवं मुनियों से आवासित हो तथा वहाँ गंगा आदि कोई पवित्र नदी बहती हो। अथवा तीर्थस्थली हो। वहाँ छोटे-छोटे तालाबों में या नदी के प्रान्त में कमलिनी खिली हुई हों, वड़े सुन्दर हरे-भरे वृक्ष हों। योगमठ में बड़े सुन्दर-सुन्दर चित्र वने हुए हों, उन चित्रों में शान्त मुनियों, तपस्वियों एवं सिद्धों के चित्र होने चाहिए, क्योंकि सिद्ध मुनियों के चित्र देखने से साधक के मन में एक उत्साह पैदा होता है। उस योगमण्डप में किसी प्रकार का कोई अशुभ चित्र न हो। वह मठ सव प्रकार की मंगलमयी भावनाओं से पूर्ण हो तथा उसमें सुन्दर-सुन्दर वेदमन्त्र एवं चौपाइयाँ लिखी हुई हों जिसको पढ़कर साधक का उत्साह वढ़े।

एवंविधे मठे स्थित्वा, सर्वचिन्ताविवर्जितः।
गुरूपदिष्टमार्गेण, योगमेव समभ्यसेत्॥

इस प्रकार के मठ में वैठकर सव प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर गुरूपदिष्ट मार्ग से योगाभ्यास करे। ऐसा करने से योगी सिद्धभाजन वन जाता है।

हठाचार्यों ने उपरोक्त प्रकार से योगस्थली का वर्णन करने के साथ-साथ कुछ आवश्यक पालनीय नियमों का निर्देश किया है जिनका पालन करने से साधक जल्दी ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। जगदात्मा अखिल लोकपावन श्री कृष्णचन्द्र ने गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है :-

युक्ताहार विहारस्य, युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगो भवति दुःखहा ।।

जिस प्रकार का आहार एवं विहार युक्त है, जिसकी हर चेष्टा ठीक है, जो ठीक समय पर सोता है और समय पर जाग जाता है ऐसे व्यक्ति की योग-साधना उसके सब प्रकार के दुःख द्वन्द का नाश कर देती है। जिसने अपने आहार-विहार पर पूरी तरह नियन्त्रण कर लिया है उनकी योगसिद्धि में कोई सन्देह नहीं है। इस सम्बन्ध में योगाचार्यों का कथन है :–

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योग-परायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ।।

जो साधक ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी एवं योगपरायण है वह एक वर्ष में ही सिद्ध हो जाता है। इसमें कोई भी शंका की बात नहीं है।

मिताहार का लक्षण

सुस्निग्ध मधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।।

हमारे आचार्यों ने उदर (पेट) के चार भाग माने हैं। साधक को चाहिए कि उनमें से दो भागों को सुस्निग्ध एवं मधुर आहार से पूरित करे, एक भाग को जल से और चौथा भाग प्राण वायु की गति के लिये खाली रहने दे। जो लोग इस नियम को ध्यान में रखते हुए आहार करते हैं वे ही मिताहारी कहलाते हैं।

योगी का आहार

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं, गव्यं धातु प्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं, योगीभोजनमाचरेत् ।।

पुष्टिकारक, मधुर, चिकना, गोदुग्ध-घृतादि से युक्त, धातुओं की पुष्टि करने वाला एवं मन को अच्छा लगने वाला भोजन सात्विक आहार कहलाता है। योगी को इसी प्रकार के सात्विक आहार का सेवन करना चाहिए।

गीता में सात्विक आहार का लक्षण इस प्रकार किया गया है :–

आयुसत्वबलारोग्यसुखप्रीति विवर्धनः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारा सात्विक प्रियाः ।।

जो आहार आयुवर्धक हों, बुद्धि, वल एवं आरोग्य को वढ़ाने वाले हों तथा सुख और प्रीति को वढ़ाने वाले हों, जो शरीर में अपना स्थायी प्रभाव वनाये रखते हों, इस प्रकार के सुमधुर एवं चिकने पदार्थ सात्विक आहार कहलाते हैं। ये आहार सतोगुणी व्यक्ति को स्वभाव से ही प्यारे होते हैं।

इस प्रकार युक्त आहार-विहार वाले साधक वहुत जल्दी सिद्धि को पा जाया करते हैं।

जो भाग्यवान साधक अपनी इन्द्रियों के ऊपर जप प्राप्त कर लेते हैं वे संसार में अजर-अमर हो जाते हैं।

दसवां परिच्छेद

श्री पतञ्जलि का 'पुरुष' विशेष

योगविज्ञान के वेत्ता भगवान पतंजलिदेव ने अपने अनुभवों की अक्षयनिधि योगसूत्रों के द्वारा प्रकट की। श्री पतंजलिदेव के योग सूत्र सारे संसार में योग-दर्शन के नाम से विख्यात हुए। योग-दर्शन षट दर्शनों में एक महत्वपूर्ण दर्शन है। इसके अध्ययन करने वाले व्यक्ति स्वरूपानुभूति की ओर अवश्य ही बढ़ जाते हैं। श्री पतंजलि देव ने अपने इस दर्शन में प्रकृति पुरुष विशेष को ही प्रधानता दी है। उनका लक्ष्य है– बुद्धि-बोध-आत्मा पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठ हो जाये, बौद्धेय ज्ञान को छोड़ दे तथा वह अपनी अमर साधना के फलस्वरूप बौद्धेय धर्मों को छोड़कर कैवल्य लाभ करे। इसकी साधना के लिए 'योग-दर्शन' में श्री पतंजलिदेव ने अभ्यास-वैराग्यादि का वर्णन करते हुए उपाय प्रत्यय पर बल दिया है।

उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाले योगाभ्यासी साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि के क्रमानुसार अपने आपको साधना में लीन रखते हैं और अपने कठिन परिश्रम के फलस्वरूप वे अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु यह कार्य विपुल वीर्यवान् एवं उत्साही पुरुषों का है। जो लोग दृढ़ता से लगे रहते हैं वे अवश्य ही सफल मनोरथ हो जाया करते हैं। प्रायः हर जिज्ञासु की यह भावना रहती है कि उसे सरल से सरलतम अभ्यास बताया जाये। ताकि वह अपने उच्चतम ध्येय को सरलता से प्राप्त कर ले। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए श्री पतंजलि ने जब "श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इततेषां।" कहकर उपायप्रत्यय का उपदेश किया तो किसी जिज्ञासु ने एकाएक प्रश्न कर दिया–

किमेतस्मादेवासन्नतमः समाधिर्भवत्यथास्य लाभे भवत्यन्योऽपि कश्चिदुपायो न वेति।

क्या समाधि प्राप्ति के लिये उपरोक्त वर्णित उपायों के अतिरिक्त कोई और सरलतम उपाय भी है, जिससे बिना क्लेश के ही समाधि की प्राप्ति हो सके। उसके उत्तर में एक बहुत ही सरल उपाय बताते हुए पतंजलिदेव जी कहते हैं :–

ईश्वर प्राणिधानाद्वा।

अर्थात् ईश्वर को आत्म निवेदन करने से भी समाधि लाभ हो सकता है।

यह सुनकर साधक को बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि अभी तक वह यह समझता था कि प्रकृति और पुरुष दो ही हैं। अतः उसने प्रकृति-पुरुष विवेक को ही अपना मुख्य लक्ष्य वनाया हुआ था किन्तु अव समाधि प्राप्ति के विविध उपायों में ईश्वर प्रणिधान को भी एक उत्कृष्ठ साधन वताया जा रहा है यह देख उसने पुनः प्रश्न किया :–

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयं ईश्वरोनामेति ।

प्रकृति पुरुष से भिन्न ईश्वर नाम की यह तीसरी वस्तु क्या है और उसकी परिभाषा क्या है ? इसके उत्तर में भगवान् पतंजलिदेव जी वताते हैं :–

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

क्लेश कर्म विपाकादि से अपरामुष्ट पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है। 'पुरुषत्वेन' वहुसंख्यक पुरुषों का संकेत सूत्र में मिलता है। इसलिए 'पुरुषविशेषः ईश्वरः' कहकर महर्षि ने पुरुष विशेषत्वेन-ईश्वर का प्रतिपादन किया। योग-दर्शन में जिस प्रकृति-पुरुष की विवेचना की गई है उसका सम्वन्ध आत्मा से है और आत्मा क्लेशकर्म-विपाकादि से अपरामृष्ट नहीं है। इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में जो पंक्तियाँ लिखी हैं उनमें स्पष्टरूप से बुद्धि बोधात्मा पुरुष, जीवात्मा एवं क्लेश-कर्म-विपाकादि से अपरामृष्ट नित्य शुद्ध बुद्ध सदैव मुक्त साम्यातिशय विनिर्मुक्त ऐश्वर्यवान् पुरुष विशेष ईश्वर का वर्णन किया गया है। जैसे :–

अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धेषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुष विशेष ईश्वरः।

"अविद्यास्मिता राग द्वेषाभिनिवेशा पंचक्लेशाः।"

ये पाँच क्लेश वतलाये गये हैं। अच्छे-बुरे फलों से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया को कर्म कहते हैं।

कर्मफलों का नाम ही विपाक है और विपाक का अनुसरण करने वाली वासना फलभोगपर्यन्त कर्माशय में पड़ी रहती है, उसी का नाम आशय है। अर्थात् उसी का नाम कर्माशय है। ये क्लेश कर्म विपाकादि मनुष्य के मन में सदैव वर्तमान रहते हैं, किन्तु चेतन पुरुष इनसे विल्कुल भिन्न है। फिर भी वह बौद्धेय ज्ञान को ग्रहण करता है। इसलिये ये सब क्लेश कर्म विपाकादि जीवात्मा में कहे जाते हैं, क्योंकि वह बुद्धि बोधात्मा होने के कारण इनके फलों को भोगता है। जैसे लड़ाई के मैदान

में लड़ने वाले योद्धाओं की ही जीत या हार होती है किन्तु वह जय और पराजय उनके स्वामी की मानी जाती है जिनके वेतनभोगी होकर वे तन-मन न्योछावर करके लड़ रहे हैं। इसी प्रकार यद्यपि चितिशक्ति अपरिणामिनी और अप्रतिसंक्रमा है। उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं आता। न ही उस पर किसी प्रकार का प्रभाव ही पड़ता है किन्तु बुद्धि के द्वारा दर्शित विषया होने के कारण क्लेश-कर्म-विपाकादि आत्मा में मान लिये जाते हैं, किन्तु पुरुष विशेष ईश्वर इनके भोग से सदा सर्वदा अपरामृष्ठ है। अतः क्लेश कर्म विपाकादि से अपरामृष्ट पुरुष विशेष का नाम ही ईश्वर है।

इस पर जिज्ञासु द्वारा पुनः प्रश्न किया जाता है :—

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च वहवो केवलिनः,
(ते हि तावत् सर्वे ईश्वरः किम् ?)

वहुत से केवली लोग इस प्रकार के हैं जो क्लेश कर्म विपाकादिकों से विल्कुल मुक्त हो चुके हैं क्या वे सव के सव ईश्वर हैं ?

अर्थात् क्लेश कर्म विपाकादि से रहित होने के कारण क्यों न उन सवको ईश्वर मान लिया जाय ?

उत्तर :—

ते हि त्रीणि वन्धनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्वरस्य च तत्सम्वन्धो न भूतो न भावी, यथा मुक्तस्य पूर्वा वन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य, यथा वा प्रकृतिलीन-स्योत्तरा वन्धकोटिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य, स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं ही प्रश्न की कल्पना कर ली और सर्वसाधरण को समझाने के लिए उसका उत्तर भी दे दिया।

वे कहते हैं कि यह बात विल्कुल ठीक है कि मुक्तात्मा क्लेश-कर्म-विपाकादि से मुक्ति पा जाने के वाद इन सवसे अपरामृष्ट है, किन्तु फिर भी इस प्रकार के जितने भी मुक्त पुरुष हैं वे सव के सव तीन वन्धनों को काटकर केवलीभाव को प्राप्त हुए हैं किन्तु ईश्वर को उन तीन वन्धनों का सम्वन्ध न कभी था और न कभी आगे होगा। जिस प्रकार मुक्त पुरुष मुक्ति से पहले वन्धन में थे, उस प्रकार ईश्वर कभी वन्धन में नहीं था तथा जो आत्मा प्रकृतिलीन हैं उनका चित्त साधिकार है। इसलिए उसके वाद में जव भी जन्म ग्रहण करेंगे तव उनका वन्धन होगा ही। ईश्वर न कभी वन्धन में था और न आगे कभी आयेगा। वह तो सदा ही मुक्त है एवं सदा ही ईश्वर है।

यहाँ पर एक और प्रश्न की कल्पना की गई है कि ईश्वर का जो सात्विक ज्ञान है उसका कारण क्या है? या उसका कोई कारण है भी कि नहीं? इसके उत्तर में वतलाया गया है कि उसका निमित्त कारण वेद है। फिर प्रश्न किया गया कि वेद का निमित्त कारण क्या है? प्रत्युत्तर में वताया गया कि उसका निमित्त कारण ईश्वर है।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्वे वर्तमानयोरनादि सम्वन्धः।

अर्थात् शास्त्रोत्कर्ष और ईश्वर सत्वा का परस्पर अनादि सम्वन्ध है। यह सम्वन्ध अनवरत था और अनवरत ही रहेगा। अतः —

एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्येश्वर्यं साम्यातिशय-विनिर्मुक्तं, न तावदैश्वर्य्यान्तरेण तदतिशय्यते, यदेवातिशायिस्यात् तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः, न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्मात्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्युगपत्कामितेर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थं प्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरूद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः, स पुरुष विशेष इति।

उपरोक्त कारणों से वह सदा ही मुक्त है और सदा ही ईश्वर है। उसका ऐश्वर्यं साम्यातिशय विनिर्मुक्त है। अर्थात् ईश्वर का ऐश्वर्य किसी दूसरे से दबाया नहीं जा सकता। इसलिए जिसका ऐश्वर्य सभी ऐश्वर्यों का अतिक्रमण करके चरम सीमा तक पहुँचा हुआ है वही ईश्वर है उससे अधिक किसी का ऐश्वर्य नहीं है। क्योंकि एक ही पदार्थ के विषय में यदि दो शक्तिवान् कल्पना करते हैं कि– 'नवमिदमस्तु'– यह वस्तु नई हो जाये और दूसरा कहता है 'पुराणमिदमस्तु' यह पुरानी हो जाये तो यहाँ एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरूद्ध संकल्प हैं। यदि एक का संकल्प सफल होता है और दूसरे का गिर जाता है तो गिरने वाले का छोटा होना स्वाभाविक ही सिद्ध हो गया। अतः यह सिद्ध होता है कि– जिसका ऐश्वर्य सबसे अधिक है और जिस पर किसी का प्रभाव नहीं है उसका नाम ईश्वर है और वही पुरुष विशेष है।

ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा

ईश्वर की परिभाषा करके उसकी सर्वज्ञता को समझाते हुए भगवान् पतंजलिदेव अगला सूत्र लिखते हैं:—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्।

उस ईश्वर में सर्वज्ञबीज की पराकाष्ठा है। साधना करने वाले साधारण मनुष्य भी अपनी साधना के बल से क्लेश-कर्म-विपाकादि से छूटकर सर्व-ज्ञात्रित्व शक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिये आम गृहस्थों में जब कभी किसी सन्त का प्रवेश होता है और वह उन लोगों से कुशल समाचार पूछता है तो वे कह दिया करते हैं– आप तो स्वयं अन्तर्यामी हैं, हम आपको क्या बतलायें ?

इसका अर्थ है कि उन बेचारे सद्गृहस्थों को उस संत की सर्वज्ञात्रित्व शक्ति पर पूरा-पूरा विश्वास है चाहे उसमें वह शक्ति हो या न हो किन्तु उन लोगों की दृढ़ आस्था है कि– सन्त जी सर्वज्ञ हैं। इसी प्रकार सर्वज्ञता भी किसी में कम और किसी में ज्यादा होती है, किन्तु :– यत्र काष्ठा प्राप्ति सर्वज्ञ बीजस्य स पुरुष विशेष ईश्वरः।

वह ईश्वर सर्व साधारण का भला सोचता है–

तस्यात्मनुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह प्रयोजनं, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्प प्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्– आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच इति।

यद्यपि ईश्वर का सृष्टि निर्माण में अपना कोई प्रयोजन नहीं बल्कि प्राणिमात्र पर अनुग्रह करना ही उसके सृष्टि निर्माण का कारण था। अतः जिज्ञासु आसुरीय के लिये भगवान्-कपिलदेव ने निर्माणचित्त का आश्रय लेकर तन्त्र का उपदेश दिया। क्लेश-कर्म-विपाक आदि से अपरामृष्ट आदि सत्ता ईश्वर ही पुरुष विशेष है। उस पुरुष विशेष ईश्वर के स्मरण-चिन्तन से मनुष्य परमानुग्रह भाजन होकर स्व-स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लिया करता है।

ईश्वर का बोधक नाम प्रणव 'ॐ' है। प्रणव की उपासना का हमारे शास्त्रों में बहुत बड़ा विधान है। प्रणवोपासक अवश्य ही परम कल्याण को प्राप्त होता है।

प्रणव की उपासना किन-किन विधियों से की जाती है, उसका सोऽहं भाव क्या है ? इसको आगे समझाया जायेगा। जो मनुष्य परम पुरुष ईश्वर एवं वेद पर विश्वास नहीं रखता वह नास्तिक है। हमारे सनातन सिद्धान्तों का मूल ईश्वर है। जो इस बात को समझ लेते हैं वे अपने आपको कृतार्थ बना लेते हैं।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनं श्रेष्ठ मेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते॥

प्रणव महिमा

इससे पूर्व ईश्वर की परिभाषा करते हुए स्पष्ट किया गया कि श्री पतंजलिदेव का पुरुषविशेष साम्यातिशय विनिर्मुक्त, ऐश्वर्यवान्, पर पुरुष ईश्वर ही है तथा उसका सांकेतिक नाम प्रणव है। यथा :–

तस्य वाचकः प्रणवः।

सूत्र पर व्यासभाष्य :–

वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य, किमस्य संकेतकृतं वाच्य वाचकत्वं अथ प्रदीपप्रकाशवद-वस्थितमिति ? स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः सम्वन्धः संकेतेनावद्योत्यते कथमस्य पिता, कथमस्य पुत्र इति सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थ सम्वन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते।

अर्थात्–उस पुरुष विशेष ईश्वर का नाम प्रणव है। प्रणव शब्द का अर्थ है :–

प्रकर्षेण नूयते स्यूयतेऽनेनेति नौति-स्तौतीति वा प्रणवः ओंकारः।

यहाँ पर एक प्रश्न पैदा होता है। जिस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव है क्या उनका वाच्यवाचकत्व सम्वन्ध बिल्कुल स्थायी है या बदलने वाला है ? इसका उत्तर है–यह सम्वन्ध बिल्कुल स्थायी है बदलने वाला नहीं। जिस प्रकार से पिता-पुत्र का सम्वन्ध बिल्कुल स्थायी होता है किन्तु 'अयमस्य पिता अयमस्य पुत्रः' इस संकेत से जनाया जाता है। अन्य सृष्टियों में भी वाच्य वाचकत्व सम्वन्ध संकेत से जनाया जाता है। 'ओम्' शब्द के उच्चारण से यह जाना जाता है कि सृष्टि की रचना तथा पालन-पोषण इसी एकाक्षर से होता है। उपनिषदों में इस एकाक्षर की महिमा बहुत बड़े शब्दों में वर्णन की गई है।

एतद्धेवाक्षरं ब्रह्म एतद्धेवाक्षरं परम्।
एतद्धेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्म लोके महीयते॥

अर्थात्–यह ओंकार ही ब्रह्म है। यही सबसे बड़ा है, इस अक्षर को जान लेने पर मनुष्य जो कुछ चाहता है उसे वही प्राप्त हो जाता है। इस एकाक्षर का अवलम्ब लेकर साधक ब्रह्मलोक की महिमा को पा जाता है।

ओंकार की उपासना

प्रणव की उपासना का निर्देश करते हुए योगदर्शन में बतलाया गया है –

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

अर्थात्–प्रणव का जप करना चाहिए एवं उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए। व्यासभाष्य :–

प्रणवस्य जप: प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावना। तदस्य योगिन: प्रणवं जपत: प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रम् सम्पद्यते।

प्रणव का जाप करने से और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान करने से योगी का चित्त अनायास ही एकाग्र हो जाता है।

प्रणव जप की विधि

प्रणव की उपासना करने वाले साधकों को चाहिए कि वे प्रारम्भिक अवस्था में जिह्वा के द्वारा ही प्रणव जप का अभ्यास करें। जिह्वा से प्रणव का जप करते-करते स्वभावत: वह मन्त्र मन में प्रवेश कर जायेगा। साधक जल्दबाजी में पहले से ही मानस-जप की आदत नहीं डालनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से साधक को तन्द्रा आ सकती है। तन्द्रा आ जाने पर वह आलस्य से घिर जाता है और वह अपनी यथार्थ प्रगति नहीं कर पाता। साधक यदि अपने जीवन को संयमित रखते हुए एवं युक्ताहार-विहार होकर अपनी साधना को बढ़ाता है तो जिह्वा से प्रणव का उच्चारण करते ही वह मन्त्र उसके मन में प्रवेश कर जाया करता है और जिस समय प्रणव का इस प्रकार मन में वास हो जाय उस समय साधक को चाहिए कि समकाय शिरोग्रीव होकर अपने मानस जप के अभ्यास को बढ़ाना आरम्भ करे। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पवित्र साधना का बहुत ही सुन्दर ढ़ंग से वर्णन किया है। जैसे :–

योगीयुञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित:।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह:॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशांश्चानवलोकयन ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारी व्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाण परमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

योगी को चाहिए कि एकान्त स्थान में रहता हुआ आशा और परिग्रह से रहित होकर अपने आप पर नियन्त्रण करके अकेला बैठकर योग की साधना करे ।

पवित्र देश में अपना आसन न वहुत ऊँचा और न वहुत नीचा रखकर उस पर मृगचर्म, कुशादि को विछाकर यतचित्तेन्द्रिय होकर एकाग्रमन से ध्यान योग का अभ्यास करे । उस समय इधर-उधर न देखता हुआ नासिकाग्र भाग को ही देखता रहे । ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित हुआ प्रशान्तात्मा साधक ईश्वराराधना में तत्पर होकर इस प्रकार निरन्तर अभ्यास में लगा हुआ निर्वाण-कालीन शान्ति को पा जाता है ।

योगी का आहार-विहार

उपरोक्त उपदेश के साथ जगदात्मा श्रीकृष्णचन्द्र जी ने योगी के आहार-विहार का भी निम्नांकित श्लोकों में निर्देश किया है :—

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

जिस व्यक्ति का आहार-विहार युक्त है तथा हर चेष्टा संयमित है, जिसका सोना व जागना भी संयमित है उसकी योग साधना सभी प्रकार के दुःख-द्वन्दों को दूर करने वाली होती है । जो मनुष्य वहुत अधिक खाता है या विल्कुल नहीं खाता, वहुत अधिक सोता है या सोता ही नहीं ऐसा व्यक्ति योग साधना में सफलता नहीं पा सकता ।

इसलिए साधक का जीवन बहुत ही संयमित होना चाहिए। जो साधक अपनी प्रत्येक दिनचर्या पर नियन्त्रण कर लेता है वह योगसाधना के मार्ग में सुखी बन जाता है। जगदात्मा के उपरोक्त आदेशानुसार अपने जीवन को संयमित करके प्रणव का जप करना चाहिए, किन्तु प्रणव के जप के साथ तदर्थ भावना भी होनी चाहिए। क्योंकि योगशास्त्र का यही विधान है।

प्रणव का अर्थ

'ॐ' शब्द की व्याख्या करना बहुत ही वृहत् कार्य है। साधारण रूप से सब प्रकार स्तुति करने योग्य सर्वरक्षक परमपुरुष परमात्मा का नाम ही 'ॐ' है। श्री याज्ञवल्क्य जी ने प्रणव की अभिव्यक्ति करने वाले एक श्लोक को इस प्रकार लिखा है:—

अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।
तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥

अर्थात्—अदृष्ट विग्रह देव जो अव्यक्त हैं, मन की धारणा से जिसका चिन्तन किया जाता है उस परम पुरुष का नाम ही 'ॐ' है। 'ओम्' शब्द का उच्चारण करने से वह अव्यक्त आत्मा प्रसन्न होता है। हमारे शास्त्र का विधान है:—

प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यातीत नियतो यतिः।

अर्थात्—ओंकार का जाप करने वाले यति को परमब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के जितने नाम हैं उन सबका समावेश स्वतः ही प्रणव में हो जाता है।

प्रणवो वाचकस्तस्य शिवस्य परमात्मनः।
शिवरुद्रादिशब्दानां प्रणवो हि परः स्मृतः ॥

भगवान सदाशिव ही वाचक प्रणव के वाच्य हैं। शिव रुद्रादि शब्दों में उनका बोधक नाम प्रणव ही प्रमुख है और उन प्रणव रूप महेश्वर में करोड़ों रुद्र, ब्रह्मा व विष्णु का समावेश है।

असंख्याताश्च रुद्राद्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्चाप्यसंख्याता एक एव महेश्वरः ॥

असंख्य ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव एक महेश्वर में दिखाई देते हैं। अतः प्रणव ही परात्पर वाचक है और उसके वाच्य महेश्वर हैं, वही अव्यक्त केतन है। प्रणव का जप करते हुए उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का ध्यान करते हुए मनुष्य अवश्य ही परम श्रेय का भागी हो जाता है।

स्वाध्याय का अर्थ है–'प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः'। ओंकारादि पवित्र नामों का जप स्वाध्याय कहलाता है। अतः साधक निरन्तर प्रणव का जाप करे और जपते-जपते थक जाये तो नित्य चेतन भगवान सदाशिव का ध्यान करना चाहिए। शास्त्रीय आदेश है कि –

जप श्रान्तः शिवंध्यायेत ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।
जप ध्यानसमायुक्तः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

साधक जप करता हुआ थक जाये तो भगवान् सदाशिव का ध्यान करे और ध्यान करता हुआ यदि थक जाये तो उनके नाम का या मन्त्र का जाप करे। इस प्रकार से जप और ध्यान की शक्ति से अवश्य ही परब्रह्म की प्राप्ति हो जाया करती है।

प्रणव जप का एक और प्रकार

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासात् देवं पश्येन्निगूढ़वत्।

साधक अपने शरीर को अरणि समझे और प्रणव को उत्तरारणि। इस प्रकार ध्याननिर्मंथन के द्वारा छुपे हुए देवता का स्वतः ही प्रकाश हो जाया करता है। इस विधि का अर्थ है–श्वास-प्रश्वास के द्वारा प्रणव का जाप करना। इसी प्रकार सोऽहं-सोऽहं का जाप श्वास-प्रश्वास द्वारा करने से ध्याननिर्मंथन की आदत स्वतः पड़ जायेगी। यह अभ्यास वढ़ जाने से परम पुरुष की ओर प्रवृत्ति अनायास ही वढ़ जाती है। साधक को चाहिए :–

प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य पुरुषं ब्रह्माणि न्यसेत्।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः प्रसंख्याय विमुच्यते॥

यः सर्वभूत् चित्तज्ञो यश्च सर्वं हृदि स्थितः।
यश्च सर्वान्तरे ज्ञेयः सोऽहमस्मीति चिन्तयेत्॥

प्रकृति को पुरुष में और पुरुष को परमात्मा में अर्पण करके तथा 'परब्रह्म स्वरूप अखण्ड ज्योति परमात्मा मैं ही हूँ' इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ साधक आत्म ज्ञान के वल से मोक्ष को पा जाता है। जो प्रभु प्राणिमात्र के चित्तों के ज्ञाता हैं एवं पुरुषविशेषत्वेन प्राणिमात्र के हृदय में जिनका सन्निवेश है और जो सर्वान्तर्यामी हैं उनका सोऽहं भाव से ध्यान करता हुआ मनुष्य अवश्य ही परम श्रेयभागी वन जाता है। 'सोऽहं तत्व' ही प्रणव तत्व है जिसको पाकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।

बारहवां परिच्छेद

प्रणव-जप एवं अन्तराय निवृत्ति

इससे पिछले प्रकरण में हमने शास्त्रोक्त प्रणव महिमा का वर्णन करते हुए यह समझाने का प्रयत्न किया था कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के जितने नाम हैं वे सब के सब प्रणवात्मक हैं। उनके जपने से भी मनुष्य ओंकार को प्राप्त करता है। 'सोऽहं' के जाप करने से भी आत्मत्वेन प्रणव की प्राप्ति का ही विधान है। हंस विद्या 'अजपा गायत्री' कहलाती है। इस सम्बन्ध में उपनिषदों का वचन है:—

हंस-हंस अमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

हंस-हंस इस मन्त्र को जीव हर समय जपता रहता है, गुरूदेव के द्वारा उसका केवलमात्र बोध कराया जाता है। उपनिषद का वचन है कि—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो तपः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतो न भविष्यति॥

अर्थात्—इस अजपा गायत्री के समान न कोई विद्या, न कोई तप और न कोई पुण्य न कभी था और न होगा ही।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।

यह अजपा गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। अतः अजपा के द्वारा आत्म-बल की प्राप्ति होती है और स्वरूप स्थिति का यह मूल साधन है। इससे पूर्व अन्तराय-निवृत्ति का जिक्र आ चुका है। योगदर्शन कहता है:—

ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

प्रणव के जाप करने से मनुष्य को प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति और उसके अन्तरायों की निवृत्ति स्वाभाविक हो जाती है। भगवान् पतंजलिदेव ने योग-दर्शन में अन्तरायों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है:—

व्याधिस्त्यान संशय प्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति दर्शनालब्ध भूमिकत्वानवस्थित-त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य इस प्रकार है:—

नवान्तरायाश्चित्तस्य विक्षेपाः, सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः। तत्र व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य। संशय उभयकोटिस्पृग्विज्ञान—स्यादिदमेवं नैवं स्यादिति। प्रमादः—समाधि साधनानामभावनं। आलस्यं—कायस्य चित्तस्य च गुरूत्वादप्रवृत्तिः। अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्धः। भ्रान्ति दर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्ध भूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः। अनवस्थितत्वं लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा। समाधि प्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमला योगप्रतिपक्षा योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते।

व्याधि, स्त्यान, संशयः, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व ये योग के नौ अन्तराय हैं।

ये सब के सब अन्तराय चित्त में विक्षेप करने वाले हैं। चित्तवृत्तियों के रहते हुए ही अन्तराय हुआ करते हैं।

इनमें सर्वप्रथम व्याधिरूप अन्तराय का उल्लेख है, जो बड़ा प्रबल अन्तराय है और मनुष्य को परमार्थ से बिल्कुल च्युत कर दिया करता है खान-पानादि का रस, मांस, रुधिर आदि धातुयें तथा मन व इन्द्रियों की विषमता से उत्पन्न होने वाले यकृत प्लीहादि तथा ज्वर आदि व्याधि कहलाते हैं। व्याधि एक इस प्रकार का अन्तराय है जिसके पैदा हो जाने पर अच्छे से अच्छा साधक भी विचलित होकर पतन की ओर चला जाता है। अतः साधक के लिये यह परमावश्यक है कि वह व्याधि पैदा होने ही न दे, उसके लिये आवश्यक साधन करता रहे।

दूसरा स्थान स्त्यान का है। व्याधि से ग्रसित हुआ प्राणी इतना दीन-हीन हो जाता है जिसके फलस्वरूप उसका चित्त बिल्कुल अकर्मण्य बन करके लापरवाही में रहने लगता है यही स्त्यान रूप अन्तराय है।

इसके बाद तीसरा अन्तराय संशय नाम का है। संशय शब्द का अर्थ है—उभय कोटि स्पृक् ज्ञान अर्थात् मन में हर समय संशय बने रहना। यह बात ठीक है या गलत है, इस प्रकार से कभी ठीक और कभी गलत ऐसी भावना उभयकोटि स्पृक् ज्ञान है।

प्रमाद :—समाधि के साधनों में अप्रवृत्त रहना, संलग्नता का न होना ही प्रमादरूप अन्तराय है।

आलस्य :—वात पित्त कफादि दोषों के कारण शरीर और मन में भारीपन रहना आलस्य नाम का अन्तराय है।

अविरति :–अविरति का अर्थ है–वैराग्य का अभाव। वासनिक भोगों को भोगते-भोगते बुद्धि वृत्ति इतनी मलिन हो जाती है कि आत्मा भी अपने आपको वासनारूप ही देखने लगता है, इसी का नाम अविरति है।

भ्रान्तिदर्शन :–अविद्यादि के कारण मन में विपरीत ज्ञान का होना भ्रान्तिदर्शन कहलाता है। भगवान् पतंजलिदेव ने विपर्य्यय का अर्थ लिखा है :–

विपर्य्ययो मिथ्याज्ञानमतदरूप प्रतिष्ठम्।

अलब्ध भूमिकत्व :–वहुत प्रयत्न करने पर भी समाधिभूमि का प्राप्त न होना यह अलब्ध भूमिकत्व नाम का आठवां अन्तराय है।

अनवस्थितत्व :–जैसे कोई व्यक्ति गुरुदेव की आज्ञानुसार प्रतिदिन दो घण्टे ध्यानाभ्यास करता है, कदाचित् वहुत प्रयत्न करने पर थोड़ी वहुत स्थिति वन जाये और फिर वह कायम न रहे, इसी का नाम अनवस्थितत्व है। इनके साथ-साथ कुछ अन्य विक्षेप भी पैदा हो जाया करते हैं। जैसे :–

दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

इस सूत्र पर व्यासभाष्य इस प्रकार है :–

दुःखमाध्यात्मिकम्, आधिभौतिकमाधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्। दौर्मनस्यमिच्छाविघाताच्चेतसः क्षोभः। यदङ्गान्येजयति कम्पयति तदङ्गमेजयत्वम्। प्राणो यद् वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिप्तचित्तस्यैते भवन्ति। समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति॥

आध्यात्मिक आदिभौतिक और आधिदैविक ये तीन प्रकार के दुःख हुआ करते हैं। जिनसे पीड़ित हुआ प्राणी अपने आपको दुःख से छुड़ाने के प्रयत्न में लगा रहता है। यह भी अन्तरायों के साथ पैदा होने वाला एक छोटा सा अन्तराय ही है।

दौर्मनस्य :–वहुत प्रयत्न कर लेने पर भी वस्तु की प्राप्ति न होने पर मन में जो क्षोभ होता है उसका नाम दौर्मनस्य है।

अङ्गमेजयत्व :–साधनाकाल में शरीर के अंगों का काँपना, अंगों के वार-वार काँपने के कारण मन का स्थिर न होना यह अङ्गमेजयत्व नाम का एक छोटा सा अन्तराय है।

श्वास :–नासिका रन्ध्रों से वाहर की वायु अन्दर खींचना श्वास कहलाता है।

प्रश्वास :–अन्दर की वायु वाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास में विक्षेप होना भी एक छोटा सा अन्तराय ही है।

इन सवकी निवृत्ति के लिये शास्त्रों में अभ्यास और वैराग्य रूप दो उपाय वतलाये गये हैं। भगवान पतंजलिदेव जी यह आदेश देते हैं :–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्वाभ्यासः ।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य इस प्रकार है :–

विक्षेप प्रतिषेधार्थमेकतत्वावलम्वनं चित्तमभ्यसेत्। यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्यय-मात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रं नास्त्येव विक्षिप्तम्। यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्यैकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थं नियतम्।

योऽपि सदृश प्रत्यय प्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मस्तदैकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः, स सर्वः सदृश प्रत्यय प्रवाही वा विसदृश प्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थं नियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्त चित्तानुपपत्तिः। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति।

यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्ययाः जायेरन्नथ कथमन्यप्रत्यय-दृष्टस्यान्यः स्मर्ताभवेत्, अन्यप्रत्ययोपचित्तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत् ?

इन सव प्रकार के अन्तरायों की निवृत्ति के लिए एक ही परतत्व का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा आदेश भगवान पतंजलिदेव ने दिया है और वह तभी हो सकता है जव कि उसे एकाग्र मन से किया जाये। इस बात को सुनकर किसी नास्तिक के मन में यह प्रश्न उठता है कि चित्त क्षणिक है, जो चित्त इस समय जिस अर्थ में लगा हुआ है वह उसमें एकाग्र है ही। उसके वाद दूसरा प्रवाह आयेगा, दूसरी वृत्ति पैदा होगी तव उसमें दूसरा चित्त एकाग्र हो जायेगा। या यूँ कहा जाय कि एकाग्रता प्रवाहिक चित्त का धर्म है। अतः जो वृत्ति जिस समय हुई, चित्त की एकाग्रता का उदय हो गया, जब दूसरा प्रवाह आयेगा, तब दूसरी वृत्ति एकाग्र हो जायेगी। इस प्रकार चित्त का क्षणिक मानना या प्रवाहिक चित्त का आंशिक एकाग्र होना दोनों असंगत वातें हैं।

सिद्धान्त की वात यही है कि एक ही चित्त अनेक अर्थों में अवस्थित है। अर्थ अनेक हैं और उनका ग्रहीता चित्त एक है। यदि चित्त को क्षणिक मान लिया जाय या नास्तिक के मतानुसार एकाग्रता प्रावाहिक चित्त का धर्म मान लिया जाये तो यह

वात वहुत ही गलत एवं असंगत हो जायेगी। क्योंकि यदि एकाग्रता क्षणिक चित्त का धर्म माना जाय तो जो चित्त क्षण भर पहले था वह अव नहीं है। क्षण भर पहले वाले चित्त में जो एकाग्रता आई थी उसका ज्ञान इस समय के चित्त को नहीं होना चाहिए और इसी प्रकार से एकाग्रता को प्रावाहिक चित्त का ज्ञान माना जाय तो भी ऐसी ही बात वनती है। जो चित्त क्षण भर पहले प्रवाह में था वह इस समय प्रवाह गति से वहुत आगे निकल गया। उसके एकाग्रता के धर्म भी उसी प्रवाह के साथ चले गये। उनका ज्ञान इस समय के प्रावाहिक चित्त को नहीं होना चाहिए। अतः चित्त न क्षणिक है और न एकाग्रता प्रवाहिक चित्त-धर्म ही है, जवकि एक ही चित्त अनेक धर्मों में अवस्थित है। इसी कारण वह एकाग्र होता है। चित्त की एकाग्रता से ही अन्तरायों की निवृत्ति के लिये एक तत्व का अभ्यास किया जा सकता है।

वह एक तत्व क्या है? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। इसके सम्वन्ध में महाराजा भोज ने अपनी भोजवृत्ति में लिखा है :–

तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन् कस्मिश्चिदभिमते तत्वे अभ्यासश्चेतसः पुनः पुनर्निवेशनं कार्यः। तदब्लात् प्रत्युदितायामेकाग्रतायाम् विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति।

अर्थात्–अन्तरायों की निवृत्ति के लिए किसी अभिमत एक तत्व में चित्त को एकाग्र करे। उसमें एकाग्र हुआ चित्त अन्तरायों की निवृत्ति के लिए सवल हो जायगा। इस भाष्य से यह संकेत मिलता है कि साधक किसी भी अभ्यास को एक तत्व रूप से अपना लक्ष्य वनाकर चित्त को एकाग्र करना आरम्भ करे तो कुछ समय वाद चित्त तो एकाग्र हो ही जायेगा साथ ही विक्षेप निवृत्ति भी हो जायेगी। किन्तु महर्षि का मानस अभिप्राय क्या है यह दूसरे प्रकरण से विल्कुल स्पष्ट हो जाता है। महर्षि पतंजलिदेव ने योग-दर्शन के समाधिपाद में ईश्वर का लक्षण लिखते हुए स्पष्ट निर्देश किया है कि ईश्वर परम गुरू है और उसका बोधक नाम 'ॐ' है। उस ओम का जप करना चाहिए और उसके अर्थ रूप परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए। प्रणव का अर्थ क्या है, यह हम पिछले प्रकरण में भलीभाँति समझा चुके हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि से अतीत जो परासत्ता है वही प्रणव है अथवा ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि के अन्दर व्याप्त रहने वाली सत्ता ही प्रणव है। इसलिए त्रिमूर्ति प्रणव का जाप करते हुए निर्गुण शुद्ध चैतन्य अथवा चैतन्याधिष्ठित ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक किसी भी मूर्ति का प्रणवार्थेन ध्यान किया जा सकता है। इस बात को स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से स्वीकार किया है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

'ॐ' इस एकाक्षर का स्मरण करता हुआ और मेरा ध्यान करता हुआ जो व्यक्ति शरीर छोड़ता है वह परम गति को पा जाता है।

इसलिए भगवान पतंतलिदेव ने प्रणव के जाप का तथा प्रणवाभिधेय के ध्यान का निर्देश किया है और उसका फल वताते हुए कहा है :–

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

अर्थात्–प्रणव का जप करने एवं प्रणवाभिधेय का ध्यान करने से उस प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति होती है एवं अन्तरायों की निवृत्ति हो जाया करती है।

हमारे पूर्वजों ने गुरुदेव के ध्यान का यही फल वतलाया है। क्योंकि श्री गुरुदेव भी प्रणवस्वरूप हैं। शास्त्रों का कथन है कि :–

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णु गुरूः साक्षान्महेश्वरः।
गुरूरेकं परं व्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

श्री गुरुदेव व्रह्मा, विष्णु, शिवात्मक एवं स्वयं परव्रह्म स्वरूप हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने 'नास्ति तत्वं गुरोः परम्' कहकर सद्गुरू को ही परम तत्व वतलाया है तथा गुरू शब्द की अभिव्यक्ति के लिये यह लिखा है कि :–

यत्रावच्छेदनार्थेन कालो नोपावर्त्तते स गुरूः।

अर्थात्–काल जिसकी हद को नाप नहीं सकता वह परासत्ता ही सद्गुरू सत्ता है उसी का नाम 'एक-तत्व' है। अतः उस परम तत्व का चिन्तन करना ही एकतत्वाभ्यास है और उस चिन्तन से प्रत्यक् चेतन की प्राप्ति एवं अन्तराय निवृत्ति अवश्य होगी ही।

चित्त प्रासादन का एक और उपाय है जिसका पालन करने से साधक का चित्त आह्लादित होकर हर समय एकाग्र सा रहता है।

श्री पतंजलिदेव ने लिखा है कि–

मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम।

सर्वप्राणिषु सुखभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करूणां, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यात्मषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते।

सुख भोग-सम्पन्न प्राणियों में मित्रता की भावना रखनी चाहिए, दुःखित लोगों पर दवा की भावना रखनी चाहिए, पुण्यात्माओं को देखकर हर्षित होता रहना चाहिए

तथा पापात्माओं के प्रति मन में उपेक्षा भाव रखना चाहिए। ऐसा करने से चित्त तेजस वन जाता है, उसमें शुक्ल धर्मों का उदय हो जाता है और वह प्रसन्न रहना सीख जाता है। इसी प्रसन्नता तथा आह्लाद के फलस्वरूप चित्त एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है जिससे सभी अन्तरायों की स्वतः निवृत्ति हो जाती है। ऐसा देखने में आया है कि जो साधक अभ्यासशील वने रहते हैं उनके अन्तरायों की निवृत्ति स्वतः ही होती चली जाती है। अतः प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह सदैव अभ्यास में संलग्न रहे, अपने गुरुमन्त्र का अधिकाधिक जाप करे एवं इष्टदेव का ध्यान करें। ऐसा करने से वह कुछ समय में ही यह अनुभव करने लगेगा कि उसे पूर्ण सुख की प्राप्ति हो रही है।

तेरहवां परिच्छेद

ईश्वर-प्रणिधान

योगमार्ग के साधकों के लिए 'योगदर्शन' के प्रणेता भगवान् पतंजलिदेव ने समाधि सिद्धि के हेतु जहाँ अन्य अनेक साधनों का वर्णन किया है वहाँ समाधिपाद के २३वें सूत्र में 'ईश्वर-प्राणिधान' का भी स्पष्टता से उल्लेख किया है। २०वें सूत्र में जहाँ श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदि का आलम्वन समाधि का हेतु बताते हुए इनका परिपालन आवश्यक बतलाया है वहां तेईसवें सूत्र में "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" कहकर उन्होंने साधक को निर्देश दिया है कि ईश्वर जो सर्वसमर्थ है और जिसे श्रुतियों ने "पुरुष विशेष" कहकर पुकारा है तथा जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से परे है उसकी शरण में जाना भी फलदायक है। सूत्र का अभिमत यही है कि–ईश्वर की भक्ति से अथवा सर्वथा भावेन उसकी शरण में जाने से भी समाधि सिद्ध होती है। योगदर्शन के इसी २३वें सूत्र–"ईश्वर प्रणिधानाद्वा" की व्याख्या करते हुए प्रातः स्मरणीय भगवान् व्यासदेव कहते हैं:–

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जितईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमस्समाधिलाभः।

अर्थात्–भक्ति विशेष से जाना गया ईश्वर उस ध्यान करने वाले योगी पर अनुग्रह करता है और उसे समाधि लाभ होता है। भक्तिविशेष का अर्थ यहाँ निरन्तर प्रभु का चिंतन लिया गया है। ऐसी भक्ति को जिसमें अपना मन, बुद्धि और सर्वस्व ईश्वरार्पित कर दिया जाता है, "मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर" वाली भावना जब साधक के हृदय में भर जाती है तब इसी अवस्था को ईश्वर प्रणिधान वाली अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब साधक अहंभाव का त्यागकर अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया और उसके फल को ईश्वर के चरणों में श्रद्धापूर्वक समर्पित कर देता है। इस प्रणिधान के व्रत को आचरण में तभी ढ़ाला जा सकता है जब साधक अभिमान, अहंकार और अस्मिता को त्यागकर 'वासुदेवः सर्वं' की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। ऐसा साधक अपने को सब में और सबको अपने मन में प्रतिक्षण देखने की चेष्टा करता रहता है। उसका जीवन-मन्त्र होता है–'आत्मवत् सर्व भूतेषु' और इसी 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' के अपने जीवन-मन्त्र में वह अपने सर्वेश्वर के, जिसे भगवान् पतंजलिदेव ने–'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' के रूप

में परिभाषित किया है, साक्षात् दर्शन करता है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वाणी में उसे भगवान् के दर्शन होते हैं।

'ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्च जगत्यां जगत' वेदभगवान् की यह सूक्ति उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होती। इसी दृष्टि से वह भगवान के विश्व रूप का दर्शन करने में सर्वत्र सर्वकाल में सक्षम होता है और ऐसी दृष्टि अपना लेने पर ही उसकी हृदय तन्त्री से हर समय यह झनकार निकलने लगती है कि :–

हर शै में तू है, हर गुल में तू है।
जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है॥

हिन्दी के एक भक्त कवि ने भी ऐसी ही अवस्था के लिए कहा है– 'जित देखौं तित श्याममयी है"। इस प्रकार भेद में अभेद वाली दृष्टि ही ईश्वर-प्रणिधान की परिभाषा है। यही दृष्टि साधक को विवश करती है कि–शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि सब करणों, उनसे होने वाले सारे कर्मों और उनके फलों को अर्थात् अपनी सारी वाह्य और आभ्यन्तर जीवन-क्रियाओं को तू उस ईश्वर को समर्पण कर दे जो सर्वज्ञता का बीज और निरतिशय है। योगयोगेश्वर भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने भी श्रीमद्भगवद्गीता के ९वें अध्याय में आत्मसमर्पण की व्याख्या में यही तो कहा है–

यत्करोषि यदश्नासि, यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपश्यसि कौन्तेय, तत्कुरूष्व मदर्पणम्॥

अर्थात्–तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है, जो तप करता है वह सब मुझ ईश्वर को अर्पण कर दे। क्योंकि–ऐसा करने से शुभ और अशुभ कर्मों के बन्धनों से तू मुक्त हो जायेगा और तू मुझको ही प्राप्त होगा। ईश्वर को प्राप्त हो जाने का ही अर्थ है–समाधि-सिद्ध हो जाना।

इसलिए भगवान् पतंजलिदेव ने अन्य अनेक उपायों का समाधि-सिद्धि के लिए अवलम्बन लेने का जहाँ जिक्र किया है वहाँ इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' सूत्र की रचना भी कर दी।

अतः योगमार्ग के साधकों को जो शीघ्र समाधि लाभ लेने की इच्छा रखते हैं ईश्वर को सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी मानकर उसकी आराधना करते हुए अपना आत्म-समर्पण सर्वथा सर्वविधि उसको ही कर देने का दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए।

इतिहास में एक नहीं अनेकों ऐसे उदाहरण हमें मिलते हैं कि–जिन्होंने शुद्ध

हृदय से अपने को भगवान के अर्पण कर दिया है उन्होंने भगवान का साक्षात्कार इसी जीवन में कर लिया। इसीलिए तो श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है :—

मन्मना भव मद्भवतो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैष्यसि युक्त्वैव—मात्मानं मत्परायणः ।।

अर्थात्—मुझमें मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे निमित्त भजन कर, मुझे नमस्कार कर—इस तरह मुझ में परायण होकर मेरे साथ आत्मा का योग करने से तू मुझे प्राप्त कर लेगा। अर्थात्—मुक्त हो जायेगा।

यही समाधि-सुख है जिसे ईश्वर-प्रणिधान द्वारा प्राप्त करने का परामर्श भगवान पतंजलिदेव ने अपने उक्त सूत्र द्वारा दिया है।

चौदहवां परिच्छेद

इन्द्रियजय की साधना एवं उसका फल

सिद्धयोग के पिछले अंकों में हमने योगदर्शन के विभूतिपाद की कितनी ही साधनाओं का शास्त्रोक्त विधि से वर्णन किया था। अभी पिछले दिनों सन् ७६ के आठवें अंक में 'भूतजय की साधना' नामक एक लेख प्रकाशित किया गया था; जिसमें पंच महाभूतों के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एवं अर्थवत्व आदि में संयम करने से भूतजय की साधना के प्रकार वतलाये गये थे। ठीक इसी प्रकार से इन्द्रिय-जय की भी साधना है। भूतजयी हो करके व्यक्ति पंच महाभूतों पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार इन्द्रिय जय की साधना करने वाला व्यक्ति शनैः शनैः अभ्यास को वढ़ाता हुआ मूलप्रकृति पर अधिकार प्राप्त करके प्रधानजयी वन जाता है। भगवान पतंजलिदेव ने इन्द्रिय-जय प्राप्त करने के लिए इस सूत्र का उल्लेख किया :-

ग्रहणस्वरूपास्मिताऽन्वयार्थवत्वसंयमादिन्द्रियजयः ।।

अर्थात्-इन्द्रियों के भी पाँच विभाग मान लेने चाहिए, जिसमें सवसे पहला है- ग्रहण।

योग-दर्शनाकार के मन में सामान्य और विशेषों को ले करके इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है और इसी प्रकार से सामान्य रूप से इन्द्रियों का जो निजी रूप है-जैसे नेत्रों का नेत्रत्व और कर्णों का कर्णत्व आदि-आदि जो सत्तामात्र रूप है वही सामान्य रूप कहलाता है।

अस्मिता :-तीसरा रूप है-अस्मिता जो बुद्धि सत्व का शुद्ध अहंकार है। जहाँ से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है वही अस्मिता नाम का अहंकार इन्द्रियों का अभिषेक है। उसके विशेष परिणाम स्वरूप ही इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई, यही अस्मिता नाम का अहंकार इन्द्रियों का तीसरा रूप है।

इन्द्रियों का चौथा रूप अन्वय-अर्थात् सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण-प्रकाश-क्रियास्थितिशील होने से इन्द्रियों में अनुगत रहते हैं, इसलिए इन्द्रियों का यह चौथा रूप अन्वय है। उसके वाद इन्द्रियों का पाँचवां रूप अर्थवत्व रूप है। अर्थवत्व का अर्थ है-प्रयोजन। अर्थात् जिस अर्थ को लेकर इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई वह प्रयोजन ही

इन्द्रियों का अर्थवत्व रूप है। प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील पंच महाभूत एवं ऐन्द्रियात्मक जितना विस्तार है उसको भगवान पतंजलिदेव ने दृश्य माना है। उस दृश्य के पुरुष के निमित्त दो ही प्रयोजन हैं—पहला भोग और दूसरा अपवर्ग, यही इन्द्रियों का अर्थवत्व रूप है। इन्द्रियों के पाँचों रूपों के अन्दर जव योगी समाधि विधि से संयम करता है तो वह इन्द्रियों पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है एवं इन्द्रियजयी वन जाता है। पढ़िये इस सूत्र पर व्यासभाष्य की पंक्तियाँ :—

सामान्य विशेषात्मा शब्दादिर्ग्राह्यः तेष्विन्द्रियाणाम् वृत्तिर्ग्रहणम्। न च तत्सामान्यमात्र ग्रहणाकारं कथमनालोचितः स विषय विशेष इन्द्रियेण मनसाऽनुव्यवसीयेतीति। स्वरूपं पुनः प्रकाशात्मनो बुद्धि सत्वस्य सामान्य विशेषयोरयुन सिद्धावयव भेदानुगतः समूहो द्रव्यमिन्द्रियं। तेषां तृतीयं रूपमस्मितालक्षणोऽहङ्कारः। तस्य सामान्यस्येन्द्रियाणि साहङ्काराणि परिणामः। पंचमं रूपं गुणेषु यदनुगतं पुरुषार्थवत्वमिति पंचस्वेतेष्विन्द्रियरूपेषु यथाक्रमं संयमः, यत्र तत्र जयं कृत्वा पंचरूपजयादिन्द्रियजयः प्रादुर्भवति योगिनः।

भाव रूप से इन पंक्तियों का अर्थ ऊपर अभिव्यक्त कर ही दिया है। अतः शब्दार्थ की विशेष आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। इन्द्रियजय प्राप्त कर लेने के वाद योगी को तीन प्रकार की सिद्धियाँ स्वाभाविक प्राप्त हो जाया करती हैं, जिसका उल्लेख भगवान पतंजलिदेव ने इस प्रकार किया है :—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

इस सूत्र पर व्यासभाष्य की पंक्तियाँ :—

कायस्यानुत्तमो गतिलाभो मनोजवित्वम्। विदेहानामिन्द्रियामभिप्रेत देशकालः विशेषापेक्षो वृत्तिलाभो विकरणभावः। सर्वं प्रकृतिविकारवाशित्वंप्रधानजय इति। एतास्तिस्रः सिद्धयो मधुप्रतीकाः उच्यन्ते। एताश्च कर्णपंचकरूपजयादधिगम्यन्ते।

अर्थात्—इन्द्रियजय की साधना पूरी हो जाने के वाद योगी को ये तीन प्रकार की सिद्धियाँ स्वतः उपलब्ध हो जाया करती हैं।

(१) **मनोजवित्वम् :**—अर्थात् जिस गति से हमारा मन जाता है ठीक उसी प्रकार से योगी का शरीर भी मन के वेग वाला वन जाता है। जहाँ-जहाँ योगी का मन जाता है, वहाँ-वहाँ मनोजवित्ता से योगी का शरीर भी चला जाता है।

(२) **विकरणभाव :**—अर्थात् शरीरादि की अपेक्षा के विना ही योगी की इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करने लगती हैं। जैसे :—दूरदर्शन, दूर-श्रवण, दूर-स्पर्शन, रसग्रहण करना एवं दूर की गन्ध ग्रहण करना आदि छोटी-छोटी ताकतें प्राप्त हो जाती हैं।

(३) **प्रधानजय** :–अर्थात् योगी का मूल प्रकृति पर पूरा अधिकार हो जाता है और वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं सर्वथा सक्त:' की ताकत वाला हो जाता है। ये सारी सिद्धियाँ योगी को समाधि बल से तो प्राप्त होती ही हैं किन्तु जो योगी साधना के बल से अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लेता है वही समाधि और संयम के बल को पा सकता है। इसके विपरीत जो लोग काममयी वासना भोगी हैं उनके लिए यह आकाश में निराधार खिले हुए पुष्प के समान असम्भव है।

पन्द्रहवां परिच्छेद

भूतजय की साधना एवं उसका फल

योगदर्शन के विभूति पाद में ४४वें सूत्र में भगवान पतंजलिदेव इस विषय को इस प्रकार कहते हैं :–

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ।।४४।।

अर्थात्–महाभूतों के स्थूल सूक्ष्म आदि स्वरूपों को समझकर मनुष्य महाभूतों पर जय प्राप्त कर लेता है। इस सूत्र पर पढ़िये व्यास भाष्य :–

तत्र पार्थिवाद्याः शब्दादयो विशेषाः सहकारादिभिर्धर्मैः स्थूलशब्देन परिभाविताः एतद् भूतानां प्रथमं रूपम्, द्वितीयम् रूपं स्वसामान्यम्; मूर्तिर्भूमिः, स्नेहो जलं, वह्निरूष्णता, वायुः प्रणामी, सर्वतो गतिराकाशः इत्येतत्स्वरूपशब्देनोच्यते। अस्य सामान्यस्य शब्दादयो विशेषाः, तथा चोक्तम्–'एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः' इति। सामान्यविशेष समुदायोऽत्र द्रव्यं, द्विष्टो हि समूहः प्रत्यस्तमित भेदावयवानुगतः शरीरं, वृक्षो यूथं वनमिति, शब्देनोपत्तिभेदावयवानुगतः समूहः–उभये देवमनुष्याः, समूहस्य देवाः एको द्वितीयो भागस्थमेवाभिधीयते समूहः, स च भेदाभेद विवक्षितः। आम्राणां वनं ब्राह्मणानां सङ्घः आम्रवनं ब्राह्मणसङ्घः इति स पुनः द्वितीयो युतसिद्धावयवोऽयुतसिद्धावयवश्च। युतसिद्धावयवः समूहो वनं संघ इति, अयुतसिद्धावयव सङ्घातः शरीरं वृक्षं परमाणुरिति, अयुतसिद्धावयव भेदानुगतः समूहो द्रव्यमिति पतंजलि एतत्स्वरूपमित्युक्तम्। अथ किमेणां सूक्ष्मरूपं तन्मात्रं भूतकारणं, तस्यैकोऽवयवः परमाणुः सामान्यविशेषादयुतसिद्धावयव भेदानुगतः समुदाय इति, एवं सर्वतन्मात्राणि एतत्तृतीयम्। अथ भूतानां तृतीयं रूपं ख्याति क्रिया स्थिति शीलाः गुणाः कार्य्यस्वभावानुपातिनोऽन्वयशब्देनोक्ताः, अथैणां पंचमं रूपमर्थवत्वं भोगापवर्गार्थिता गुणेष्वन्वीयनी गुणास्तन्मात्रभूतभौतिकेष्विति सर्वमर्थवत् तेष्विदानाम् भूतेषु पञ्चसु पञ्चरूपेषु संयमात्तस्य तस्य रूपस्य स्वरूपदर्शनं जयश्च प्रादुर्भवति। तत्र पञ्चभूत स्वरूपाणि जित्वा भूतजयं भवति, तज्जयात्वत्सानुसारिण्य इव गावोऽस्य संकल्पानुविधायिन्यो भूतप्रकृतयो भवन्ति।

अर्थात्–भूतजय की सिद्धि को प्राप्त करने के लिए महाभूतों के पाँच-पाँच प्रकार के विभिन्न स्वरूपों को एवं उनके धर्मों को समझ कर संयम करने से योगी को भूतजय

की सिद्धि प्राप्त होती है। भूतों के स्वरूप–स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एवं अर्थवत्व आदि भेदों से पाँच प्रकार के हैं। उनको निम्नांकित प्रकार से समझ लीजिये–

(१) **स्थूल** :–पंच महाभूतों का स्थूल स्वरूप इस प्रकार है। जैसे पृथ्वी का पृथ्वी ही स्थूल रूप है, जल का जल ही स्थूल रूप है, वायु का वायु एवं आकाश का खाली पोल। यही इन पंच महाभूतों के स्थूल रूप हैं जो हर व्यक्ति को देखने में आते हैं।

(२) **स्वरूप** :–दूसरा रूप उनका स्वरूप है। जैसे–पृथ्वी में गन्ध, जल में चिकनाहट, अग्नि में गर्मी, वायु में कम्पन और आकाश में पोल।

(३) **सूक्ष्म** :–तीसरा रूप सूक्ष्म है जिसे तन्मात्र कहा जाता है। जैसे–पृथ्वी का तन्मात्र गन्ध, जल का रस तन्मात्र, अग्नि का रूप तन्मात्र, वायु का स्पर्श तन्मात्र, आकाश का शब्द तन्मात्र। यह पंचमहाभूतों का तीसरा रूप है।

(४) **अन्वय** :–चौथा रूप अन्वय है। अन्वय का अर्थ है–ओत-प्रोत रहना। जैसे–सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण ये तीनों गुण अपने प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति वाले धर्मों से सर्वत्र अनुगत रहते हैं। यही पंचमहाभूतों का अन्वय रूप है।

(५) **अर्थवत्व** :–अर्थात् इनका अर्थवान होना। इनसे कोई उपकार हो, लाभ हो तो ये पाँचों महाभूत भोग अपवर्ग के दाता हैं। महाभूत के सम्मिश्रण से ही मनुष्य भोग का भोक्ता है। इसलिए नित्य चेतन आत्मा बौद्धेय धर्मों का अनुगामी होकर पंचमहाभूतों में जनित सभी प्रकार के भोगों का भोक्ता रहता है। दृश्य का दूसरा कार्य अपवर्ग है। जिस समय जीव वैराग्य भाव को प्राप्त होकर बरावर सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तत्वों में संयम करता हुआ आगे वढ़ता रहता है वह अपवर्ग को प्राप्त कर लेता है। भूतों के इन विभिन्न पाँच रूपों में जब तक योगी साक्षात् पर्यन्त वरावर संयम करता है तो उसके फलस्वरूप वह भूतजय को प्राप्त होता है।

इस प्रकार की भूतजय की साधना कर लेने के बाद योगी को स्वयमेव अणिमादिक सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु यह वहुत ही आवश्यक है कि साधक को वड़े धैर्य के साथ अपने साधन में संलग्न रहना चाहिए। साधक यौगिक ऐश्वर्य को पढ़कर और समझकर भी इन्द्रियलोलुप रहता है एवं पुरुषार्थ शून्य होकर भाग्य के भरोसे पर पड़ा रहता है तो वह अपने श्रेय मार्ग से पतित हो जाता है। जो परम वीर्यवान साधक उत्साह से शून्य नहीं होता और अपने पूरे-पूरे प्रयत्न में लगा रहता है वह अवश्य ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया करता है। भूतजय की कठिन से कठिन साधना पर जय प्राप्त कर लेने वाले योगी को जल्दी ही अणिमादिक ऐश्वर्यों का प्रादुर्भाव हो जाया करता है। भगवान पतंजलिदेव लिखते हैं :–

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।

अर्थात्–भूतजय की साधना के वाद योगी को अणिमादिक ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं और कायिक सम्पत्ति में कोई रुकावट पैदा नहीं होती। अणिमादिक ऐश्वर्यों का वर्णन व्यास भाष्य में इस प्रकार लिखा है :–

तत्राणिमा भवत्यणुः, लघिमा लघुर्भवति, महिमा महान भवति, प्राप्तिरंगुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्, प्राकाम्यम् इच्छानभिघातो भूमावुन्मज्जति निमज्जति यथोदके, वशित्वन् भूत भौतिकेषु वशी भवति अवश्यश्चान्येषाम्, ईशितृत्वं तेषाम्प्रभवाण्यव्यूहानामीष्ठे, यत्र कायावसायित्वं सत्य संकल्पता यथासंकल्पस्तथा भूत प्रकृतीनामवस्थानम्।

अर्थात्–भूतजय प्राप्त कर लेने पर योगी को अणिमादिक सिद्धियाँ जो अनायास प्राप्त हो जाती हैं वे इस प्रकार हैं :–

(१) **अणिमा** :–भवत्यणुः = अणुमात्र हो जाना।

(२) **लघिमा** :–लघुर्भवति = हल्का हो जाना।

(३) **महिमा** :– महान भवति = वहुत वड़ा हो जाना।

(४) **प्राप्ति** :– अंगुल्यग्रेणापि स्पृशति चन्द्रमसम्। अंगुली के अगले भाग से चन्द्रमा को छूने की ताकत प्राप्त कर लेना।

(५) **प्राकाम्य** :–किसी भी प्रकार की इच्छा का न रुकना अर्थात् पूर्ण हो जाना यदि योगी चाहे तो जिस प्रकार सर्वसाधारण मनुष्य जल में गोता लगा लिया करते हैं और बाहर निकल जाया करते हैं उसी प्रकार पृथ्वी में प्रवेश करके बाहर निकल सकता है।

(६) **वशित्वम्** :–पञ्च महाभूतों में रहने वाले सभी पदार्थों पर योगी का पूर्ण वशीकार हो जाता है और वह किसी के वश में नहीं रहता।

(७) **ईशितृत्व** :–पञ्च महाभूतों के कार्यों को वनाने और बिगाड़ने की सामर्थ्य रखना।

(८) **यत्र कामावसायित्वम्** :–योगी की जैसी इच्छा हो पञ्च महाभूतों का उस प्रकार अवस्थान हो जाना।

इन महासिद्धियों को पाकर योगी सर्वसामर्थ्यवान बन जाता है। महाभूतों का कोई भी कार्य उसके प्रतिकूल नहीं होता प्रत्युत उसको कायसम्पत्य और प्रकट हो जाती है।

भूतजयवान योगी को उपरोक्त अणिमादिक ऐश्वर्य साधना के आधार पर अनायास ही प्रकट हो जाया करते हैं और ज्यों-ज्यों भूतजयी योगी अपने अभ्यास में रत रहता है उसकी कायिक सम्पत्ति वढ़ती रहती है। ज्यों-ज्यों उसका अभ्यास दृढ़ता से वढ़ता है त्यों-त्यों वढ़ी हुई कायिक सम्पत्ति का अनभिघात अनायास ही हो जाता है। सिद्धों के चरित्रों में ऐसी वातें सुनने में आती हैं कि वे लम्बे समय से समाधिस्थ होने पर भी जव उठते हैं तो अत्यन्त सुन्दर सुकुमार एवं अल्पवयस्क दिखाई देते हैं। जहाँ पर यौगिक ग्रन्थों में योगियों की काय सम्पत्ति का वर्णन मिलता है और आत्म-ध्यान की कथायें सविस्तार लिखी रहती हैं वहाँ उनके चरित्रों के अन्दर तथा कायिक अवयव संघटनों पर देवलोक के जीव भी मोहित रहा करते हैं और वे चाहा करते हैं कि इस योगी का सम्पर्क हमें मिल जाय। योगी का मन यदि तरह-तरह के आकर्षणों से वच जाय तो वह अवश्य ही निर्वाण पद को प्राप्त करता है अन्यथा स्वर्गीय भोगों में फँसकर स्वर्गवासी वनकर रहा करता हैं।

यह कायसम्पद् क्या है ? इसका योग-दर्शन में इस प्रकार वर्णन किया गया है :–

रूपलावण्य वल वज्रसंहननत्वानि कायसम्पद् ।।४६।।

अर्थात्–वह अत्यन्त रूपवान कान्तिवान वज्र के समान दृढ़ और सव प्रकार से अच्छेद्य शरीर वाला हो जाता है। सब प्रकार से शरीर की अच्छेद्यता, अभेदता को प्राप्त होना यह योगी की कायसम्पत्ति है, जो भूतजय प्राप्त होने पर स्वभाव से ही वनी रहती है। साधना-सिद्ध योगी को जीवन भर की कठिन साधना के बाद भूतों के दुष्परिणाम नहीं हो पाते। भूतजयी योगी विषपान करके उसको सहज में ही पचा जाता है और अमृत के गुणों को अपने अन्दर प्रगट कर लेता है। साधना करने वाले योगी को यह सम्पत्ति बड़े कठिन प्रयत्न के वाद प्राप्त हुआ करती है किन्तु अनादि महासिद्ध सदैव मुक्त सर्वतः परिपूर्ण श्रीकृष्ण के लिए ये भूतजय आदि ऐश्वर्य अनायास ही प्राप्त हैं। अतः पूतना के स्तनों से विषपान करने पर भी शरीर में किसी प्रकार का कुप्रभाव न होकर उसकी काय सम्पत्ति का ज्यों का त्यों वने रहना उस महायोगी के भूतजयात्मक पूर्णाधिकार को पूर्णरूपेण प्रगट करता है।

इस प्रकार जो योगी भूतजयी हो जाता है उसके अन्दर अचिंत्य शक्तियाँ वढ़ जाया करती हैं। जिस प्रकार पिछले लेख में हमने यह वतलाने की चेष्टा की थी कि योगी अपने निर्माण चित्त से हजारों से मिल सकता है, हजारों से वातचीत कर सकता है और यह सव कुछ कार्य करते हुए भी वह हिमालय की किसी गहर गुफा में स्थित हो करके अपने आपको विलकुल निर्लेप और अकर्तृत्व में रख सकता है। इसी प्रकार भूतजयी योगी अपनी अलौकिक शक्ति से सैकड़ों काय निर्माण करके लोक में कार्य

कर सकता है और सब प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त रह सकता है। योगी के लिये हमारे शास्त्रों में इस प्रकार का लेख है :–

इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित्॥
अचिन्त्य शक्तिमान्योगी नाना रूपाणि धारयेत्।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः॥
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः॥
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति।
यत्र जीवन्ति मूढ़ास्तु तत्रासौ मृत एव वै॥
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोष विवर्जितः॥

अर्थात्–योगीन्द्र लोग इच्छा रूप होते हैं। अपनी इच्छा से ही वे लोग तीनों लोकों में स्वतन्त्र गति से विचरते हैं। उनकी शक्ति इतनी अद्‌भुत होती है कि उसको हर व्यक्ति सोच भी नहीं सकता। वे लोग एक क्षण में हजारों रूप बना लें और फिर उनका संहार भी कर दें। वे लोग हठ-साधना के द्वारा अपने आपको मार लेते हैं। कठिन योग-साधनायें करते हैं इसके परिणामस्वरूप वे लोग फिर मरण धर्मा नहीं रहते। जो व्यक्ति अपने आपको हठ-साधना के द्वारा मार लेता है उसका फिर मरण नहीं होता। योगीन्द्र लोग विजितेन्द्रिय होते हैं। जिन वासनाओं के गर्तों में सांसारिक लोग हर समय मरते रहते हैं वहाँ पर योगेश्वर लोग सर्वथा जीवित ही रहते हैं और जिन वासना क्षेत्रों के अन्दर दुनिया के लोग हर्षोल्लास के साथ भोगासक्ति में अपने को जिन्दा रखते हैं वहाँ पर वे यतीन्द्र लोग सर्वदा मरे ही रहते हैं। ऐसे योगेश्वरों का कुछ भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। उन लोगों की स्थिति कर्म-बन्धन से परे हो जाती है। वे लोग सदैव जीवन्मुक्त स्वच्छ एवं दोषरहित होते हैं।

कायनिर्माण करने वाला योगी अपने स्थूल शरीर से एक जगह स्थित हो करके निर्माण काय के द्वारा अपने लोक और परलोक के सभी कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकता है।

निर्माणकाय की एक सच्ची घटना

जंगल में रहने वाले साधुओं का अनुभव जंगली साधु ही कर सकते हैं। एकान्त में रहने वाला अभ्यासी अपने योग बल को कितना बढ़ा दिया करता है इसको केवल जंगल के ही अभ्यासी बता सकते हैं।

मैं एक बार नीलाचल पर्वत पर एकान्त वास करने गया। वहाँ पर मेरा एक साधु से परिचय हुआ। उससे बातचीत करने पर उसके मुख से जंगली साधुओं के अनुभव सुने। उसने एक ४०० वर्ष के निर्माण काय वाले योगी की कथा मुझे बताई। उसने बतलाया कि नीलाचल की इस तराई में रोहतक जिले के एक योगिराज रहते हैं जो स्थूल रूप से यहाँ स्थित रहने पर भी निर्माण काय से देवलोक में जाया करते हैं। स्वर्ग लोक की देवनगरी अमरावती में पहुँच करके वहाँ के स्वर्गीय विकास और विज्ञान के दृश्यों को देखा करते हैं।

यह है योगी के निर्माणकाय की अचिन्त्य शक्ति। किन्तु यह उसमें प्रगट तभी हो सकती है जबकि वह भूतजयी बन जाये। अतः योगाभ्यासी साधकों को चाहिए कि योगिक कोर्स के अनुसार भूतजय की साधना को दृढ़ता से बढ़ायें, धैर्य को न छोड़ें। जो लोग धैर्य के साथ अपनी साधना को बढ़ाते चले जाते हैं वे लोग अपने परम लक्ष्य को जल्दी से जल्दी पा जाया करते हैं।

सोलहवां परिच्छेद

षटचक्रों की साधना एवं उसका फल

हमने इससे पहले भूतजय की साधना का जिक्र किया है और "मुण्डे-मुण्डे मति-र्भिन्ना" के अनुसार योगाचार्यों ने जो-जो प्रकार वतलाये हैं संक्षेपतः उनका वर्णन कर दिया है। कोई भी साधक शास्त्रोक्त विधि से साधना प्रारम्भ करे तो उसमें अवश्य ही सफलता प्राप्त कर सकता है, यदि वह यथोक्त विधि का पूर्णरूपेण पालन करे। किन्तु ये सव वातें सूक्ष्म होने के कारण हर व्यक्ति की प्रगति उनमें हो जाय, ऐसा होना कुछ कठिन ही मालूम पड़ता है। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीभगवद्-गीता में जहाँ योगियों के कोर्स का वर्णन किया, वहाँ पर उन्होंने स्पष्ट शब्दों का भूतजय को ही प्राथमिक साधना माना है।

भगवान् ने योगियों के कोर्स का वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि–

इन्द्रियाणि पराण्याहु-रिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

अर्थात्–योगाभ्यास परायण व्यक्ति को अपने मन को एकाग्र करके सर्वप्रथम इन्द्रियों का साक्षात्कार करना चाहिए और इन्द्रियों के बाद मन, मन के वाद बुद्धि और बुद्धि के वाद मनुष्य आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचता है। इन्द्रियों के साक्षात्कार का अर्थ यही है कि मनुष्य भूतजय की साधना करे। क्योंकि–पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति पञ्चमहाभूतों से ही हुई है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पंच-महाभूत हैं। इन्हीं का सूक्ष्म रूप गन्ध-तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म पृथ्वी, रस तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म जल, रूप तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म अग्नि, स्पर्श तन्मात्र–सूक्ष्म वायु एवं शब्द तन्मात्र आकाश के ही प्रतीक हैं। जो मनुष्य गन्धतन्मात्र का साक्षा-त्कार करता है, समझ लेना चाहिए कि–उसने घ्राणेन्द्रिय का साक्षात्कार कर लिया एवं पृथ्वी रूप महाभूत पर जय प्राप्त कर ली। जिस व्यक्ति ने रस-तन्मात्र का साक्षात्कार कर लिया तो समझ लेना चाहिए कि उसने रसनेन्द्रिय का साक्षात्कार कर लिया एवं रस (जल) महाभूत पर जय प्राप्त कर ली। जिस व्यक्ति रूप-तन्मात्र का साक्षात्कार कर लिया तो उसने अपनी नेत्रेन्द्रिय को भली प्रकार जान लिया एवं अग्नि महाभूत पर जय प्राप्त कर ली। जिस व्यक्ति ने स्पर्श-तन्मात्र यानी ज्ञानेन्द्रिय त्वचा को भली प्रकार से जान लिया तो उसने वायु रूप महाभूत पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने शब्द तन्मात्र का साक्षात्कार कर लिया तो

समझ लेना चाहिए कि उसने शब्द तन्मात्र की ज्ञानेन्द्रिय श्रोत्र को भली प्रकार जान लिया एवं आकाश महाभूत पर पूर्णरूपेण जय प्राप्त कर ली। इस प्रकार से जिन योगियों ने साधना का सहारा लेकर अपने आपको उत्कर्ष की ओर ले जाना चाहा, उनको अपने प्राथमिक कोर्स को तय करने के लिए भूतजय की साधना को ही अवलम्ब बनाना पड़ा। किन्तु उपरोक्त सभी साधना सूक्ष्म है। अतः हर व्यक्ति इस ओर अपने मन को नहीं लगा सकता। उसका मन जन्म-जन्मान्तर से स्थूल दर्शन का आदी वन चुका है। अतः वह स्थूल दर्शन की ओर अधिक मात्रा में दौड़ता है और आजकल कलिकाल के लोगों की सूक्ष्म प्रवृत्ति हो जाय यह भी कुछ कठिन सी ही वात है। कलिकाल के इस घोर समय में मनुष्य की वृत्ति वाह्य जगत में अधिक घूमती है। अतः सूक्ष्म तत्वों की ओर उनका घूमना असम्भव सा वन गया है। पंच महाभूतों के वाह्य दृश्य ही इतने अधिक हैं कि वह उनमें हर समय खोया सा रहता है। इसलिए सूक्ष्म साधनाओं की ओर उसका आर्कषित हो जाना वहुत ही कठिन है। अतः परोपकार परायण योगविद्या के प्रवर्तक योगाचार्यों ने उसी प्रकार की साधनाओं का उपदेश किया कि कलिधर्मो के अन्दर ग्रसित साधक भी सरलता से उसमें प्रवृत्त हो सके। भगवान् श्री महादेव जी ने योगियों की साधना को पूर्ण वनाने के लिए ही अपनी शिव-संहिता में षटचक्रों की साधना का वर्णन किया है।

षटचक्रों की साधना करने वाला व्यक्ति ही शनैः शनैः तत्व-विजयी वन जाता है। षटचक्रों के अन्दर जिन देवों की स्तुति है वे सव प्रणव स्वरूप ही हैं। पातंजल योग-दर्शन में श्री पतंजलि महाराज ने वीतराग पुरुषों का ध्यान करने का एक सूत्र में निर्देश किया है:–

वीतराग विषयं वा चित्तम्।

वीतरागचित्तालम्वनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

अर्थात्–रागरहित चित्त का अवलम्ब लेने से भी योगी समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेता है। षटचक्रों के देवता प्रणवस्वरूप एवं वीतराग चित्त वाले हैं। गुदा द्वार से दो अंगुल ऊपर एवं लिंग मूल से एक अंगुल नीचे कन्द का स्थान है। कन्द स्थान पर ही मूलाधार चक्र है और वहीं पर कुण्डलिनी की स्थिति है। कन्द और कुण्डलिनी का वर्णन भगवान् शिव अपनी शिव-संहिता में इस प्रकार करते हैं:–

गुदाद्वयंगुलतश्चोर्ध्वं मेढ्रैकांगुलतस्वधः।
एवं चास्ति समं कंद समता चतुरंगुलम्॥

अर्थात्–गुदा द्वार से दो अंगुल ऊपर तथा लिंग नाल से एक अंगुल नीचे चतुरंगुल सविस्तार कन्द का स्वरूप है।

कुण्डलिनी की स्थिति

पश्चिमाभिमुखी योनिर्गुदमेढ्रान्तरालगा।
तत्र कन्दं समाख्यातं तत्रास्ति कुण्डलिनी सदा॥

संवेष्ट्यसकला नाड़ीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः।
मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्ना विवरे स्थिता॥

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरंती प्रभयास्वया।
अहिवत् सन्धि संस्थाना वाग्देवी वीजसंज्ञिका॥

ज्ञेयाशक्तिरियं विष्णोनिर्मला स्वर्ण भास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका॥

अर्थात्–गुदाद्वार से आगे मेढ़ के मध्य भाग में योनि का स्थान है, वह पश्चिमाभिमुखी है इसी स्थान पर कुण्डलिनी की स्थिति है और कन्द का स्थान भी यही है। यह कुण्डलिनी सारे स्नायु मण्डल को साढ़े तीन लपेटे लगाकर अपनी पूँछ को अपने ही मुँह में दवाये हुए सुषुम्ना के द्वार पर स्थित है। यह नागोपमा कुण्डलिनी यहाँ पर सोई हुई है। यह संसार की आधारभूत महाशक्ति वाग्देवी है और स्वर्णाभ भगवान् विष्णु की महाशक्ति है। यह सत्व, रज, तम की आधार-भूता है। जहाँ पर कुण्डलिनी देवी स्थित है, वहीं पर रक्तवर्ण तप्त स्वर्णाभ काम बीज की स्थिति है।

तत्र बन्धूक पुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कल हेमसमं योगे प्रयुक्ताक्षर रूपिणम्॥
सुषुम्णापि च संश्लिष्टो बीजं तत्र वरं स्थितम्।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्स्वयमेतत्स्फुरस्थितम्॥
सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम्।
एतत्त्रयं मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी।
वीजसंज्ञं परं तेजस्तदेव परिकीर्तितम्॥

जिस स्थान में कुण्डलिनी स्थित है उसी स्थान में ही सुषुम्णा की स्थिति है और वहीं पर कामबीज भ्रमण करता है। यह कामबीज शरत् चन्द्रमा के समान शीतल एवं करोड़ों सूर्यों के समान तेजवान है। सुषुम्णा, कामबीज एवं कुण्डलिनी तीनों एक स्थान पर होने के कारण वहाँ की महाशक्ति का नाम त्रिपुर भैरवी है :

क्रियाविज्ञान शक्तिभ्यां, युतं यत्परितो भ्रमत् ।
उत्तिष्ठद्विशतस्त्वम्भः सूक्ष्म शोणशिखायुतम् ।।
योनिस्थं तत्परं तेजः स्वयम्भू लिंगसंज्ञितम् ।

अर्थात्–यह बीज क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति से युक्त होकर ऊपर नीचे भ्रमण करता है। कभी ऊर्ध्वगामी होता है कभी जल में प्रवेश करता है और कभी प्रज्व-लित अग्नि की तेज शिखा की मानिन्द स्वयम्भू की स्थिति में प्रदीप्त होता है।

मूलाधार कमल

आधारपद्ममेतद्धि, योनि यस्यास्ति कन्दतः ।
परिस्फुरत् वादिसान्त, चतुर्वर्णं चतुर्दलम् ।।
कुलाभिधं स्वर्णाभं, स्वयम्भूलिंगसंज्ञितम् ।
द्विरण्डो यत्र सिद्धोस्ति डाकिनी यत्र देवता ।।
तत्पद्ममध्यगायोनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेजः कामबीजंभ्रमन्मतम् ।।
यः करोति सदाध्यानं मूलाधारे विचक्षणः ।
तस्य स्याद्दादुरी सिद्धिर्भूमि त्याग क्रमेण वै ।।

जिस कन्द स्थान में परम तेज युक्त काम बीज का वर्णन किया है वहीं पर यह मूलाधार कमल है। इसके मूलस्थान में योनि की स्थिति है। यह कमल चतुर्दल कमल कहलाता है। वह व, श, ष, स इन्हीं चार वर्णों से संयुक्त है। यह कमल स्वर्णाभ वर्ण है। इस कमल का नाम कुल है। यहाँ पर द्विरण्ड नामक सिद्ध एवं डाकिनी देवता अधिष्ठात्री है और श्रीगणेश जी महाराज देवता हैं। पद्म के मध्य में योनि है और उसमें कुण्डलिनी की स्थिति है। कुण्डलिनी के ऊपर परम दीप्तिमान काम-बीज भ्रमण करता है। जो बुद्धिमान पुरुष इस कमल का ध्यान करते हैं उनको स्वाभाविक ही दादुरी वृत्ति सिद्ध हो जाती है और शनैः शनैः आसन जमीन से ऊपर उठने लगता है।

मूलाधार कमल के ध्यान का फल

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा, जठराग्निविवर्धनम् ।
आरोग्यं च पटुत्वं च, सर्वज्ञत्वं च जायते ।।
भूतं भव्यं भविष्यच्च, वेत्ति सर्वं सकारणम् ।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि, सरहस्यं वदेत्ध्रुवम् ।।

इस कमल का ध्यान करने वाले साधक के शरीर की कान्ति उत्कृष्ट हो जाती है, जठराग्नि वढ़ जाती है। आरोग्यता चतुरता एवं सर्वज्ञता का उदय हो जाता है। साधक भूत-भविष्य को जानने की शक्ति वाला हो जाता है और बिना पढ़े-सुने शास्त्रों की व्याख्या करने की सामर्थ्य आ जाती है।

वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्।
मन्त्रसिद्धिर्भवेत्तस्य, जपादेवन संशयः॥
जरामरण दुःखौघान्नाशयति गुरोर्वचः।
इदं ध्यानं सदा कार्यं पवनाभ्यासिना परम्॥
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो, मुच्यतेसर्वकिल्विषात्।

जो साधक इस कमल का ध्यान करते हैं सरस्वती देवी उनके मुख में वास करती है और उनको जपमात्र से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। गुरुदेव के उपदेशानुसार ध्यान करने से बुढ़ापे और मौत का नाश हो जाता है। प्राणायाम परायण योगी अगर इस कमल का ध्यान करता है तो संकल्पमात्र से ही सब पापों से छूट जाता है। जो योगी स्वयम्भू वाले कमल का ध्यान करता है वह क्षण मात्र में ही सारे पापों को समूल नष्ट करता है।

यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।
निरन्तर कृताभ्यासात्तं पश्यति विमुक्तिदम्॥
वहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतम् ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम॥

इस कमल का ध्यान करने वाला योगी जिस जिस कामना का मन में चिन्तन करता है उस-उसके फल को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। निरन्तर अभ्यास करने पर मुक्तिदाता परम तेज को देखता है। बाहर भीतर दृष्टि समान हो जाती है। इससे अधिक और श्रेष्ठ ध्यान नहीं है। यह सर्वोत्कृष्ट ध्यान है। जो लोग इस पवित्र ध्यान को छोड़कर इधर-उधर का प्रयत्न करते हैं वे बड़ी भारी भूल करते है।

आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य, भ्रमते जीविताशया॥
आत्मलिंगार्चनं कुर्यादनालस्यं दिने-दिने।
तस्य स्यात् सकला सिद्धिर्नात्र कार्य विचारणा॥
निरन्तर कृताभ्यासात् षण्मासे सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायु प्रवेशोऽपि सुषुम्नायां भवेद् ध्रुवम्॥

मनोजयं च लभते, वायु विन्दु विधारणम् ।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नेवात्र संशयः ।।

जो आत्मस्थ शिव को छोड़कर अन्यत्र वहिरंग वृत्ति से पूजन अर्चनादि करते हैं वे लोग हाथ में आये ग्रास को फेंककर जीवन धारण करने के लिए इधर-उधर दौड़ा करते हैं। यह उनका व्यर्थ प्रयास है। जो लोग आलस्य छोड़कर के आत्मस्थ लिंग की अर्चना करते हैं उनको सकल प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इसमें कुछ भी विचार करने की आवश्यकता नहीं। जो लोग अभ्यास परायण हैं वे लोग निरन्तर छः महिने के अभ्यास से अवश्य ही सिद्धि को पा जाते हैं उनका प्राण सुषुम्णा में प्रवेश करने लग जाता है। मनोजयता को प्राप्त हो जाते हैं। वायु और विन्दु धारण करने से इस लोक और परलोक की सकल सिद्धियों को प्राप्त कर लेते हैं। अतः भगवान सदाशिव का आदेश है कि कल्याण की कामना करने वाले साधक को इस ध्यान में परायण हो जाना चाहिए। मूलाधार कमल में गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी की स्थिति है। अतः जो साधक इस कमल का ध्यान करते हैं वे लोग पृथ्वी तत्व पर विजय प्राप्त करते हैं तथा हमारे शरीर में पृथ्वी तत्व की अधिकता होने के कारण शरीर की आरोग्यता-लावण्यता आदि-आदि गुणों का स्वाभाविक विकास होता है। साधक समुदाय अपनी अन्तर्निधि को न जानकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। इस-लिए ये अन्तर्कला उनको नहीं प्राप्त हो पाती है। अभ्यासी साधक को एक नियम अवश्य सामने रखना चाहिए और वह यह है कि–वह सिद्धियों की लोलुपता को त्याग-कर कर्मठता को धारण करे। जो लोग सिद्धियों के लोलुप बने रहते हैं वे लोग सत्य ज्ञान को अपने हृदय में प्रकाशित नहीं कर पाते। अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से सर्वसाधारण के हितार्थ कितना सुन्दर आदेश दिया है:–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोस्त्वकर्मणि ।।

अर्थात्–वे साधक को आदेश देते हैं कि–कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है फल में नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं होना चाहिए कि–कर्मफल की इच्छा नहीं है तो मनुष्य अल्हढ़ आलसी वन जाय और अकर्मण्य वन करके पड़ा रहकर जीवन व्यतीत करे। एक जगह पर एक ब्रह्मचारी जी ने खूब धूम-धाम से योगप्रचार कार्य आरम्भ किया। वे प्रातःकाल से सायंकाल तक अति व्यस्त रहा करते थे। उन्होंने अपने मन में दृढ़ धारणा वना ली थी कि–

कामये दुःख तप्तानां प्राणिनां दुःख विनाशनम् ।

अर्थात्–दुःख में पड़े हुए प्राणियों के दुःख विनाश की कामना करता हूँ ।

अपनी इसी भावना के अनुसार वह दृढ़ता के साथ कर्म परायण रहा एवं आने वाले रोगियों को बड़े प्रेम के साथ साधना कराते और नेति-धौति क्रियाओं का अभ्यास कराते । लगभग दो बजे तक वे इसी कर्म में लगे रहा करते । दोपहर के लगभग दो बजे भोजनादि बनाते और फिर बाद को पुनः उन्हीं कार्यों में व्यस्त हो जाते थे । अपना कार्यक्रम पूरी संलग्नता के साथ निवाहा करते थे । उनके निकट ही एक मील की दूरी पर एक सन्यासी महात्मा निवास किया करते थे । वे वेदान्त सिद्धान्तों को माननें वाले थे । उनका सिद्धान्त था :–

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रंथ कोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव केवलम् ।।

अर्थात्–करोड़ों ग्रन्थों के सिद्धान्त को मैं आधे श्लोक में बतलाता हूँ कि–ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है एवं जीव ब्रह्म ही है आदि-आदि । इसके साथ-साथ वे यह समझते थे कि–संसार में हमारा कोई भी कर्त्तव्य कार्य नहीं है । अतः उन्होंने अकर्मण्य बन-कर पड़े रहना ही अपना लक्ष्य बना लिया था । उक्त सन्यासी जी ने जब यह सुना कि–उपरोक्त ब्रह्मचारी के पास सैकड़ों व्यक्तियों का नित्य यातायात हो रहा है तो उन्होंने अपनी धारणा के अनुसार ब्रह्मचारी जी को सन्देश भेजा कि आप प्रवृत्ति मार्ग में पड़े हुए हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिए । आपको इन सब झमेलों को छोड़कर निवृत्ति मार्ग का आश्रय लेना चाहिए । ब्रह्मचारी जी ने पूछा–मुझे क्या करना चाहिए तो–महात्मा जी ने कहा कि कुछ करने धरने की आवश्यकता नहीं है यदृच्छा से जो भोजन वस्त्रादि मिल जाय उसका उपभोग कर लो अन्यथा निश्चिन्त मन से पड़े रहो । ब्रह्मचारी जी को सन्यासी जी की यह बात पसन्द नहीं आई और वे अपने निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को मन में जमाकर कर्त्तव्यपरायण बने रहे । उन्होंने अपने मन में विचार कर लिया :–

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

अर्थात्–जन्म धारण करने वाला कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता । प्रकृति उसको स्वभावतः ही कर्म करने की प्रेरणा देती है और विवशता से उसे कर्म करना ही पड़ता है । यदि वह ऐसा न करने का अभिनय करता है तो उसके जीवन में मिथ्याचारिता आ जाती है ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य च आस्ते मनसः स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

अर्थात्–कर्मेन्द्रियों पर नियन्त्रण करके जो मनुष्य मन से इन्द्रियार्थों का चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी कहलाता है। अतः साधक को चाहिए कि–वह निष्काम कर्मयोग का आश्रय लेकर कर्त्तव्य परायण बना रहे। वेद भगवान का उपदेश है :–

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

अर्थात्–मनुष्य को अपना जीवन कर्म करते हुए ही व्यतीति करना चाहिए। ऐसा करने पर उसके जीवन में अन्यथात्व नहीं आता और न ही वह कर्मासक्ति को प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के १८वें अध्याय के प्रारम्भ में इस विषय में अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से सन्यास और त्याग का अर्थ पूछा है जो पढ़ने और मनन करने योग्य प्रसंग है। पढ़िये जगदात्मा ने अर्जुन के प्रश्न पर इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहा है :–

ईश्वर उवाच

सन्यासस्य महाबाहो तत्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ! ।।

अर्जुन ने पूछा–हे प्रभो ! मैं सन्यास और त्याग के तत्व को जानना चाहता हूँ। कृपा करके न्यारा-न्यारा करके समझा दीजिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया :–

काम्यानां कर्मणां न्यासं, सन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्म फलत्यागः प्राहुस्त्यागं विचक्षणः ।।
त्याज्यं दोषवदित्येके, कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।

अर्थात् काम्य कर्मों के छोड़ देने को विद्वान लोगों ने सन्यास कहा है और सभी प्रकार के कर्मों के फल को त्याग देना ही विद्वान लोगों ने त्याग कहा है। कुछ लोगों का ऐसा भी सिद्धान्त है कि–कर्ममात्र को दोष समझकर छोड़ देना चाहिए। इसके

अतिरिक्त कुछ लोगों का सिद्धान्त है कि—यज्ञ, दान, तप आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए प्रत्युत करते ही रहना चाहिए।

इस विषय में भगवान् श्रीकृष्ण का सैद्धान्तिक निर्णय है :—

निश्चयं शृणु मे तत्र, त्यागे भरत सत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।
यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।

हे अर्जुन इस विषय में तुम मेरा विचार सुनो। त्याग तीन प्रकार का कहा गया है किन्तु उससे कुछ अर्थ नहीं। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म छोड़ने नहीं चाहिए प्रत्युत करने चाहिए। क्योंकि—यज्ञ, दान तपादि कर्म मनुष्यों को पवित्र करने वाले होते हैं। इसलिए मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य परायण रहना वहुत आवश्यक है। जो मनुष्य पूर्णरूप से अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहते हैं, वे लोग निःश्रेयस सिद्धि को पा ही जाते हैं। अतः योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि—वह नियमानुर्वतिता का पालन करता हुआ अपने साधन को दृढ़ता से वढ़ाये। भगवान् पतंजलिदेव ने योग-दर्शन के समाधि पाद में कहा है कि :—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।

दीर्घकालात् सेवितः, नैरन्तर्येण सेवितः, तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढ़भूमिर्भवति व्युत्थान संस्कारेण द्रागित्वेवानभिभूत विषयः इत्यर्थः ।।

अभ्यासी साधक को चाहिए कि—वह अपने साधन काल के समय तीन वातों का ध्यान रखे।

१. अपनी साधना को उत्कृष्ट और उत्तमोत्तम समझे। व्याख्याताओं के विविध प्रकार के विचारों को सुन करके अपनी साधना के रूपक को वदले नहीं। अपनी ही साधना को उत्कृष्ट समझकर करता ही चला जाय। इसी का नाम सात्कारासेवित दृढ़भूमि कहा गया है।

२. जिस साधना में साधक लगा हुआ उसकी फललिप्सा हेतु साधना में जल्दी नहीं करनी चाहिए। उस साधना को लम्बे समय तक करते रहना चाहिए। जिस साधना को मनुष्य करे उस अभ्यास को क्रम से कम चार या छः वर्ष तक लगातार करता चला जाय। तव उसके शुभ परिणाम को अवश्य-अवश्य प्राप्त करेगा।

३. फिर उस अभ्यास को लगातार करता चला जाय। ऐसा करने पर साधक दृढ़-भूमि वन जायेगा। उसकी स्थिति पतन से परे हो जायेगी। उपरोक्त लेख में मूलाधार कमल का वर्णन किया जा चुका हैं, इस आधार-कमल का चिन्तन करने वाले व्यक्ति अवश्य ही सुख-शान्ति का लाभ प्राप्त करते हैं। हमने इस प्रकार के साधकों को देखा है जिन्होंने इस आधार-कमल का चिन्तन किया उन्होंने अपने लोक और परलोक को सुधार लिया, उनका शरीर सुन्दर निरोग वन गया।

स्वाधिष्ठान कमल

द्वितीयन्तु सरोजं च लिङ्गमूले व्यवस्थितम्।
वादिलान्तं च षट्वर्ण, परिभास्वर षट् दलम्॥
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्तु, पंकजं शोण रूपकम्।
वाणाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवो यत्रास्ति राकिणी॥

अर्थात्—यह स्वाधिष्ठान कमल लिंग नाल के मूल में कहा गया है, यह कमल षट् दल कमल है। षट् दलों पर व-भ-म-य-र-ल ये षट् वर्ण शोभित हैं। यह कमल रक्त-वर्ण का है। इसका नाम स्वाधिष्ठान है। इस कमल में वाण नामक सिद्ध एवं राकिणी देवी अधिष्ठात्री है और यहाँ के देवता श्री ब्रह्मा जी हैं। जो लोग इस स्वाधिष्ठान कमल का नियम से ध्यान करते हैं वे लोग जल्दी ही दिव्य तेज के भागी वन जाते हैं।

स्वाधिष्ठान कमल के ध्यान का फल

यो ध्यायति सदा दिव्यं, स्वाधिष्ठानारविन्दकम्।
तस्य कामांगनाः सर्वाः, भजन्ते काममोहिताः॥
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं, निःशंको वै वदेद् ध्रुवम्।
सर्वं रोगविनिर्मुक्तो, लोके चरति निर्भयः॥
मरणं खाद्यन्ते तेन न केनापि न खाद्यते।
तस्य स्यातपरमासिद्धिरणिमादिगुणप्रदा॥
वायु संचरते देहे रसवृद्धिर्मवेद् ध्रुवम्।
आकाशपङ्कजगलत्पीयूषमपि वर्द्धते॥

दिव्य तेजयुक्त इस स्वाधिष्ठान कमल का जो ध्यान करते हैं वे लोग देवलोक की देवांगनाओं से और अन्य सभी लोगों से सन्मान्य होते हैं। उनके हृदय में महामेधा का प्रकाश हो जाता है और वह विना पढ़े कहे सुने सभी शास्त्रों का ज्ञाता वन जाता है

और स्वाधिष्ठान कमल का अनवरत ध्यान करने से मनुष्य सब प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है क्योंकि वह रसों का स्थान है। रस का ज्ञान जल से होता है। जल से ही रस की उत्पत्ति है। सर्वरोग विनिर्मुक्त होकर वह योगी लोक में निर्भय विचरता है और काल पर विजय प्राप्त करता है। अणिमादिक ऐश्वर्य उसके लिए खुद प्रकट हो जाया करते हैं। वायु का देह में संचार होता है एवं रस की वृद्धि होती है। सहस्रदल कमल से अमृत का स्राव होता रहता है। वैसे तो जो भाग्यवान योगी धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा अपने मन को केन्द्रित कर लेता है वह अन्तर्विद्या का धनी हो जाता है। उसकी शक्ति अचिन्त्य हो जाती है। योगशिखोपनिषद में योगी की अचिन्त्य शक्ति का वर्णन सीधे और स्पष्ट शब्दों में किया गया है। आदिनाथ श्री महादेव जी स्वयं अपने मुखारविन्द से कह रहे हैं कि :—

अचिन्त्य शक्तिमान्योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ।।
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योग वलेन तु ।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।।

अर्थात्—योगी की शक्ति अचिन्त्य रहती है। वह अपने संयम के वल से चाहे जितने रूप धारण कर ले और उनका संहार कर ले। योगी योग से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ।

अर्थात्—योगी काल को भक्षण करने वाला वन जाता है किन्तु काल उसको नहीं खा सकता। हमारे आचार्यों ने अनुभव के आधार पर जिस-जिस बात को संयम से समझा वही-वही उन्होंने अपने वच्चों के हितार्थ लिख डाली। इससे आगे भगवान सदाशिव ने मणिपूरक नाम के कमल का वर्णन किया है। मणिपूरक कमल का ध्यान करने से योगी के अन्दर किस-किस शक्ति का उदय हो जाया करता है इसका वर्णन देखिए :—

मणिपूरक कमल

तृतीय पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम् ।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ।।
रूद्राख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति सर्वं मंगलदायकः ।
तत्रस्था लंकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ।।

षट्चक्रों में मणिपूरक नामक तीसरा कमल नाभि स्थान में स्थित है। यह कमल १० दलवाला है। इसके दस दलों पर ड-ढ-ण-त-थ-द-ध-न एवं प और फ ये १० वर्ण शोभित हैं। सब प्रकार के मंगलदाता भगवान रूद्र यहाँ सिद्ध हैं। लाकिनी देवी अधिष्ठात्री एवं भगवान् विष्णु देवता हैं। इस कमल के ध्यान का फल नीचे बतलाया जा रहा है:—

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यान्निरन्तर सुखावहा ॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःख रोगविनाशनम्।
कालस्य वञ्चनं चापि परदेह प्रवेशनम् ॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत्।
औषधी दर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥

इस मणिपूरक कमल में जो योगी ध्यान करते हैं उन लोगों को निरन्तर सुख की दाता सर्वसिद्धियों की दात्री पाताल सिद्धि प्राप्त होती है। वह योगी जो चाहता है वही होता है और वह सब प्रकार के रोगों से छूट जाता है। सब प्रकार से लोक और परलोक में सम्मान को प्राप्त हो जाता है। साधक के अन्दर स्वर्ण रचना की सामर्थ्य स्वतः ही आ जाती है तथा वह सिद्धों के दर्शन सर्व औषधियों एवं निधियों के दर्शन अनायास ही प्राप्त करता है। योगी के अलौकिक ऐश्वर्य का कोई वर्णन नहीं कर सकता और न ही उसकी माया को समझ सकता है। योगिराजमत्स्येन्द्रनाथ ने अपनी माया का विस्तार किया जिसका श्री गोरक्षनाथ को भी पता नहीं चला। जिस समय मत्स्येन्द्रनाथ को कारू देश से राज्य के प्रबन्ध से छुड़ाकर लाया गया तो वे अपने साथ दो सोने के पत्थर ले आये थे। उनका ख्याल था कि—ये साधु सेवा के काम में लाये जायें किन्तु गोरक्षनाथ ने उन्हें फेंक दिया, जिस समय मत्स्येन्द्रनाथ चिन्ता करने लगे कि—बेटा तुमने यह अच्छा काम नहीं किया तब उन्होंने एक पत्थर को अपनी मूत्रधारा से सोना बना दिया और कहा—गुरूदेव उठा लीजिए।

यह मणिपूरक कमल की सिद्धि का ही फल है। यद्यपि गोरखनाथ ने भली प्रकार समझ लिया था कि—यह सब मत्स्येन्द्र नाथ की ही माया है वस्तुतः उनका पतन तो हुआ ही नहीं था किन्तु फिर भी गोरखनाथ ने अपनी सिद्धि का दर्शन करा ही दिया। यह मणिपूरक पद्म के ध्यान का ही फल था। इससे आगे भगवान् सदाशिव ने अनाहत कमल का वर्णन किया है:—

अनाहत कमल

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत् ।
कादिठान्तवर्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ॥
अति शोणं वायु बीजं प्रसादस्थानमीरितम् ।
पद्मस्थं तत्परं तेजो वाणलिंगं प्रकीर्तितम् ॥
यस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्ट फलं लभेत् ।
सिद्धि पिनाकी यत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ॥

हृदय स्थान में अनाहत नाम का पवित्र कमल है। यह द्वादश दल का कमल है। इसमें क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ ये बारह अक्षर बारह दलों पर सुशोभित हैं। अति उज्ज्वल यह रक्तवर्ण कमल हृदय स्थान में सुशोभित है। यह स्थान वायु का बीज एवं प्राणवायु का आधारभूत हैं। जो लोग इस पवित्र कमल का ध्यान करते हैं वे लोक व परलोक में यदृच्छा गति वाले हो जाया करते हैं। यहाँ पर पिनाकी सिद्ध हैं और काकिनी देवी अधिष्ठात्री हैं। इस पवित्र कमल में भगवान् सदाशिव ही ध्येय हैं।

अनाहत कमल के ध्यान का फल

एतस्मिन्सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः ।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै, कामार्ता दिव्ययोषितः ॥
ज्ञानं चाप्रतिभं तस्य, त्रिकाल विषयं भवेत् ।
दूर श्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छयाखगतां व्रजेत् ॥
सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनी दर्शनं तथा ।
यो ध्यायति परं नित्यं वाणलिंग द्वितीयकम् ॥
भवेत् खेचर सिद्धिश्च खेचराणां जयं तथा ।
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः ॥
एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपयन्ति परमन्विदम् ॥

इस कमल का ध्यान करने से साधक में आत्मतेज बढ़ जाता है। उसको विलक्षण आत्मतेज युक्त रूप आकर्षित हो जाता है। इसलिए दिव्य तेजयुक्त देवांगनायें भी उसकी ओर आकर्षित होने लगती हैं। दूर-दूर की बातें देखना, दूर-दूर की बातें सुनना, एवं आकाशगमन आदि इस चक्र का ध्यान करने वाले योगी को स्वतः ही होने

लगते हैं। सिद्धों के दर्शन एवं योगिनियों के दर्शन अनायास ही प्राप्त होने लगते हैं। साधक इच्छा मात्र से आकाश-गमन करने लगता है आकाशगामी होकर जय प्राप्त करता है। इस द्वितीय वार्णलिंग का ध्यान करने वाले साधक को खेचरी और भूचरी सिद्धि स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इस ध्यान के माहात्म्य को कहा नहीं जा सकता। ब्रह्मादिक सकल देवता भी इसके माहात्म्य को छिपाकर रखते हैं।

मूलाधार कमल जहाँ पर पृथ्वी का बीज है उसे गन्ध तन्मात्र कहते हैं। स्वाधिष्ठान चक्र में जल का बीज है और रस-तन्मात्र है। मणिपूरक कमल में अग्नितत्व का स्थान है और रूप तन्मात्र है। अनाहत कमल वायु का स्थान है और स्पर्श तन्मात्र है। इन कमलों का ध्यान करता हुआ योगी भूत जय की महासिद्धि को प्राप्त करता है।

अनाहत कमल में शक्तिसहित भगवान् शिव का वास है। इस द्वादश-दल कमल का ध्यान करने से साधक शिवरूप हो जाता है और स्पर्श तन्मात्र पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। स्पर्श-तन्मात्र अर्थात् वायु तत्व पर विजय प्राप्त कर लेने पर आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ योगी के शरीर में विना ही प्रयास के प्रगट होने लगती हैं। सदाशिव का ध्यान करता हुआ योगी उनमें लयता को प्राप्त करके अणिमादिक ऐश्वर्यों का मालिक बन जाता है। योगी यदि अपनी साधना को मूलाधार में परिपक्व करके आगे अपनी साधना को बढ़ाता चला जाता है तो उसकी उत्तरोत्तर सभी साधनायें सफल होती चली जाती हैं। इस विषय में एक साधारण सी लोकोक्ति प्रख्यात है और वह यह है—"एकै साधे सब सधे सब साधे सब जाय"।

इसलिए साधक को चाहिए कि पहले से ही अपनी बुनियाद को पक्की करके आगे बढ़े ताकि इससे वह शीघ्र सफलता को पा जाय। अनाहत कमल के बाद विशुद्ध चक्र नामक पाँचवां कमल कण्ठ स्थान में है। इसका वर्णन भगवान सदाशिव ने अपनी संहिता में इस प्रकार किया है :–

विशुद्ध चक्र

कण्ठस्थाने स्थितं पद्मं विशुद्ध नाम पंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडश स्वर संयुतम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र डाकिनी चाधिदेवता।

यह विशुद्ध चक्र नामक पाँचवां कमल बहुत सुन्दर स्वर्ण जैसी आभा वाला षोडश दल कमल सोलह स्वर वाले अक्षरों से युक्त अर्थात् अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ऋ-लृ-ए-ऐ-ओ-औ-अं-अः इन अक्षरों से विद्यमान है। यहाँ पर छगलाण्ड नाम का सिद्ध एवं शाकिनी

नामक देवता का निवास है । इस चक्र पर ध्यान करने का फल भगवान् शिव ने इस प्रकार वर्णन किया है :—

विशुद्ध चक्र के ध्यान का फल

ध्यानं करोति यो नित्यं, स योगीश्वर पण्डितः ।
किन्त्वस्य योगिनोऽन्यत्र, विशुद्धाख्ये सरोरूहे ॥
चतुर्वेदा विभासन्ते, सरहस्या निधेरिव ।
इह स्थाने स्थितो योगी, सदा क्रोधवशो भवेत् ॥
तदा समस्तं त्रैलोक्यं, कम्पते नात्र संशयः ।
इह स्थाने मनो यस्य, दैवात्याति लयं यदा ॥
तदा बाह्यं परित्यज्य, स्वान्तरे रमते ध्रुवम् ।
तस्य न क्षतिमायाति, स्वशरीरस्य शक्तितः ॥
संवत्सर सहस्रेऽपि, वज्रातिकठिनस्य वै ।
यदा त्यजति तद्ध्यानं, योगीन्द्रोऽवनि मंडले ॥
तदा वर्ष सहस्राणि, मन्यते तत्क्षणं कृती ॥

जो योगेश्वर लोग इस विशुद्ध नामक कमल का ध्यान करते हैं, उनको सूक्ष्म तत्व को धारण करने की मेधा अनायास ही प्राप्त होती है और चारों वेदों के रहस्य अपने आप ही प्रकाशित होने लगते हैं। इस विशुद्ध कमल में ध्यान करने वाला योगी कदाचित क्रोध वश हो तो उसके क्रोध से त्रिलोकी काँपने लगती है और इस कमल का ध्यान करने वाला योगी अपने बाह्य बोध को भूलकर अन्तर्जगत में विलीन हो जाया करता है। यदि वह एक हजार वर्ष भी समाधि में बैठे तो एक हजार वर्ष बाद उठने पर उसे वह काल क्षण भर का लगता है । उस योगी का शरीर सब प्रकार से सुदृढ़ रहता है। समय पाकर योगी अपने निरन्तर अभ्यास करने से थोड़े ही समय में सकल सिद्धियाँ पाकर आज्ञा कमल की ओर बढ़ जाता है। यह आज्ञा चक्र गुरुदेव का स्थान है । इसका वर्णन सदाशिव ने अपनी संहिता में इस प्रकार किया है :—

आज्ञा चक्र वर्णन

आज्ञाचक्रं भ्रुवोर्मध्ये, हस्तोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः, सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षर बीज विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥

तत्र देवः परं तेजः सर्वतन्त्रेषु मन्त्रिणः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं, लभते नात्र संशयः ॥

आज्ञा नामक यह कमल दोनों भौंहों के बीच में दो दल का है । जिसमें हं और क्षं ये दो अक्षर बीज रूप हैं । यह कमल श्वेत वर्ण का है । इस स्थान में महाकाल नामक सिद्ध है एवं हाकिनी नाम की अधिष्ठात्री देवी है । यह स्थान परमात्मा का है । दूसरे शब्दों में यह स्थान गुरुदेव का है । क्योंकि परमात्मा ही परम गुरू है । योगदर्शन में भगवान् पतंजलिदेव वतलाते हैं:—

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः ।

अर्थात्— क्लेश कर्म विपाक आदि से रहित पुरुष विशेष का नाम ईश्वर है । वही परमात्मा है एवं परम गुरू है । श्री पतंजलि जी उस परम गुरू का लक्षण वतलाते हुए लिखते हैं—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

अर्थात्—वह परमात्मा सृष्टि के आदि में होने वाले ब्रह्मा-शिव आदि का भी गुरू है, क्योंकि वह काल की सीमा से परे है ।

व्यास भाष्य :—पूर्वे हि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते यत्रावच्छेदनार्थेन कालो नोपावर्तते स एव पूर्वेषामपि गुरुः, यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथाऽतिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः ।

वह परमात्मा जो कभी भी काल के वन्धन में नहीं आया एवं प्रकर्ष गति से अनादि काल से ही सिद्ध है, जो सदा सर्वदा मुक्त है वही परमात्मा आदि गुरू है और इस द्विदल कमल के अन्दर उसी का वास है । उस अखण्ड ज्योति परमात्मा के दर्शन करने से मनुष्य सकल सिद्धियों को पा जाता है ।

इस कमल के ध्यान का फल इस प्रकार है:—

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं, यत्र देवो महेश्वरः ।
पठित्रयं ततश्चोर्ध्वं निरूक्तं योग चिन्तकैः ॥
तद्विन्दुनादशक्त्याख्यं भाल पद्मे व्यवस्थितम् ।
यः करोति सदा ध्यानमाज्ञापद्मस्य गोपितम् ॥
पूर्व जन्म कृतं कर्म विनश्येदविरोधतः ।
इह स्थितः सदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ॥

तदा करोति प्रतिमां, प्रतिजापमनर्थवत् ।
यक्ष राक्षसगन्धर्वाप्सिरोगणकिन्नराः ।।
सेवन्ते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः ।
करोति रसनां योगी प्रविष्ठां विपरीतगाम् ।।
लम्बिकोर्ध्वेषु गर्तेषु धृत्या ध्यानं भयापहम् ।
अस्मिन्स्थानेमनोयस्य क्षणार्धं वर्ततेऽचलम् ।।
तस्य सर्वाणि पापानि संक्षयं यान्ति तत्क्षणात् ।
यानि यानीह प्रोक्तानि पंच पद्मे फलानि वै ।।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ।
यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।।
वासनाया महावन्धं तिरष्कृत्य प्रमोदते ।

यह आज्ञा नामक कमल मष्तिष्क में कहा गया है । जहाँ पर भगवान् सदाशिव महादेव जी का निवास है । इस कमल में तीन पीठों की और स्थिति है जिनको नाद विन्दु और शक्ति के नाम से कहा गया है । जो योगी इन गोपनीय आज्ञा कमल का करते हैं वे अपने पूर्व जन्म कृत कर्मों के फल को तत्काल नाश कर देते हैं । इस कमल का ध्यान करने वाले योगी को प्रतिमा पूजन और जप आदि करने की आवश्यकता नहीं रहती । यक्ष-राक्षस-गन्धर्व एवं अप्सराओं के गण उसके वश होकर सेवा करते हैं । इसके साथ-साथ खेचरी मुदा को लगाकर अर्थात् जिह्वा को ऊर्ध्व विवर में लगाकर जो लोग इस इस कमल का ध्यान करते हैं और उनका मन क्षणार्ध भी लय हो जाता है वे अपने जन्म-जन्मान्तर के पापों को तत्क्षण नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त और पद्मों का जो वर्णन पहले किया है। उन सवका फल इस एक के ही करने से प्राप्त हो जाता है । जो इस महाकमल का ध्यान करता है वह वासना के महावन्ध का निरष्कार करके खुशी को प्राप्त करता है ।

प्राणप्रयाणसमये तत्पद्मं यः स्मरन्सुधीः ।
त्यजेत्प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ।।
तिष्ठन्गच्छन् स्वपन् जाग्रत् यो ध्यानं कुरूते नरः ।
पापकर्मपि कुर्वाणो नहि मज्जति किल्विषे ।।
राजयोगाधिकारीस्यादेतच्चिन्तयतो ध्रुवम् ।
योगी बन्धाद्विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभया स्वयम् ।।
द्विदलध्यानमाहात्म्यं, कथितुं नैव शक्यते ।
ब्रह्मादि देवताश्चैव किञ्चिन्मत्तो विदन्ति ते ।।

अर्थात्–जो योगी लोग प्राण निकलते समय इस कमल का क्षणार्ध भी चिन्तन कर लेते हैं वे परमात्मा में लीन हो जाया करते हैं। इस कमल का ध्यान चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते जो लोग करते रहते हैं वे लोग पापकर्मरत होते हुए भी सब पापों से छूटकर मुक्ति को पा जाते हैं। वे लोग आत्मवशी हो जाते हैं और राजयोग के अधिकारी होते हैं। इस कमल की महिमा हमारे शास्त्रों में वहुत वड़े रूपक में कही गई है। इसका ध्यान करने वाला जन्म-मरण के वन्धन से मुक्त हो जाता है।

सत्रहवां परिच्छेद

सहस्त्र दल कमल

साधनाशील व्यक्ति यदि अपने मन को किसी भी साधना में एकाग्र कर लेता है तो उसकी आगे की साधनायें अनायास ही चलती रहती हैं और वह हर विषय में जल्दी से जल्दी सफलता प्राप्त करता चला जाता है। वनने वाले मकान की बुनियाद पक्की होनी चाहिए। जो जमीन में अपने मकान की बुनियाद पक्की कर लेते हैं वे उसको दोमंजिला ही नहीं चाहे दस मंजिल तक ले जायें वह अडिग रहता है। जिन मकानों की बुनियादें कच्ची एवं खोखली रहती हैं वे लोग यदि अपने मकानों को दो मंजिल, चार मंजिल वनाने की कोशिश करते हैं तो खतरे से खाली नहीं होता वह मकान कभी न कभी गिर सकता है। स्कूल में पढ़ने वाले छात्र यदि नीचे की श्रेणियों से ठोस होते हुए चले आये हैं तो उनकी कभी भी गिरावट नहीं होती और क्रमशः पढ़ते हुए वे उन्नति के उच्चतम लक्ष्य को अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। पिछले प्रकरण में हमने षट्चक्रों की साधना का वर्णन किया था। वस्तुतः विचार किया जाय तो उनमें से मूलाधार की साधना ही प्रारम्भिक एवं कठिन सी साधना है। जो लोग मूलाधार की साधना को परिपक्वता से अभ्यास में ले आते हैं उन लोगों के लिये अन्य चक्रों की साधनायें सुगम से भी सुगम हो जाती हैं और वे लोग जल्दीं से जल्दी ऊँची प्रगति को प्राप्त कर लेते हैं। साधना के विषय में योग-दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने यह आदेश दिया है :—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ॥

अर्थात्—जो साधक अपनी साधना को लम्बे समय तक करता है, लगातार करता है और आदरपूर्वक करता है वह अपने लक्ष्य को अवश्य ही सफलता के साथ प्राप्त कर लेता है। षट्चक्रों की साधना के वाद भगवान सदाशिव ने अपनी शिवसंहिता में सहस्र दल कमल की साधना का वर्णन किया है। यह कमल शिव-शक्ति के मिलाप का स्थान है। यहाँ आकर शक्ति रूप जीवात्मा शिव रूप गुरुदेव में लय हो जाता है। जीव में जब तक भोग की वासनायें कायम हैं, आधि-व्याधि का अनुभव करता है तक तक उसकी सत्ता जीव-सत्ता है और जब इस सत्ता को छोड़कर अपने नित्य सच्चिदानन्द घन स्वरूप में वह लीन रहने लगता है तथा वर्षों तक उसी स्थिति को देखता चला जाता है तो वह जीव सत्ता को बिल्कुल ही भुला देता है। वह अपने आपको सर्वभूतस्थ देखने लगता है एवं उस स्थिति को नित्य-स्थिति अनुभव करता

है। जगदात्मा अखिल लोक पावन भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट शब्दों में इस बात को इस प्रकार कहा है :–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अर्थात्–ऐसा योगी अपने आपको प्राणिमात्र के अन्दर स्थित देखता है और प्राणी मात्र को अपने अन्दर विलीन देखता है। वह समदर्शित्व को प्राप्त कर लेता है। भगवान सदाशिव ने सहस्र दल कमल का वर्णन इस प्रकार किया है :–

अत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्त्रारं सरोरूहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरम् स्थितम्॥

तालुमूले सुषुम्णास्य अधोवक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारेण यो न्यस्ता सर्वं नान्यः समाश्रिताः॥

ता बीजभूतास्ततवस्य ब्रह्ममार्गं प्रदायिकाः।
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोदितम्॥

तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभिमुखी मता।
तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम्॥

ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधार पङ्कजम्।
तत्रान्तरन्ध्रे चिच्छक्तिः सुषुम्णा कुण्डली सदा॥

सुषुम्णायां स्थिता नाड़ी चित्रा स्यान्मम वल्लभे।
तस्यांमम मते कार्यं ब्रह्मरन्ध्रादि कल्पना॥

यस्याः स्मरणमात्रेण ब्रह्मज्ञत्वं प्रजायते।
पापक्षयश्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्॥

अर्थात्–इससे आगे तालुमूल में सहस्र दल कमल विद्यमान है। उस स्थान में ब्रह्म रन्ध्र में सुषुम्णा नाड़ी की स्थिति इस प्रकार है। यह सुषुम्णा नाड़ी तालुमूल के नीचे की ओर विद्यमान है। मूलाधार से लेकर योनिपर्यन्त जितनी भी नाड़ियाँ हैं वे सब सुषुम्णा के आश्रित हैं। तालुमूल में जो सहस्र दल कमल कहा गया है उसके कन्द भाग में एक योनि है जिसका मुख पश्चिम की ओर है। उस योनि के मध्य में मूल विवर है। उसमें सुषुम्णा स्थित है। उसी को ब्रह्मरन्ध्र एवं मूलाधार कहते हैं। उस सुषुम्णा नाड़ी के मध्य में महाशक्ति कुण्डलिनी विराजमान है। सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर चित्रा नाम की एक नाड़ी है इससे ही ब्रह्म रन्ध्र की कल्पना है। इस दिव्य नाड़ी के

स्मरणमात्र से ब्रह्मत्व हो जाता है और सब प्रकार के पापों का क्षय होकर पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता है।

प्रवेशितं चलाङ्गुष्ठं मुखेस्वस्य निवेशयेत्।
तेनात्र न वहत्येव देहाचारी समीरणः।।
तेन संसारचक्रेऽस्मिन्न भ्रमन्ते च सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे।।
तत एवाखिला नाड़ी निरूद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ति रन्ध्रं त्यजति नान्यथा।।
यदा पूर्णासु नाड़ीषु सनिरूद्धानिलास्तदा।
बन्ध त्यागेन कुण्डल्या मुखं रन्ध्राद्बहिर्भवेत्।।
सुषुम्णायां सदैवायं वहेत्प्राणसमीरणः।।

अर्थात्–शरीर में घूमने वाले प्राणवायु पर कन्ट्रोल करने का एक उपाय बतलाते हुए महर्षि गरुण कहते हैं कि अपने दाहिने हाथ के अँगूठे को मुख में प्रवेश कराने पर मुख बन्द कर लेने पर शरीर में होने वाला वायु अवश्य स्थिर हो जाता है और इस प्राणवायु के स्थिर हो जाने से संसार में जन्म-मरण का चक्र छूटकर मनुष्य मुक्ति पा जाता है। इसीलिए योगी लोग प्राणवायु पर नियन्त्रण करने के प्रयत्न में हर समय लगे रहते हैं। इस प्रकार प्राणायाम करने से सभी प्रकार के नाड़ियों के मल जल जाते हैं, काम-क्रोध आदि के महान रन्ध्र खुल जाते हैं। ऐसा अभ्यास करने से महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार को छोड़ देती है और इससे जीव-ब्रह्म का उभय-मिलन, एकता सदा सर्वदा के लिए हो जाती है। प्राणवायु के नाड़ियों में निरोध होने से सारी नाड़ियाँ पूर्ण हो जायेंगी और कुण्डलिनी महाशक्ति अपने ब्रह्मरन्ध्र का द्वार छोड़ देगी। ऐसा होने पर प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश कर जायेगा। प्राणवायु के सुषुम्ना में प्रवेश कर जाने के बाद क्या स्थिति होगी यह आगे पढ़िये :–

मूलपद्मस्थिता योनिर्वामदक्षिणकोणतः।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नायोनिमध्यगा।।
ब्रह्मरन्ध्रन्तु तत्रैव सुषुम्णाधारमण्डले।
यो जानाति स मुक्तः स्यात्कर्मबन्धाद्विचक्षणः।।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः।
तस्मिन स्नाने स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः।।

गंगायमुनयोर्मध्ये वहत्येषां सरस्वती ।
तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा धन्यो याति परांगतिम् ।।
इड़ा गङ्गा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्क पुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽति दुर्लभः ।।

अर्थात्–मूलाधार कमल के मध्य भाग में योनिस्थान कमल है उस योनि के दायीं और वायीं ओर इड़ा और पिंगला नाड़ी स्थित हैं। इड़ा पिंगला के बीच में जो योनि है उसके मध्य में सुषुम्ना की स्थिति है तथा सुषुम्ना के मध्य में ब्रह्मरन्ध्र द्वार है। जो योगी ब्रह्मरन्ध्र द्वार को जान जाया करता है वह सब प्रकार के कर्म-वन्धनों से मुक्त हो जाया करता है। ब्रह्म रन्ध्र के मुख में इन तीनों नाड़ियों का स्वाभाविक सम्वन्ध है उसी को त्रिवेणी कहा गया है, उसमें स्नान करने से योगिजन मुक्ति लाभ करते हैं। इसी को गंगा और यमुना का संगम कहा गया है जिसमें स्नान कर योगी लोग परम गति को प्राप्त करते हैं। इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है और उसके मध्य में सरस्वती का स्थान है। इनका संगम अत्यन्त दुर्लभ है। इड़ा और पिंगला के संगम में यदि साधक मन के संकल्प से स्नान करता है तो वह सर्वपापविमुक्तात्मा होकर परम ब्रह्म में लय हो जाया करता है :–

सितासिते सङ्गमे यो मनसा स्नानामाचरेत ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्मसनातनम् ।।
त्रिवेण्यां सङ्गमे यो वै पितृकर्म समाचरेत् ।
तारयित्वा पितृन्सर्बान्स याति परमां गतिम् ।।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात् ।।
सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गे सौख्यं भुनक्ति सः ।
दग्ध्वा पापानशेषान्वै योगी शुद्धमतिः स्वयम् ।।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
स्नानाचरणमात्रेण पूतो भवति नान्यथा ।।
मृत्यु काले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा ।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान्स तदा मोक्षमाप्नुयात् ।।
नातः परतरं गुह्यं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न व्याख्येयं कदाचन ।।
ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
सर्वपापविनिमुक्तः स याति परमां गतिम् ।।
अस्मिन लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते ।
अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ।।

इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाम की इस मानस-त्रिवेणी में जो पितृ तर्पण करता है वह सब पितरों को तराकर आप भी तर जाता है। इसके अतिरिक्त नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्मों का जो मन से भी अनुष्ठान करते हैं वे अवश्य अक्षय पुण्य के फल को प्राप्त होते हैं। सब पापों का नाश करके शुद्धमति योगी दिव्य स्वर्ग-सुख का अनुभव करते हैं। अपवित्र हो या पवित्र हो चाहे कैसी ही स्थिति में क्यों न हों इस मानस स्नान का आचरण करने से सर्वथा पवित्र हो, जाते हैं। अन्तिम समय मृत्युकाल में इस दिव्य त्रिवेणी का ध्यान करके एवं इसमें स्नान करके जो देह का त्याग करते हैं तो वे अवश्य ही मोक्षलाभ करते हैं। इस दिव्य त्रिवेणी में इससे बढ़कर कुछ भी नहीं। जो योगी एक क्षण भी ब्रह्मरन्ध्र में मन लगाते हैं वे अवश्य सब प्रकार से पाप पुण्य से मुक्त होकर एवं अणिमादि को पाकर एवं उनका उपभोग करके भी परम गति को प्राप्त होते हैं। यह सब वर्णन करके भगवान् सदाशिव सहस्रार कमल के ध्यान की बार-बार पुष्टि करते हैं और पुनः उसके महान फल का वर्णन करते हैं। भगवान शिव कहते हैं :—

यस्य स्मरणमात्रेण योगीन्द्रोऽवनि मण्डले।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां सम्मतो भवेत् ॥
शिरः कपालविवरे ध्यायेद् दुग्ध महोदधिम्।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ॥
शिरः कपालविवरे द्विरष्टकलयायुतम्।
पीयूष भानुहंसाख्यं भावयेत्तं निरञ्जनम् ॥
निरन्तरकृताभ्यासात् त्रिदिने पश्यति ध्रुवम्।
दृष्टिमात्रेण पापौघं दहत्येव स साधकः ॥
अनागतं च स्फुरति चित्तशुद्धिर्भवेत्खलु।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातकपुञ्जकम् ॥
आनुकूल्यं ग्रहा यान्ति सर्वे नश्यन्त्युपद्रवा।
उपसर्गाः शमं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात् ॥
खेचरी भूचरी सिद्धिर्भवेच्छीरेन्दु दर्शनात्।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं नात्र कार्या विचारणा ॥
सतताभ्यासयोगेन सिद्धो भवति मानवः।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेद् ध्रुवम् ॥
योगशास्त्रं च परमं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥

अर्थात्—जिसके स्मरण मात्र से योगीन्द्र अवनि मंडल में पूज्य बन जाता है और सिद्धों में सन्मान प्राप्त करता है, जो इस ब्रह्मरन्ध्र विवर में क्षीर सागर का ध्यान

करे और हंस संज्ञक निरंजन का ध्यान करे एवं सहस्त्रार में चन्द्रमा का चिन्तन करे वह तीन दिन के निरन्तर अभ्यास से उस नित्य चेतन को देख लेता है और सब पापों का दहन कर देता है। उसके सब पातक नष्ट हो जाते हैं। जो वस्तु न देखी है न सुनी है अपने आप ही उन-उन वस्तुओं का मन में स्मरण होने लगता है। सब ग्रह अपने आप ही अनुकूल हो जाते हैं। सब उपद्रवों का नाश हो जाता है, विघ्न-बाधायें नष्ट हो जाती हैं, युद्ध में विजय होती है तथा खेचरी भूचरी आदि सिद्धियाँ अवश्य ही प्राप्त होती हैं। इस सहस्र दल कमल का नित्य प्रति ध्यान करने से मनुष्य अवश्य सिद्ध बन जाता है। भगवान शिव कहते हैं कि वह मेरी जैसी ताकत वाला बन जाता है, आदि-आदि।

योगी प्रारम्भिक उपासना से ही अपनी शक्ति के आप उपासक होते हैं वे किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करते। उनकी उपासना व आत्म-दर्शन समाधि का अर्थ ही तल्लयता है। यदि मनुष्य भगवान शिव में समाधि लगाता है तो उसके अपने स्वत्व का आभास खत्म हो करके शिवत्व का ही आभास प्रतिक्षण बना रहा करता है। अतः जो योगीजन षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार चक्र में स्थिति उपलब्ध करते हैं वे शुद्धस्वरूप होकर ज्ञानमय बन जाते हैं। वे सोऽहं तत्व को भली प्रकार से अपने मन में अनुभव करते हैं और स्वयं वे भगवान शिव के स्वरूप हो जाते हैं। इस प्रकार योगी का परम रहस्य योगाचार्यों ने अपने ग्रन्थों में खोल-खोलकर लिखा है। जो इनका थोड़ा सा भी चिन्तन करने का प्रयत्न करेगा वह अवश्य ऊँची से ऊँची सफलता को प्राप्त करेगा और अपने आपको कृतार्थ बना लेगा।

अठारहवां परिच्छेद

वैराग्य की साधना

हमारे शास्त्रों में मन की एकाग्रता के लिए दो प्रमुख साधनों का वर्णन किया गया है। उनका नाम है १–अभ्यास और २–वैराग्य। मन को एकाग्र करने के लिए किये जाने वाले साधनों का बहुत बड़ा वर्णन हमारे शास्त्रों में मिलता है। उनमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि वेदान्त की साधनायें और यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि योग से सम्बन्ध रखने वाली साधनाएँ मन की एकाग्रता के लिए ही हैं। साधनाओं में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता चाहे हम महावाक्यों का मनन करते हुए श्रवण मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास करें चाहे समाधि प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर यम, नियम, आसन आदि के पालन में तत्पर रहें। यह सब अभ्यास ही कहलाता है। अभ्यास एक इस प्रकार का साधन है जिसको हर स्थिति का मनुष्य पालन करते हुए अपने उच्चतम लक्ष्य को शनैः शनैः प्राप्त कर सकता है किन्तु उन सब में वैराग्य को मोक्ष का मूल माना गया है जो मनुष्य–प्राक्तन कर्म–विपाक पुण्य के प्रभाव से विषयों से वितृष्ण हो जाता है उसको किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में वितृष्ण होना ही वैराग्य कहलाता है। इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से विगत राग हो जाना ही वैराग्य का भाव है। संसार की सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। किन्तु एकमात्र वैराग्यवान व्यक्ति भयरहित हो करके निर्द्वन्द सोता है। श्री भर्तृहरि जी महाराज ने अपने वैराग्यशतक में बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि :–

भोगेरोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्।
मौने दैन्य भयं बले रिपुभयं रुपे जरायाःभयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्।
सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाऽभयम्॥

अर्थात्–'भोगे रोग भयम्' जो मनुष्य भोगों को भोगता चला जाता है वह अवश्य ही रोगी बन जाता है। भोग भोगने की इच्छा तो प्रबल रहती है उस इच्छा को भोग करके ही मनुष्य क्षणमात्र के लिए हटा सकता है पर थोड़ी देर बाद वही वासना और भी दुगुना चौगुना रुप धारण करके सामने आने लगती है क्योंकि शास्त्रीय सिद्धान्त है–

न जातु कामः कामानामुप भोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते।

अर्थात्—पैदा हुई कामनायें कभी उनके भोग से शान्त नहीं होती प्रत्युत अग्नि में घी डालने पर जिस प्रकार अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं उसी प्रकार कामनाओं का उपभोग करने से कामनायें भी उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती हैं। इसलिए भोग भोगने से इन्द्रियलौल्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही है। इस चपलता का मनुष्य या तो भोग के अनभ्यास से ही ठीक कर सकता है अन्यथा विगत राग होकर के ठीक कर सकता है। उपर्युक्त श्लोक में श्री भर्तृहरि जी महाराज ने 'भोगे रोग भयं' कह करके भोग का अन्तिम परिणाम दिखला दिया। भोग भोगने से इन्द्रियों की चपलता दिन प्रतिदिन बढ़ती है जितनी चपलता बढ़ेगी उतना ही मनुष्य भोग का भोक्ता बन जाएगा। जितना वह भोक्ता बनेगा उतना ही उसके शरीर से शक्ति का दिन प्रतिदिन क्षय होता चला जायेगा। ज्यों-ज्यों शक्ति कम होगी त्यों-त्यों शरीर में रोग बढ़ते चले जाएंगे और 'भोगे रोग भय' का परिणाम सामने आता चला जायेगा। यदि हम ईश्वर की परमानुकम्पा से इन्द्रियों में वीतराग हैं तो हमारे मन में भोग इच्छा ही नहीं बनेगी। भोगेच्छा मन में न बनने पर भोग प्रवृत्ति स्वतः ही बन्द हो जायेगी। इसलिए यह बिल्कुल सत्य और यथार्थ कहा गया है कि 'भोगे रोग भयं पश्चात कुले च्युति भयं'। एक व्यक्ति का कुल शीलवान् है, उसके कुल में उसके पूर्वज लोग ऊँचे ऊँचे आदर्शों को लेकर पैदा होते रहते हैं। उनकी संस्कृति और शिक्षा बड़ी उच्च भावों की चलती रही है। कदाचित् कोई भ्रष्टात्मा जन्म ले ले और अपने रास्ते से भ्रष्ट हो जाय तो वह कुल-कलंक कहलाता है। इसलिए 'कुले च्युति भयं' का यथार्थ प्रयोग है। तत्पश्चात् वित्ते नृपालाद्भय घर में यदि किसी प्रकार की सम्पत्ति इकट्ठी हो उसमें शासकों का भय बना रहता है। आजकल संसार में देखने में आता है जहाँ पर किसी प्रकार भी बड़ी आय अथवा घर में सम्पत्ति दिखलाई देती है तो सरकार सम्पत्ति कर लगाकर धन अधिक मात्रा में ले लेती है। मनुष्य यदि मौन रहता है तो दीनता का भय बना रहता है। सुन्दर रूप है तो बुढ़ापे का भय बना रहता है। शास्त्रों का ज्ञाता है तो प्रतिपक्षियों का भय बना रहता है। शरीर है तो काल का भय बना रहता है। सभी वस्तुएँ भयान्वित हैं। केवल मात्र वहीं मनुष्य निर्भय है जो इन सबके राग से परे निकल गया है, विरक्त हो गया है। इसलिए यह सब भर्तृहरि जी ने यथार्थ ही कहा है—

सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्य मेवाऽभयम्।

इन्हीं सब कारणों से वैराग्य मोक्ष का नान्तरियत माना है। योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव जी ने पर और अपर वैराग्य को दो विभागों में बाँट दिया है। जो मनुष्य अपनी वासनाओं पर नियंत्रण करके अपने आपको संयमित रखने की चेष्टा

करता है वह वशीकार संज्ञा वैराग्य का अधिकारी है। वशीकार संज्ञा वैराग्य का लक्षण योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव जी ने इस प्रकार वतलाया है :–

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥

अर्थात्–देखे और सुने हुए विषयों पर वशीकार होना वशीकार संज्ञा वैराग्य कहलाता है। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी ने लिखा है:–

स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्य्यमिति दृष्ट विषय वितृष्णस्य स्वर्ग वैदेह्य प्रकृतिलयत्व प्राप्तावानुश्रविक विषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य विषय सम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य विषय-दोषदर्शिनः प्रसङ्ख्यानवलादिना भोगात्मिका हेयोपादेय शून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।

अर्थात्–रूप, रस, गन्ध, स्त्री, पान, अन्न आदि दृष्ट विषय और स्वर्ग वैदेह्य प्रकृतिलयादि अदृष्ट विषय चाहे कितने ही दिव्यादिव्य विषय हों प्रसंख्यान वल से विषय दोषदर्शी चित्त ह्येयोपादेय शून्या भोगात्मिका स्थित ही वशीकार संज्ञा वैराग्य वाली हुआ करती है। इस वात को यों समझ लेना चाहिए–विषय दो प्रकार के होते हैं :–

(१) दृष्ट विषय
(२) आनुश्रविक विषय

दृष्ट विषय वे हैं जो इस लोक में रुप, रस, गन्ध, शब्द स्पर्श स्त्री, अन्नपान ऐश्वर्य इत्यादि। इन विषयों को मनुष्य सामान्यरूप से प्राप्त करता ही है।

अर्थात्–मनुष्य लोक में जन्म लेने वाले हर प्राणी के लिए अपने-अपने पुण्यकर्म विपाक के अनुसार साधारण रूप से ये सभी उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त आनुश्रविक विषय हैं जिनको हम शास्त्रों से जानते और सुनते हैं उनमें भी दो प्रकार हैं–

एक वह है जिसको हम शरीरान्तरवेद कह सकते हैं। अर्थात् जव हमारा कोई शरीर देवलोकादि में बनेगा तभी उन विषयों का ज्ञान हमें हो सकेगा। जैसे जो स्वर्ग आदि प्राप्त करते हैं या विदेह और प्रकृति-लीन योगियों को प्राप्त होते हैं। इन विषयों को शरीरान्तर वेद कहा है और इसके अतिरिक्त दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं शब्दों का अनुभव होना रूप विषय अवस्थान्तर वेद्य कहलाते हैं। इसी प्रकार से योग-दर्शन के विभूतिपाद में कही हुई सभी सिद्धियाँ जैसे– बलेषु हस्ति वलःदीनि आदि सब विषय अबस्थान्तर वेद्य हैं। इन दोनों प्रकार के दिव्य-अदिव्य विषयों की उपस्थिति में जव चित्त ज्ञान के बल से इनमें दोष

देखता है, दोष देखकरके इनको ग्रहण नहीं करता और न परे हटाने का ही प्रयत्न करता है। क्योंकि उस योगी के चित्त में इसके प्रति न राग है न द्वेष है। राग हो तो ग्रहण करने की कोशिश न करे और द्वेष हो तो इसे परे हटाने की कोशिश करे।

ऐसी स्थिति में जो हेयोपादेय शून्या स्थिति है उसी को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं। वस्तुतः –

विकारहेतौ सति विक्रियन्तेयेषां न चेतांसि त एव धीराः।

अर्थात्– जिसके चित्त विकार के हेतु स्त्री, अन्नपान आदि के उपस्थित होने पर भी विकृत नहीं होते वही पुरुष धीर हैं। इस प्रकार उनका चित्त एकरस बना रहता है। चित्त की इसी प्रकार की स्थिति ही वशीकार संज्ञा कहलाती है। हमारे शास्त्रों में इस वशीकार वैराग्य को अपर वैराग्य माना है। पर वैराग्य इससे भी ऊँचा है। जिसका वर्णन आगे किया जाएगा। विषयों में राग का न होना ही वैराग्य का कारण नहीं है। क्योंकि कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि जो लोग तीव्र रोग आदि से पीड़ित हो जाते हैं उनका भी विषयों में राग नहीं रहता और विषयों में अरुचि हो जाती है। इसका नाम वैराग्य नहीं है और न ऐसे वैराग्य से योग सिद्ध होता है कदाचित् किसी व्यक्ति को विषय उपलब्ध ही न हो और वह कह दे–नहीं जो ! हम तो विरक्त हैं, तो उनकी विरक्तता कोई महत्व नहीं रखती, क्योंकि उनको वह वस्तु उपलब्ध ही नहीं या वस्तु उपलब्ध होने पर जिनकी इन्द्रिय शक्ति क्षीण हो चुकी है ऐसी स्थिति में कोई कहे कि हम विरक्त हैं तो यह भी उनका कहना गलत है। क्योंकि उनके अन्दर विषय भोग की सामर्थ्य नहीं है। वस्तुतः देखे और सुने हुए विषयों में राग का प्रसंख्यान बल से उत्पन्न ही न होना वशीकार संज्ञा वैराग्य है। हमारे शास्त्रकारों ने इस अपर वैराग्य को अलग-अलग चार विभागों में बाँट दिया है, जैसे–

१–यतमान संज्ञा

२–व्यतिरेक संज्ञा

३–एकेन्द्रिय संज्ञा

४–वशीकार संज्ञा वैराग्य

इन चारों को इस प्रकार समझ लेना चाहिए जैसे–

१–इन्द्रियों के विषय अपने अपने रागों में मनुष्य को प्रवृत्त करते हैं। ज्योंही वासनिक भोग सामने उपस्थित हुए योगी उनसे बचने की चेष्टा करता है, अपने चित्त पर नियंत्रण करता है। इसका नाम यतमान वैराग्य है।

२–ऐसा प्रयत्न करने पर जव योगी यह देखता है कि मैंने अमुक-अमुक विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है और इन-इन विषयों को प्राप्त करना शेष है ऐसे वैराग्य को व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य कहते हैं।

३–कदाचित् अभ्यास वल से या अन्तरानुभूति के वल से जव-जव राग द्वेष आदि इन्द्रियों को वाह्य विषयों में प्रवृत्त करने में तो असमर्थ हो जाते हैं किन्तु मन में सूक्ष्म रूप से टिके रहते हैं। इस प्रकार की संज्ञा का जो योगी है किसी विषम अवसर पर दिव्य विषय ज्योंही उसे प्राप्त होते हैं तो उसका मन क्षुभित हो सकता है। ऐसे वैराग्य को एकन्द्रिय संज्ञा वैराग्य कहा गया है।

४–इससे भी उत्तम राग की सूक्ष्म रूप से निवृत्ति हो जाती है। और दिव्यादिव्य विषय उपस्थित होने पर भी वरावर उपेक्षा वनी रहती है यह वैराग्य की तीनों श्रेणियों से उत्कृष्ट है। पहली तीन अवस्थाओं का वैराग्य निरोध का कारण नहीं वनता। निरोध का कारण चतुर्थ भूमि वाला वशीकार संज्ञक वैराग्य है। इसलिए इस वैराग्य का निरोध के साधनों में वर्णन किया गया है। किन्तु यह अवस्था योगी को वैराग्य की पहली तीन भूमियों को लाँघ करके ही प्राप्त होती है। सहसा प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मनुष्य का अपर वैराग्य सिद्धि स्थिति में आता है त्यों-त्यों मनुष्य पर–वैराग्य की ओर अपना कदम वढ़ाता चला जाता है। पर–वैराग्य में ही मनुष्य की रस प्रवृत्ति पूर्णरूपेण हट पाती है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में कहा है–

विषपा विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रस वर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

अर्थात्–निराहार व्यक्ति जव अपके रसादि विषयों से दूर रहता है तो उसकी वासनायें मन से हट जाती हैं। किन्तु रस की भावना नष्ट नहीं होती। उसकी रस की भावना पर-दर्शन के वाद ही हट पाती है। जव मनुष्य को पर-दर्शन होता है तो उसकी चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। एक प्रकार से वह अपनी स्वरूप स्थिति को प्राप्त कर लेता है और अपने स्वरूप का द्रष्टा वन जाता है। निरोध स्थिति ही योगी की स्वरूप स्थिति है जिसके लिए योग दर्शन मुँह खोलकर कहता है–

"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥"

अर्थात्–तदा तस्मिन स्थितौ द्रष्टुः जीवात्मनः स्वरूपेऽवस्थानम् तदानीम् स्वरूप प्रतिष्ठा तावत कीदृशी यथा चित्तिशक्तिर्भवति कैवल्ये।

अर्थात्—जैसे चेतन शक्ति केवली भाव को प्राप्त होने पर हुआ करती है उस समय आत्मा बुद्धि बोध को छोड़ करके अपने स्वरूप में ठहर जाता है इसी को स्वरूप प्रतिष्ठा कहा गया है एवं इसी को श्री पतंजलि देव ने पर-वैराग्य के रुप में वर्णित किया है यथा :—

'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' ।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान व्यासदेव जी महाराज लिखते हैं—

दृष्टानुश्रविक विषय दोषदर्शी विरक्तः पुरुष दर्शनाभ्यासाच्चित्तशुद्धि प्रविवेकाप्यामित बुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्त धर्मकेभ्यो विरक्त इति तद्द्वयं वैराग्यं तत्र यदुत्तरं तद्ज्ञान प्रसादोमात्रं यस्योदये सत्तियोगी प्रत्युदित ख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापणीयं, क्षीणा क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदात् जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति । ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैरागयम् एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति ।।

बुद्धि बोध आत्मा पुरुष ज्यों-ज्यों प्रसंख्यान की ओर चलता है त्यों-त्यों उसका बुद्धि-विवेक और निर्मल होता चला जाता है । धीरे-धीरे पुरुष दर्शन के अभ्यास से अपने स्वरूप में अवस्थित होकर वह जिज्ञासु व्यक्ताव्यक्त कर्म वाले गुणों से भी विरक्त हो जाया करता है । इस प्रकार से वैराग्य दो प्रकार का माना गया है । अपर वैराग्य का वर्णन पहले कर दिया गया है, जिसमें मनुष्य दृष्टानुश्रविक विषयों में दोषी वन जाता है उस वैराग्य का नाम वशीकार संज्ञा है । किन्तु ज्यों-ज्यों साधक अपने अभ्यास को उत्तरोत्तर वढ़ाता चला जाता है और उसकी विवेक ख्याति प्लवन होकर निर्मल होती चली जाती है तो उसका मन व्यक्ताव्यक्त गुणों से विरक्त हो जाया करता है उसी वैराग्य को पर-वैराग्य कहा गया है । यह वैराग्य पुरुष ख्यातिमात्र है और सर्वोत्कृष्ट है । इस वैराग्य के पैदा हो जाने पर प्रत्युत्ख्याति योगी इस प्रकार मानता है—'प्राप्तं प्रापणीयम'—जो कुछ मुझे पाना था पा लिया—'क्षीणाः क्षीतव्याः क्लेशाः' नष्ट करने लायक क्लेश मैंने नष्ट कर दिये हैं— 'क्षितः क्लिष्ट भव संक्रमः'—श्रृङ्खला से जुड़ा हुआ संसार चक्र मैंने नष्ट कर दिया है जिसके कारण वार-वार जन्मना और मरना पड़ता था । इसी वैराग्य को मोक्ष का नान्तरायिता माना गया है ।

अर्थात्—यह वैराग्य मोक्ष ही है । इस स्थिति को प्राप्त हुआ योगी केवल मात्र बुद्धि बोध की अस्मि वृत्ति से ही अवशेष रहता है । ऐसे योगी की वृत्ति निर्माणोमुखी रहती है । इसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं ।

ऋतं सत्यं विभर्त्ति या सा ऋतम्भरा ।

यह वृत्ति सत्य को धारण करती है। योगी अपने पूर्ण तेज के साथ 'अस्मि, अस्मि, अहमेवा अस्मि'— यह सब कुछ मैं ही हूँ ऐसा अनुभव करता है। यहीं पर-वैराग्य का अन्तिम परिणाम है। योगाभ्यास करने वाले साधक को ज्यों-ज्यों अन्तर्मुखता प्राप्त होती है त्यों-त्यों वह वशीकार संज्ञा वैराग्य को प्राप्त होता चला जाता है। और ज्यों-ज्यों विवेक ख्याति की ओर आगे बढ़ता है त्यों-त्यों वह पर-वैराग्य को प्राप्त हो जाता है और संसार के जन्म मरण के चक्र से छूटकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसी का नाम कैवल्य है। पुरुष का बुद्धि-बोध को छोड़कर अपने स्वरूप में स्थित होना ही केवली भाव है। इसीलिए योग के जिज्ञासु साधक को चाहिए कि वह अष्टांग योग के नियमों का पालन करता हुआ अपने आपको पूर्ण विवेकवान् बना दे जिससे परम शान्ति लाभ हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

श्री 'सिद्धगुफा' योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई-आगरा द्वारा प्रकाशित

उपयोगी सत्साहित्य

(१) योगासन चित्रपट
(२) श्री योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की स्वहस्तलिखित जीवन कथाएं व सदुपदेश
(३) योगासन (सचित्र)
(४) श्री ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी
(५) योगिराज श्री मुलखराज जी
(६) आठ योगी
(७) समाधिस्था योगिनियाँ
(८) सवांई के चमत्कारिक चरित्र
(९) मन की एकाग्रता के साधन
(१०) भोग, रोग और योग
(११) जीवन-तत्त्व साधन
(१२) यम-नियम
(१३) योग क्या ?
(१४) योगेश्वर चरित्रमाला (भजन)
(१५) श्री महाप्रभु जी का गीत काव्य (कविता)
(१६) श्री सद्गुरु संकीर्तन भजनमाला
(१७) सुधा-संगीत
(१८) इन्दुशर्मा के आठ भजन
(१९) श्री सद्गुरु-स्तवन (गीतकाव्य)
(२०) योगामृत-भजनावली
(२१) जीवन तत्त्व साधन—व्याख्याकार श्री गिरीशदेव शर्मा
(२२) सर्व समर्थ गुरुदेव
(२३) गुरु-गीता
(२४) Practice for Developing THE LIFE FORCE (Jiwan-Tattwa-Shadhan)
(२५) सिद्ध-योग (मासिक) वार्षिक
(२६) योग सिद्धान्त (प्रथम खण्ड)
(२७) योग सिद्धान्त (द्वितीय खण्ड)

श्री सिद्ध गुफा (सवांई) का परिचय

श्री सिद्ध गुफा योगयोगेश्वर सद्‌गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज का सबसे पुराना आश्रम है। यह स्थान आगरा शहर से १५ मील दूर परगना एत्मादपुर से लगभग १ मील पश्चिम में सवांई ग्राम के निकट है। टूँडला रेलवे जंकशन से सवांई ग्राम ३ मील की दूरी पर है और एत्मादपुर होकर आना पड़ता है।

नेपाल हिमालय को जाने से पूर्व श्री महाप्रभु जी ने कुछ समय यहाँ निवास किया था और श्री सिद्ध गुफा का निर्माण कराया था। श्री सिद्ध गुफा उनकी ऐतिहासिक पुण्य स्मृति है। श्री सिद्ध गुफा के निवास काल में श्री महाप्रभु जी के अनेक अलौकिक चरित्रों को यहाँ के निवासियों ने देखा। उनकी अद्‌भुत चमत्कृतियों के देखने वाले बहुत से लोग अब भी काफी संख्या में जीवित हैं। इस गुफा की रज में श्री महाप्रभु जी का वरदान है कि जो लोग इसका श्रद्धापूर्वक सेवन करेंगे वे रोग-मुक्त हो जायेंगे और मानसिक शान्ति का लाभ करेंगे।

श्री महाप्रभु जी का यह स्थान सबसे पुराना सिद्ध स्थान है। यहाँ एक बहुत बड़ा आश्रम योग-प्रशिक्षण-केन्द्र के रूप में विद्यमान है। योगीराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के संरक्षण में योग प्रचार एवं प्रशिक्षण द्वारा लाखों प्राणियों का उद्धार इस योग प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा हो रहा है। यहाँ पर योगविद्या का उत्तम प्रशिक्षण होता है।

यहाँ पर चैत्र सुदी रामनवमी पर एक बहुत बड़ा मेला होता है जिसमें श्री सिद्ध गुफा के दर्शनार्थ दूर-दूर के प्रान्तों से हजारों नर-नारी अपनी मनोकामना सिद्ध करने आते हैं। योग अमृत की श्री गंगा इस स्थान से बह रही है जिससे देश-विदेश के योग जिज्ञासु प्राणी लाभ उठा रहे हैं। यहाँ पर योग साधनों द्वारा सब प्रकार के असाध्य रोगों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती है।

विशेष जानकारी के लिए श्री सिद्ध गुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र द्वारा प्रकाशित सवांई के चमत्कारिक चरित्र पुस्तक एवं अन्य साहित्य पढ़ें।